□ अपश्चिम तीर्थंकर महावीर
(भाग–प्रथम)

□ प्रथम संस्करण : मार्च 2005, 2100 प्रतियां

□ अर्थ सहयोगी :
श्री सुजानमलजी कर्नावट, बैंगलोर

□ मूल्य : 40/– (चालीस रूपये)

□ प्रकाशक :
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर (राज.)
दूरभाष : 0151–2544867, 2203150

□ टाईप सैटिंग : टेक्नोक्रैट कम्प्यूटर, उदयपुर

□ मुद्रक :
सांखला प्रिण्टर्स
चन्दन सागर कुएं के पास,
बीकानेर (राज.)
फोन : (0151) 2222281

समर्पण

श्रमण संस्कृति की प्रतिनिधि धारा साधुमार्ग में ज्योतिर्धर,
क्रांतदर्शी और शांतक्रान्ति के सूत्रधार आचार्यों की
ज्योतिरत्न मालिका में वर्तमान शासननायक,
जिनशासन प्रद्योतक, वीरवाल प्रतिबोधक,
मेरे परम आराध्य, अविचल आस्था के केन्द्र
"आचार्य प्रवर 1008 श्री रामलालजी महाराज सा."
को सादर समर्पित

-साध्वी विपुलाश्री

प्रकाशकीय

भारतीय संस्कृति की प्राणी करुणा से ओत–प्रोत जीवनधारा की अमल, अमर प्रवाह यात्रा का प्रतिनिधित्व करने वाली श्रमण संस्कृति में साधुमार्ग का विशिष्ट महत्व है। साधुमार्गी परम्परा ने गुण पूजा के पवित्र भावों से समाज को प्रभावित करते हुए उत्कृष्ट पथ का दिशा निर्देश किया है। जीवन व्यवहारों को आत्मसंयम से निर्देशित कर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति हेतु मानव मात्र को दिशा बोध प्रदान करने वाली श्रमण संस्कृति की प्रतिनिधि धारा साधुमार्ग में ज्योतिर्धर, क्रांतदर्शी, शांत–क्रान्ति और समताधारी के सूत्रधार, आचार्यों के ज्योतिरत्न मालिका में वर्तमान शासन नायक, जिनशासन प्रद्योतक, सिरीवाल प्रतिबोधक, **"आचार्य प्रवर 1008 श्री रामलालजी महाराज सा."** अद्भुत प्रतिभा और मेधा के धनी तथा आदर्श संगठन कौशल के साकार रूप है।

अपनी अनन्य शास्त्रीय निष्ठा और आगमिक ग्रंथों के तलस्पर्शी ज्ञान के साथ ही आचार्य श्री रामेश क्रिया के क्षेत्र में अपने स्वयं के आचरण और अपनी शिष्य मंडली के शुद्धाचार हेतु अहर्निश सजग रहते है। शास्त्र के दिशा निर्देश को अपनी जीवन साधना के बल पर अपने उज्ज्वल चारित्र और दृढ़ आचार के द्वारा परम पूज्य आचार्य प्रवर ने जन–जन के समक्ष प्रत्यक्ष किया है। आचार्य श्री रामेश ने अपनी विहार यात्रा में इस पवित्र भूमि के ग्राम–ग्राम, नगर–नगर, डगर–डगर पॉव पैदल चलते हुए इस देश के सभी धर्म, पंथ एवं जाति के निवासियों को अमृतमय उपदेशों से लाभान्वित किया है। जन–जन के साथ निरंतर संवाद करते हुए उनके सुख–दुख में उन्हें धैर्य बंधाते सहस्र–सहस्रजनों की अनन्त जिज्ञासाओं का अविचल प्रज्ञा से समाधान करते हुए आचार्य श्री रामेश अपनी मर्यादा के साथ विचरण कर रहे है।

कुछ वर्षों पूर्व भगवान महावीर के सिद्धांतों एवं जीवनशैली पर कुछ अनभिज्ञों द्वारा अन्यथा लेखन किया गया। साधुमार्गी संघ के सुश्रावक श्रीमान पीरदानजी पारख तथा श्री हरिसिंहजी रांका ने तद्विषयक जिज्ञासा प्रस्तुत की। इसकी शोध करते हुए विदुषी महासती

श्री विपुलाश्री जी म.सा. ने चूर्णि आदि प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन करते हुए भगवान के तपःपूत जीवन को अपनी लेखनी से उकेरना प्रारंभ किया जिसके फलस्वरूप यह प्रस्तुत कृति आपके हाथों में है।

साधुमार्गी जैन संघ का परम सौभाग्य है कि संघ को आगमिक गहन विद्वत्ता के धनी परम पूज्य आचार्य–प्रवर श्री रामलालजी म.सा. का कुशल नेतृत्व प्राप्त है। आचार्यश्री की सूक्ष्म शास्त्रीय विवेचनाओं ने साधु–साध्वी समाज में ज्ञान की अपार वृद्धि की है। उन्हीं में से एक विदुषी महासती श्री विपुलाश्री जी म.सा. का वैदुष्य एवं कौशल इस ग्रंथ के सहज सुगम्य है। विदुषी महासती श्री विपुलाश्री जी ने अपनी सांसारिक अवस्था में संस्कृत में एम.ए. प्रथम श्रेणी से उत्तीर्णता प्राप्त की थी। दीक्षा पश्चात् स्व. आचार्य श्री नानेश के चरणों में आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान तथा उद्‌बोधन प्राप्त किया था। इस हेतु हम श्रमणीरत्ना विपुलाश्री जी म.सा. के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते है।

प्रस्तुत ग्रंथ को प्रकाशित कराने में पूर्ण सावधानी बरती गयी है फिर भी कोई त्रुटि रह गई हो तो हम क्षमाप्रार्थी है।

शान्तिलाल सांड
संयोजक, साहित्य प्रकाशन समिति
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ,
बीकानेर (राज.)

अर्थ सहयोगी परिचय

नए शब्दों के साथ नूतन वाक्यों में शास्त्रोक्त निहित प्रेरक प्रसंगों के प्रस्तुतिकरण की एक अद्वितीय कृति है– **'अपश्चिम तीर्थंकर महावीर'** इस अनुपम कृति के अर्थ सहयोगी है– अनन्य निष्ठावान, गुरुभक्त, सेवारत, साधनाशील श्री सुजानमलजी कर्नावट एवं उनकी धर्मपत्नी अखण्ड सौभाग्यवती श्रीमती गुणमालाजी कर्नावट।

मध्यप्रदेश की औद्योगिक नगरी इन्दौर में जन्मे श्री सुजानमलजी कर्नावट आत्मज श्री प्यारचंदजी कर्नावट ने व्यावसायिक, धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक आदि क्षेत्रों में महनीय कर्मठ कार्यों से न केवल कुल परम्परा को यशस्वी बनाया है, वरन् अपने उज्वल कृतित्व से जिनशासन को भी गौरवान्वित किया है।

हुक्मगच्छ के परम प्रतापी जैनाचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा. से लेकर वर्तमान आचार्य प्रवर श्री रामलालजी म.सा. के शासन के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित कर्नावट परिवार धर्मसंघ की सभी प्रवृत्तियों में सक्रिय योगदान देने के लिए सदा ही अग्रसर रहा है।

उन्हीं श्रावकरत्न श्री सुजानमलजी कर्नावट के आदर्श पद चिन्हों का पदानुसरण करने वाले युवा हृदय श्री किशोरकुमारजी–श्रीमती नन्दाजी तथा दीपककुमारजी–श्रीमती रेखाजी पुत्र एवं पुत्रवधुएं भी उसी तरह से संघ, समाज, जिनशासन तथा गुरु भगवन्तों के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित हैं।

कर्नावट परिवार भाग्यशाली है कि उन्हें शास्त्रज्ञ तरूण तपस्वी, चारित्र चूडामणि, अखण्ड बाल ब्रह्मचारी परम पूज्य आचार्य श्री रामेश की आज्ञानुवर्ती परम विदुषी पंडित रत्ना, विद्वान महासती श्री विपुलाश्री जी म.सा. की विरचित अनूठी कृति 'अपश्चिम तीर्थंकर महावीर' के प्रकाशन का सौभाग्य मिला है।

मैं श्री कर्नावटजी को इस हेतु अपनी प्रणति समर्पित करते हुए शासनदेव से प्रार्थना करता हूं कि वे इसी तरह से आचार्य भगवन् के शासन के चहुंमुखी विकास में अपना समर्पण एवं योगदान देते हुए सदैव कालजयी बने रहे।

देवीलाल सुखलेचा

श्री विपुलाश्री जी म.सा. ने चूर्णि आदि प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन करते हुए भगवान के तपःपूत जीवन को अपनी लेखनी से उकेरना प्रारंभ किया जिसके फलस्वरूप यह प्रस्तुत कृति आपके हाथों में है।

साधुमार्गी जैन संघ का परम सौभाग्य है कि संघ को आगमिक गहन विद्वत्ता के धनी परम पूज्य आचार्य–प्रवर श्री रामलालजी म.सा. का कुशल नेतृत्व प्राप्त है। आचार्यश्री की सूक्ष्म शास्त्रीय विवेचनाओं ने साधु–साध्वी समाज में ज्ञान की अपार वृद्धि की है। उन्हीं में से एक विदुषी महासती श्री विपुलाश्री जी म.सा. का वैदुष्य एवं कौशल इस ग्रंथ के सहज सुगम्य है। विदुषी महासती श्री विपुलाश्री जी ने अपनी सांसारिक अवस्था में संस्कृत में एम.ए. प्रथम श्रेणी से उत्तीर्णता प्राप्त की थी। दीक्षा पश्चात् स्व. आचार्य श्री नानेश के चरणों में आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान तथा उद्‌बोधन प्राप्त किया था। इस हेतु हम श्रमणीरत्ना विपुलाश्री जी म.सा. के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते है।

प्रस्तुत ग्रंथ को प्रकाशित कराने में पूर्ण सावधानी वरती गयी है फिर भी कोई त्रुटि रह गई हो तो हम क्षमाप्रार्थी है।

शान्तिलाल सांड
संयोजक, साहित्य प्रकाशन समिति
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ,
बीकानेर (राज.)

अर्थ सहयोगी परिचय

नए शब्दों के साथ नूतन वाक्यों में शास्त्रोक्त निहित प्रेरक प्रसंगों के प्रस्तुतिकरण की एक अद्वितीय कृति है– **'अपश्चिम तीर्थंकर महावीर'** इस अनुपम कृति के अर्थ सहयोगी है– अनन्य निष्ठावान, गुरुभक्त, सेवारत, साधनाशील श्री सुजानमलजी कर्नावट एवं उनकी धर्मपत्नी अखण्ड सौभाग्यवती श्रीमती गुणमालाजी कर्नावट।

मध्यप्रदेश की औद्योगिक नगरी इन्दौर में जन्मे श्री सुजानमलजी कर्नावट आत्मज श्री प्यारचंदजी कर्नावट ने व्यावसायिक, धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक आदि क्षेत्रों में महनीय कर्मठ कार्यों से न केवल कुल परम्परा को यशस्वी बनाया है, वरन् अपने उज्वल कृतित्व से जिनशासन को भी गौरवान्वित किया है।

हुक्मगच्छ के परम प्रतापी जैनाचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा. से लेकर वर्तमान आचार्य प्रवर श्री रामलालजी म.सा. के शासन के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित कर्नावट परिवार धर्मसंघ की सभी प्रवृत्तियों में सक्रिय योगदान देने के लिए सदा ही अग्रसर रहा है।

उन्हीं श्रावकरत्न श्री सुजानमलजी कर्नावट के आदर्श पद चिन्हों का पदानुसरण करने वाले युवा हृदय श्री किशोरकुमारजी–श्रीमती नन्दाजी तथा दीपककुमारजी–श्रीमती रेखाजी पुत्र एवं पुत्रवधुएं भी उसी तरह से संघ, समाज, जिनशासन तथा गुरु भगवन्तों के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित हैं।

कर्नावट परिवार भाग्यशाली है कि उन्हें शास्त्रज्ञ तरूण तपस्वी, चारित्र चूड़ामणि, अखण्ड बाल ब्रह्मचारी परम पूज्य आचार्य श्री रामेश की आज्ञानुवर्ती परम विदुषी पंडित रत्ना, विद्वान महासती श्री विपुलाश्री जी म.सा. की विरचित अनूठी कृति 'अपश्चिम तीर्थंकर महावीर' के प्रकाशन का सौभाग्य मिला है।

मैं श्री कर्नावटजी को इस हेतु अपनी प्रणति समर्पित करते हुए शासनदेव से प्रार्थना करता हूं कि वे इसी तरह से आचार्य भगवन् के शासन के चहुंमुखी विकास में अपना समर्पण एवं योगदान देते हुए सदैव कालजयी बने रहे।

देवीलाल सुखलेचा

विषयानुक्रमणिका

पश्चात् आने वाले स्वप्नों का सम्पूर्ण घटनाक्रम एक–एक करके चित्रपट की भांति मानस में उभरने लगा।

चली गई अतीत में। चिन्तन की धारा बह चली।

कितनी सुखद थी वह यामिनी! कैसा नीरव, शांत वातावरण था क्षत्रियकुण्ड का! संध्या ढलते ही बड़ा सुखद अनुभव हो रहा था। मुझे, मानो आज कुछ धरोहर मिलेगी। मन प्रसन्नता की लहरों में अठखेलियां कर रहा था। मैं सिद्धार्थ से वार्तालाप करके अपने शयनकक्ष में चली गई। निद्रादेवी ने सहर्ष अपनी गोद में बिठा लिया। यामिनी, यौवन–काल, अर्धजाग्रत अवस्था[2] और देखा भव्य आलोक चतुर्दिशा में छाया है। मन गतिमान बना अग्रिम वार्ता जानने के लिए कि दिखने लगे क्रमशः चौदह स्वप्न[3]–

(1) एक श्वेत, यौवनप्राप्त हस्ती, जिसके गण्डस्थल से मद चू रहा है, गगन मण्डल से उतर कर आता है। पुष्ट स्कन्ध। उज्ज्वल चतुर्दन्त। विशाल भाल। विस्फारित नेत्र। भव्याकृति। मुझे पुलकित करता हुआ प्रवेश करता है[4]।

(2) वृषभ– धवल वर्ण, उन्नत ककुद, विशाल नेत्र, दीर्घ पूंछ वाला वृषभ आकाश से उतर कर वदन में प्रविष्ट होता है।

(3) सिंह– उज्ज्वल रजत वर्ण, केसर सटा से उपशोभित चमकदार नेत्र, रक्त तालु, लपलपाती जिह्वा, तेजपुंज युक्त सिंह मुख–मण्डल में समाहित होता है।

(4) लक्ष्मी– कमल यान में सुशोभित, रक्त वस्त्र, परिहासयुक्त वदन, मन्द–मन्द मुस्कान समन्वित अधर वाली लक्ष्मी मुख–मण्डल में प्रवेश करती है।

(5) पुष्पमाला– देदीप्यमान पंचवर्ण वाले कुसुमित कुसुमों की माला–युगल, जो यौवनप्राप्त पराग का दान कर रही थी, अपनी भीनी–भीनी महक से सम्पूर्ण वातावरण को सुरभित कर रही थी, मधुर सुगन्ध से अलिपुंज को समाकृष्ट कर रही थी। ऐसी माला–युगल मुख–मण्डल में प्रविष्ट होती है।

(6) चन्द्र– यामापति पूर्ण प्रकाश की ज्योति से प्रकाशित, शीतल, सौम्य चन्द्रिका से आप्लावित, भू–मण्डल पर उज्ज्वल–श्वेत

मरीचियों को विकीर्ण करता हुआ आनन में प्रविष्ट होता है[5]।

(7) सूर्य– चमचमाती किरणों के समूह वाला[6], प्रगाढ़ तमस् को दूर करने वाला, अत्यन्त तेजोमय रक्ताभास से रंजित दिनकर दूर क्षितिज से आकर अन्तर में समाहित हो जाता है।

(8) ध्वजा– दिग्–दिगन्त में फहराती हुई, उत्तम कौशेय वाली, स्वर्ण–यष्टि पर अवलम्बित श्वेत सिंह के लांछन से युक्त पताका प्रवेश करती है।

(9) कुम्भ–कलश– रत्नजड़ित कुम्भ–कलश, सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाला, व्योम से आगत प्रवेश करता है।

(10) पद्मसरोवर– विकसित कमल–समूह से परिपूर्ण, सुगन्धित–शीतल नीर वाला, अनूठी आभायुक्त सरोवर मानो हृदय में चित्रपट की भांति उतर रहा है।

(11) क्षीरसमुद्र– दुग्ध सदृश धवल जल से आप्लावित, चपल वीचियों से अनुप्राणित, चित्ताकर्षक क्षीरसमुद्र उरस् में प्रविष्ट हो प्रवाहित होने लगा।

(12) विमान– रत्न संचय से जगमगाहट करता हुआ, दुंदुभियों की निर्घोष ध्वनि से युक्त दिव्य देव–विमान प्रविष्ट हुआ।

(13) रत्न–राशि– निर्मल, उज्ज्वल रत्नों का ढेर गगन से आकर मेरे मुख में प्रविष्ट हुआ।

(14) अग्नि– निर्धूम, तेजस्विल, प्रज्वलित अग्नि की शिखा प्रविष्ट हुई[7]।

कितने मनमोहक थे वे स्वप्न–समूह, जिन्हें स्मरण कर मन आह्लाद से संभृत हो रहा है।

स्वप्न–दर्शन के पश्चात् अर्धमीलित नयनों से देखा, वातावरण बड़ा सौम्य लग रहा था। मन आनन्द–पारावार में निमग्न बन रहा था। ऐसे शुभ स्वप्न आज के पहले कभी नहीं देखे। क्या श्रेष्ठतम उपलब्धि होगी? क्या सम्प्राप्ति होगी? जाऊं महाराज के पास .... वे तो .... समाधान करेंगे ही ....।

चिन्तन की चांदनी में मधुर स्मरण करती हुई शय्या से उठी। पादपीठ पर आरूढ हुई। नीचे उतरी। मन्द–मन्द आह्लादयुक्त मदमाती चाल से चलकर राजा के शयनकक्ष में गयी। महाराज! वे तो निद्राधीन

थे। कुछ देर खड़ी रही। मन से आवाज लगाती रही, लेकिन वे उठे नहीं। फिर अधर सम्पुट को खोलकर प्रिय, मनोज्ञ, अन्तर आह्लादकारी वाणी से महाराज को सम्बोधित किया– राजन्! राजन्! राजन्!

"कौन? इस अर्धरात्रि में!" सिद्धार्थ ने चौंककर पूछा।

"मैं हूं स्वामिन्!" मैंने कहा।

"त्रिशला! इस समय! क्या बात है?"

"नाथ! कुछ निवेदन करना है।"

"आओ, भद्रासन पर बैठो।"

भद्रासन पर बैठकर विस्मित हास्य से– "राजन्! कुछ कहना है।" मैंने कहा

"बोलो कैसे आना हुआ?" सिद्धार्थ ने पूछा।

"आज अर्धरात्रि में मैंने चतुर्दश स्वप्न देखे।"

"स्वप्न! चतुर्दश स्वप्न! अच्छा! क्या देखे?"

"राजन्, बड़े कल्याणकारी, श्रेष्ठ, मंगलरूप स्वप्न देखे।"

"तुम बड़ी भाग्यशाली हो। बताओ स्वप्नों को।"

तब मैंने वे स्वप्न बतलाए। सुनकर नृपति बड़े ही प्रमुदित हुए। उनके मुख की स्मित–मुस्कान दर्शनीय थी। सुकोमल शब्दों से मुझे सम्बोधित करते हुए आह्लाद भाव पैदा करते हुए बोले– "देवानुप्रिय! तुमने जो कल्याणकारी, शिवकारी, विशिष्ट स्वप्नों को देखा है, ये स्वप्न भावी की श्रेष्ठ स्थिति के द्योतक हैं। स्वप्नानुसार तुम नौ माह, साढे सात रात्रि पूर्ण होने पर सुन्दर, सुकुमार, परिपूर्ण अंगोंपांग वाले[8], मानोन्मान प्रमाण वाले[9] कोमलांग बालक का प्रसव करोगी। जन्मदात्री जननी बनोगी।

"त्रिशले! इन स्वप्नों का परिपूर्ण अर्थ जानने के लिए प्रातःकाल स्वप्न–पाठकों को बुलाएंगे। तब हमें ज्ञात होगा कि वास्तव में ये स्वप्न क्या इंगित करते हैं? अभी तो जाओ अपने शयन कक्ष में और धर्म–जागरण करती हुई यामिनी को विदाई देना[10]।"

तथास्तु कहकर विनयावनत अभिवादन कर भद्रासन से उठी और मन्द–मन्द चाल से चलकर वासगृह में गयी। धर्म–जागरणा चल रही थी। पता नहीं कब यामिनी चली गयी, कुछ ज्ञात नहीं हुआ। ऊषा

की लालिमा ने मन को मधुर चषकों से भर दिया। भोर के उजाले में उज्ज्वल भावनाओं को संजोये मैं नित्य कर्म से निवृत्त होने लगी।

अहा! वह कैसी सुखद यामा थी, जिसमें स्वयं राजा सिद्धार्थ का भी मन अतीत की बाहों में झूलने लगा। कितना पुण्यशाली पिता हूं। शय्या पर बैठे महाराजा का चिन्तन चल रहा था। मेरी धर्मप्रिया महारानी त्रिशला ने अपने मातृत्वभाव का अमृत पिलाकर पहली दो सन्तानों को सुन्दर संस्कारित किया है। प्रथम नन्दिवर्धन[11], जिसने घर में आकर अनुपम आनन्द की अभिवृद्धि कर दी। त्रिशला को नारीत्व से मातृत्व की सुखद यात्रा करवायी। द्वितीय सुदर्शना[12], जिसका पावन मुख–मण्डल देखने मात्र से मन आह्लाद से अनुप्राणित हो जाता है और अब तृतीय सन्तान के आगमन का इन्तजार है। वह शिशु निश्चय ही पुण्यप्रतापी होगा जिसके जन्म के पूर्व ही चतुर्दश स्वप्न महारानी ने देख लिये हैं। प्रातःकाल होने पर उसका उज्ज्वल भविष्य ज्ञात करने हेतु स्वप्न–पाठकों को बुलाना है।

उसका भविष्य .... वह तो उज्ज्वलतम ही होगा .... ऐसे दिव्य स्वप्नों से गर्भ में आने वाला वह बालक वंश के गौरव में चार चांद लगाने वाला होगा। गूंज उठेगा घर–आंगन उसकी सुन्दर किलकारियों से। स्वागत है उस अतिथि का हृदय से। मन में परिपूर्ण प्रसन्नता की अभिवृद्धि हो रही है। राजा सिद्धार्थ ऐसे अपनी भावी सन्तान के लिए पलक–पांवड़े बिछाये बैठे थे। वात्सल्य का बंधन निविडतम है, जिसका सहज वियोग कठिनप्रायः है। हृदय की तरंगों से उठने वाली वात्सल्य–लहर चप्पे–चप्पे को तरंगायित करती है। रोम–रोम से छलकता वात्सल्य संयोग से सम्बद्ध रहता है। कहा भी है– नेह पासा भंयकर। मोहपाश जटिलतम है।

खुशी की रात्रि चंचल चपला की भांति शीघ्र समाप्त हुई। बालसूर्य हर्षातिरेक की लालिमा से गगन में उदीयमान हुआ। ऊषा ने अभिनव तिलक किया। पक्षियों ने मधुर ध्वनियों से वातावरण को प्रमुदित किया। महाराजा नित्यकर्म से निवृत्त हुए। दरबार में गये। अपने उत्तम सिंहासन पर प्राची दिशा में मुख करके समारूढ़ हुए। अपने कौटु म्बिक पुरुषों को बुलाया और कहा– 'ईशानकोण में [illegible]

पुष्ट स्कन्ध, उज्ज्वल चतुर्दन्त, मदमस्त चाल से चलते हुए, कपोलों से मद चूते हुए श्वेत हस्ती को आकाश से उतर कर मुख में प्रविष्ट होता देखा यावत् चतुर्दश स्वप्न में धूमरहित उज्ज्वल अग्निशिखा देखी। स्वप्न देखकर मन आह्लाद से परिपूरित हुआ। आप बतलाइये कि इन चतुर्दश स्वप्नों का क्या फल–विशेष प्राप्त होगा? ये स्वप्न क्या इंगित करते हैं? निमित्त, ज्योतिषादि अष्टांग शास्त्र–समन्वित समाधान कीजिए[13]।

वे स्वप्नपाठक स्वप्न श्रवण कर चिन्तन, मनन एवं परस्पर विचार–विमर्श करते हैं। करने के पश्चात् निवेदन करते हैं– "देवी! स्वप्नशास्त्र में बहत्तर स्वप्न बतलाये हैं। उनमें 42 (बयालीस) सामान्य स्वप्न एवं 30 (तीस) महास्वप्न बतलाये हैं। इन तीस महास्वप्नों में से तीर्थंकर या चक्रवर्ती की माताएं तीर्थंकर या चक्रवर्ती के गर्भ में आने पर 14 (चौदह) महास्वप्न देखती हैं। वासुदेव की माताएं वासुदेव के गर्भ में आने पर चौदह में से सात महास्वप्न देखकर जाग्रत होती हैं। बलदेव की माताएं बलदेव के गर्भ में आने पर कोई चार महास्वप्नों को देखकर जाग्रत होती हैं। माण्डलिक राजा की माता चौदह महास्वप्नों में से एक स्वप्न देखकर जाग्रत होती है[14]।

"देवि! आपने जो चौदह स्वप्न देखे हैं वे प्रधान, उत्तम, श्रेष्ठ, मंगलकारी हैं। ये स्वप्न अर्थलाभकारी, भोगलाभकारी, पुत्रलाभकारी, सुखलाभकारी, राज्यलाभकारी हैं।

"आप नौ मास साढ़े सात रात्रि पूर्ण होने पर सर्वांग सुन्दर, सुकुमार, पुण्यवन्त बालक का प्रसव करोगी जो महापुण्यप्रतापी होगा और भविष्य में चक्रवर्ती सम्राट अथवा तीर्थंकर बनेगा। आप इस पुण्यशाली सन्तान की जन्मदात्री मां का गौरव प्राप्त करोगी।"[15] यह स्वप्नों का वर्णन सुन मातृ–हृदय का अपूर्व वात्सल्य प्रवाहित होने लगा। मेरा लाल कितना पुण्यशाली होगा। मैं भी ऐसे पुत्र की जन्मदात्री जननी बनकर अपना कर्तव्य परिपूर्ण करूंगी। वह दिन धन्य होगा जब ऐसे भाग्यशाली सुत का मुखदर्शन करूंगी। ऐसी वात्सल्यमयी सरिता में निमग्न मैं अपने कक्ष की ओर चली गयी।

सिद्धार्थ नृपति स्वप्नपाठकों के अर्थ को सुनकर आनन्दविभोर हो उन्हें विपुल प्रीतिदान देकर विदा करते हैं। कितना आकर्षक था,

स्वप्न–वर्णन! वात्सल्य से आप्लावित हो, महारानी त्रिशला शय्या पर बैठी चिन्तन कर रही थी। चिन्तन करते–करते न जाने कब निद्रा आ गई।

वस्तुतः स्वप्न शब्द अपने–आप में बड़ा महत्त्वपूर्ण है। स्वप्न के सम्बन्ध में अनेक जिज्ञासाएं प्रादुर्भूत होती रहती हैं। गणधर गौतम के मन में भी स्वप्न के सम्बन्ध में जिज्ञासा हुई। उन्होंने भगवान महावीर से पूछा– भंते! स्वप्न कितने प्रकार के होते हैं? भगवान् ने फरमाया, गौतम! स्वप्न पांच प्रकार के बतलाये हैं। यथा–

(1) यथातथ्य स्वप्न (2) प्रतान स्वप्न
(3) चिन्ता स्वप्न (4) तद्विपरीत स्वप्न
(5) अव्यक्त स्वप्न

(1) यथातथ्य स्वप्न :– स्वप्न में जिसको देखा उसी रूप में शुभाशुभ फल की प्राप्ति होना यथातथ्य स्वप्न है।
(2) प्रतान स्वप्न :– विस्तार वाला स्वप्न देखना। यह सत्य–असत्य दोनों हो सकता है।
(3) चिन्ता स्वप्न :– जाग्रत अवस्था में जिसका चिन्तन किया, उसे स्वप्न में देखना।
(4) तद्विपरीत स्वप्न :– स्वप्न में जो देखा उसके विपरीत फल की प्राप्ति होना। जैसे स्वप्न में किसी ने अपना शरीर अशुचि से लिपटा देखा। जाग्रत होने पर वह अपना शरीर चन्दन से लिप्त करे।
(5) अव्यक्त स्वप्न :– स्वप्न में देखी हुई वस्तु का अस्पष्ट ज्ञान होना।

इन पांच स्वप्नों में से संवृत अणगार (सर्वविरति साधु) यथातथ्य स्वप्न देखता है। शेष सम्यक्दृष्टि श्रावकादि सभी सत्य, असत्य दोनों प्रकार के स्वप्न देखते हैं। भगवान् से उत्तर श्रवण कर गौतम स्वामी चले जाते हैं। इसके अतिरिक्त ये स्वप्न क्यों आते हैं?[16] इस संदर्भ में स्वप्न आने के नौ निमित्त साहित्य में मिलते हैं। यथा –

(1) जिन वस्तुओं की अनुभूति की हो।
(2) जिसके बारे में पूर्व में श्रवण किया हो।

फल शुभ मिलता है। यदि पहले शुभ स्वप्न देखा, पश्चात् अशुभ देखा तो फल अशुभ मिलता है[17]।

इस प्रकार स्वप्नशास्त्र में विविध बातों का उल्लेखं है जो भविष्य का सूचन करती हैं। महारानी त्रिशला ने जो चौदह स्वप्न देखे, वे तीर्थंकर भगवान् के भावी जीवन का सूचन करते हैं। उन चौदह स्वप्नों के फल जानने की जिज्ञासा से गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा– भंते! तीर्थंकर भगवान् की माता जो चौदह स्वप्न देखती है, उनका क्या फल होगा? भगवान् ने फरमाया– गौतम! –

(1) प्रथम स्वप्न में तीर्थंकर भगवान् की माता हस्ती को मुख में प्रवेश करती हुई देखती है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे हस्ती युद्ध में सेना को पराजित कर देता है वैसे ही कर्म–युद्ध में तीर्थंकर भगवान् कर्मशत्रुओं को पराजित करेंगे।

(2) वृषभ जैसे भार ढोने में समर्थ होता है, वैसे ही भगवान् संयम के भार को वहन करने में सक्षम होंगे।

(3) सिंह के पराक्रम को देखकर अन्य प्राणी भयभीत होकर उसके समीप नहीं आते, वैसे ही तीर्थंकर भगवान् के अतिशय को देखकर पाखण्डी दूर से भाग जायेंगे।

(4) लक्ष्मी के आगमन का तात्पर्य केवलज्ञानरूप लक्ष्मी को वरण करेंगे।

(5) जैसे पुष्पमाला दसों दिशाओं को अपनी सुगन्ध से व्याप्त करती है, वैसे ही तीर्थंकर भगवान् की यश–कीर्ति दिग्–दिगन्त में व्याप्त होगी।

(6) चन्द्र की शीतल चाँदनी आनन्द प्रदायक है, वैसे ही तीर्थंकर भगवान् अन्य जीवों के आनन्द प्रदायक होंगे।

(7) जैसे तेजस्वी सूर्य आलोक से युक्त है, वैसे ही तीर्थंकर देव तपस्तेज आलोक से युक्त होंगे।

(8) महेन्द्र ध्वजा को देखने से भगवान् के ऊपर तीन छत्र होंगे।

(9) परिपूर्ण कुम्भ कलश को देखने से भगवान् गुणों से परिपूर्ण होंगे।

(10) पक्षीसमूह–सेवित पद्मसरोवर देखने से तीर्थंकर भगवान् चारों

प्रकार के देवताओं से सेवित होंगे।

(11) गम्भीर क्षीरसमुद्र के समान तीर्थंकर देव गंभीर होंगे।

(12) भवन या विमान को प्रदक्षिणा करते हुए देखने से तीर्थंकर भगवान् देव–देवियों द्वारा पूजनीय होंगे।

(13) रत्नराशि देखने से रत्नमय होंगे।

(14) तेजयुक्त अग्निशिखा देखने से तीर्थंकर भगवान् तप–तेजयुक्त होंगे[18]।

यहां यह भी उल्लेख मिलता है कि जो तीर्थंकर चक्रवर्ती नरक से आते हैं, उनकी माता विमान के स्थान पर भवन देखती है। जो तीर्थंकर चक्रवर्ती देवलोक से आते हैं, उनकी माता विमान देखती है[19]। वर्तमान में 23 (तेईस) तीर्थंकरों की माताओं को इसी क्रम से स्वप्न आये लेकिन भगवान् ऋषभदेव की माता मरुदेवी को प्रथम वृषभ का, दूसरा हस्ती का स्वप्न आया[20]। इन चौदह स्वप्नों का अर्थ अन्य प्रकार से भी कल्पसूत्र में उपलब्ध होता है[21]। अन्य स्वप्नों का वर्णन भी भगवती सूत्र, शतक 16 (सोलह), उद्देशक 7 (सात) में मिलता है।

संदर्भ: स्वप्नलोक अध्याय 1

1. औपपातिक सूत्र; अभयदेव सूरि विरचित वृत्ति, द्रोणाचार्य शोधित वृत्ति; प्रका. आगमोदय समिति; सन् 1916; सूत्र 10; पृ. 15–17; प्रथम संस्करण।
2. कल्पसूत्र; आचार्य विनयविजयजी कृत सुबोधिका वृत्ति; प्रका. देवचन्द लालभाई जैन; पुस्तकोद्धार समिति – सन् 1923; पृ. 36; सूत्र 31
3. (क) भगवती सूत्र; वृत्तिकार अभयदेव सूरि; प्रका. आगमोदय समिति; सन् 1923; शतक 16/6; पृ. 709
   (ख) कल्पसूत्र; आचार्य विनयविजयजी कृत सुबोधिका वृत्ति; वही; पृ. 36
4. कल्पसूत्र; वही; पृ. 38
5. (क) कल्पसूत्र; वही; पृ. 38–47
   (ख) कल्पसूत्र; भद्रवाहु रचित समयसुन्दरगणि विरचित कल्पलता व्याख्या; प्रकाशक जिनदत्त सूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत, सन् 1939; पृ. 95–62

6. लोक में सूर्य की सहस्रकिरणें प्रसिद्ध हैं, इसलिए उसे सहस्रकिरण कहा गया है। ऋतुभेद से उसकी अधिक किरणें भी होती हैं जैसा कि कहा है चैत्र में 1200 किरणें, वैशाख में 1300, ज्येष्ठ में 1400, आषाढ़ में 1500, श्रावण में 1400, भाद्रपद में 1400, अश्विन में 1600, कार्तिक में 1100, मिगसर में 1050, पौष में 1000, माघ में 1100, फाल्गुन में 1050 किरणें होती हैं।
7. (क) कल्पसूत्र; वही; पृ. 38–52
   (ख) कल्पसूत्र; कल्पलत्ता व्याख्या; वही; पृ. 53–70
8. आवश्यक सूत्र; मलयगिरि वृत्ति; पूर्वभाग; प्रका. आगमोदय समिति; सन् 1928; पृ. 254
9. (क) कल्पसूत्र; सुबोधिका वृत्ति; वही; पृ. 14
   (ख) कल्पसूत्र; पृथ्वीचन्द टिप्पण; सूत्र 53; पृ. 55
10. वही; पृ. 55
11. आचारांग सूत्र; आचार्य शीलांक वृत्ति; द्वितीयश्रुत स्कन्ध; प्रका. आगमोदय समिति; सन् 1916; अध्ययन 15
12. आचारांग; वही; अध्ययन 15
13. कल्पसूत्र; सुबोधिका वृत्ति; वही; पृ. 55–64
14. भगवती सूत्र; वही; पृ. 709
15. कल्पसूत्र; सुबोधिका; वही; पृ. 64–67
16. भगवती सूत्र; वही; शतक 16/6; पृ. 709
17. कल्पसूत्र; सुबोधिका वृत्ति; वही; पृ. 65
18. भगवती सूत्र थोकड़ा; भाग 5–6; प्रका. अगरचन्द भैरूंदान सेठिया, बीकानेर; वि. संवत 2040; थोकड़ा न. 126; शतक 16/6; पृ. 79–81
19. (क) आवश्यक सूत्र; मलयगिरि वृत्ति; वही; पृ. 253; भाष्य गाथा 46
   (ख) भगवती; अभयदेव वृत्ति; वही; शतक 11; उद्देश्क 11
20. आवश्यक सूत्र; उत्तरार्ध; भद्रबाहु स्वामि प्रणीत निर्युक्ति भाष्य एवं हरिभद्रसूरि कृत वृत्ति युक्त; प्रका. आगमोदय समिति; सन् 1917; पृ. 502
21. कल्पसूत्र; सुबोधिका; वही; पृ. 68

क्षत्रियकुण्ड – द्वितीय अध्याय

क्षत्रियकुण्ड के चौराहों, त्रिराहों, राजमार्गों– सभी पर चर्चा हो रही है, परस्पर एक–दूसरे से वार्तालाप कर रहे हैं, "हमारी महारानी त्रिशला ने बड़े श्रेष्ठ स्वप्न देखे हैं। अब जन्म लेने वाला राजकुमार बड़ा ही शूरवीर होगा। हमारा क्षत्रियकुण्ड धन्य बन जायेगा। वह दिन धन्य होगा जब हम उस राजकुमार के दर्शन कर पायेंगे।" सभी भगवान् महावीर के जन्म का निरन्तर इन्तजार कर रहे हैं। धन्य है क्षत्रियकुण्ड की वह पावन भूमि, जहां भगवान् महावीर अवतरित हुए[1], उसका इतिहास समुज्ज्वल पृष्ठों में लिखा गया। क्षेत्र की दृष्टि से क्षत्रियकुण्ड विदेह जनपद के वैशाली का एक हिस्सा था[2]। वस्तुतः वैशाली का कुण्डपुर दो भागों में विभक्त था, क्षत्रियकुण्ड और ब्राह्मणकुण्ड[3]। क्षत्रियकुण्ड में ज्ञातवंशीय क्षत्रियों का निवास था[4]। यह ब्राह्मणकुण्ड के उत्तर में स्थित था। इतिहास में ऐसा उल्लेख मिलता है कि गण्डक नदी के पश्चिमी तट पर ये दोनों कुण्डपुर स्थित थे जो कि एक–दूसरे से पूर्व–पश्चिम में पड़ते थे। यही क्षत्रियकुण्ड ग्राम अपनी विशिष्ट विशेषताओं से अलंकृत भव्य भूमि का रूप धारण कर रहा था। यह विशाल परकोटे से युक्त, अनेक प्रकार की खाइयों, वापिकाओं एवं वाटिकाओं से समन्वित था। नगर के कोट के प्रान्त भाग में रत्न मणियां लगी थीं जिनकी प्रभा संध्या राग की शोभा प्रकीर्ण कर रही थीं। इन्द्रनीलमणिजटित भूमि भ्रमर–भ्रांति को पैदा कर रही थी। विशाल भवन एवं उन्नत गोपुर दर्शनीय, अभिरूप, प्रतिरूप थे। भवनों के अग्रभाग में जटित चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त मणियां अनूठी आभा प्रसृत कर रही थीं। उन्नत धवल प्रासाद और उन पर मोती, हीरक, वैडूर्य मणियां, मरकत मणियां सहसा पथिकों का मन आकृष्ट कर लेती थीं। उन्नत परकोटों से वेष्टित इस नगर पर शत्रु आक्रमण करने में असमर्थ थे। यह नगर धन–धान्य से परिपूर्ण था। यहां के नगर का आयाम मीलों लम्बा था। पंक्तिबद्ध भवन, जलज सम्भृत सरोवर, कमलिनीयुक्त पुष्करणियां जनसमूह के आकर्षण का केन्द्र थीं।

यह कुण्डपुर आज बासुकुण्ड या वसाढ़[5] के नाम से जाना जाता है। इसके अधिपति राजा सिद्धार्थ राजा सर्वार्थ और महारानी श्रीमति के पुत्र थे। उनका प्रजावत्सल व्यवहार मनमोहक था। न्याय–नीति से सम्पन्न वे प्रजा का पालन करते थे। उनकी महारानी त्रिशला वैशाली के अधिनायक महाराजा चेटक की बहिन थीं[6]। राजा चेटक का अधीनस्थ वैशाली गणतंत्र सर्वाधिक शक्तिशाली माना जाता था।

राजनीतिक दृष्टि से यह समय उथल–पुथल का रहा है। इस समय कहीं राजतन्त्रात्मक और कहीं गणतन्त्रात्मक शासन प्रणाली थी। राजतंत्र में सत्ता राजा के हाथ में और गणतंत्र में शासन की बागडोर जनता के हाथ में रहती थी। राजतंत्र में वंशानुगत राजा बनते थे। उनमें उस समय अवन्ति, वत्स, कौशल और मगध प्रधान थे। गणराज्यों में वज्जी, मल्ल, शूरसेन आदि प्रधान थे। राजतन्त्र में भी सर्वत्र व्यवस्थाएं एक समान नहीं थीं। मगध में राजा ही सर्वप्रमुख माना जाता था जबकि सिन्धु में राज्य सम्बन्धी समस्त कार्य वृद्धजन–परिषद करती थी और राजा केवल युद्ध का नेतृत्व करता था। स्थान–स्थान पर क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे थे।

इस समय विदेह जनपद में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। वहां की प्रजा ने कामी राजा करालजनक को समाप्त कर जनकों की राजसत्ता का उच्छेद कर दिया और संघ राज्य की स्थापना की। उसी समय विदेह के समीप वैशाली राज्य में लिच्छवियों का संघ राज्य–विस्तार को प्राप्त कर रहा था। अतः विदेह भी उसमें सम्मिलित हो गया। परिणामस्वरूप वहां वज्जिगण की स्थापना हो गयी। इधर काशी में भी नागवंशी क्षत्रियों का राज्य स्थापित हुआ, इन्हीं के वंश में भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म हुआ। इस प्रकार ईसा पूर्व छठी शताब्दी के आस–पास महाभारतकालीन वैदिक राज्यसत्ताओं का अन्त हो गया और नागादि, विद्याधर, लिच्छवी, मल्ल, मौर्य आदि व्रात्य क्षत्रियों ने राज्यसत्ताएं स्थापित कीं। अंग और मगध तथा काशी और कौशल आपस में संघर्षरत थे। ई. पू. छठी शताब्दी में उत्तर भारत के राज्यों पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए संघर्ष चल रहा था। उसमें मुख्य रूप से कौशल, वत्स, अवन्ति और मगध के शासक प्रमुख रूप से भाग ले

रहे थे। श्रेणिक, प्रसेनजित, चण्डप्रद्योत और वत्सराज उदयन उस समय के शक्तिशाली शासक थे और ये राज्य–विस्तार में संलग्न थे। इस प्रकार राजतंत्र अपने विकास की ओर अग्रसर था।

इधर वज्जि आठ राज्यों का संघ था जिसमें लिच्छवी, विदेह और ज्ञातृक प्रमुख थे। यह उत्तर बिहार में था। यहां गणतांत्रिक शासन प्रणाली थी। वैशाली इसकी राजधानी था। वज्जि शासन में प्रत्येक ग्राम का प्रमुख राजा होता था। राज्य के सामूहिक कार्यों का विचार एक परिषद् द्वारा होता था जिसके वे सभी सदस्य होते थे।

वैशाली में लिच्छवी गणराज्य स्थापित था जिसके सदस्यों की संख्या सात हजार सात सौ सात थी। इनकी प्रतिनिधि सभा को संथागार कहते थे। यही राज्य की व्यवस्थापिका सभा हुआ करती थी। संघ की शासन सम्बन्धी व्यवस्थाएं इस प्रकार थीं :–

वज्जिसंघ की अनेक सभाएं थी, जिनके अधिवेशन प्रायः हुआ करते थे।

वज्जिसंघ के लोग आपस में राज्यकार्य संभालते थे। वे एक होकर बैठक करते और संघ की उन्नति के लिए प्रयास करते।

ये संघ के परम्परागत नियमों और व्यवहारों के पालन में सावधान रहते थे और संघ द्वारा प्रतिपादित एवं बनाई गई व्यवस्थाओं का अनुसरण करते थे।

इनका शासन वृद्धों के हाथ में था, जिनका ये लोग आदर करते थे। उनकी बातों को ध्यानपूर्वक श्रवण कर समझने का प्रयास करते थे।

इस प्रकार वज्जिसंघ सर्वाधिक शक्तिशाली संघ था। इसमें विदेह, ज्ञातृक, वज्जि, उग्र, भोग, कौरव और इक्ष्वाकु ये आठ कुल सम्मिलित थे। वज्जि कुल के आधार पर वज्जिसंघ का नाम पड़ा। वज्जिसंघ के सदस्य राजा–गणपति कहलाते थे। इसमें सात हजार सात सौ सात राजा थे। इतने ही अध्यक्ष, सेनापति और इतने ही भाण्डागारिक थे। मुख्य कार्य अष्टकुलों और नौ लिच्छवि गणराज्यों द्वारा सम्पन्न होता था। नौ लिच्छवि और मल्ली, इस प्रकार अठारह काशी–कौशल गणराजाओं ने मिलकर एक संघ बनाया।

वज्जिसंघ अपनी न्याय–प्रणाली के लिए प्रसिद्ध था। वज्जि के शासक 'यह चोर है, अपराधी है' ऐसा किसी को नहीं कहते थे लेकिन उस व्यक्ति को महामात्य को सौंप देते। महामात्य उसकी स्थिति जानकर अपराधी नहीं होता तो उसे छोड़ देते थे और अपराधी होने पर न्यायाध्यक्ष को सौंप देते थे। वह भी अपराधी होने पर सूत्राधार को दे देता। सूत्राधार यदि उसे निरपराधी पाता तो छोड़ देता, अपराधी होने पर अष्टकुलिक को सौंप देता। अष्टकुलिक सेनापति को, सेनापति उपराज को, उपराज राजा को दे देता था। राजा भी उसे निरपराधी जानता तो छोड़ देता और अपराधी होने पर 'प्रवेणिपुस्तक' अर्थात् दण्ड विधान के अनुसार दण्ड व्यवस्था करता। इस प्रकार वैशाली गणतंत्र राज्य की व्यवस्था बड़ी सुदृढ़ थी।

कुशीनारा और पावा में मल्लों का गणतंत्र राज्य था। इनमें आठ व्यक्ति प्रमुख थे। शासन का सम्पूर्ण कार्य संथागार के निर्णय के आधार पर होता था। इस प्रकार भगवान् महावीर के समय गणतंत्र और राजतंत्र दोनों पद्धतियां विकसित थीं। इनमें परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, दलबन्दी, संघर्ष आदि होते रहते थे।[7]

इतिहास के अवलोकन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन आर्थिक स्थिति भी बड़ी सुदृढ़ थी। आज की तरह उस समय आर्थिक संकट व्याप्त नहीं था। लोग पशुपालन, खेती, विविध शिल्पकर्म और व्यापार करके अपना जीवनयापन करते थे।[8] ब्याज व्यवस्था उस समय भी मौजूद थी। पाणिनी अष्टाध्यायी में मार्गशीर्ष में दिये जाने वाले ऋण को आग्रहाणयिक और संवत्सर के अन्त में दिये जाने वाले ऋण को सांवत्सरिक शब्द से सम्बोधित किया है।[9] खेती का कार्य भी व्यापक रूप से होता था। उस समय भी अनाज थैलों में भरे जाते थे जिन्हें गोणी कहते और ढरकी को प्रवाणि कहते थे।

उस समय गृहनिर्माण–कार्य मिट्टी, ईंट, लकड़ी और पत्थर द्वारा होता था। भवन व मकान कई मंजिले होते थे। सड़कें व गलियां, त्रिमार्ग, चौराहे आदि उस समय भी पाये जाते थे। व्यापार जल एवं स्थल से होता था। माल पशु ढोते थे। जलीय व्यापार नौकाओं द्वारा होता था।[10] वाणिज्य शुल्क उस समय भी निर्धारित रहता था। पण,

अर्द्धपण, पादपण, अष्टभाग पण, रौष्यभाषक और धरण आदि–आदि सिक्के प्रचलित थे। सोने, चांदी एवं तांबे की मुद्राएं प्रचलित थीं।[11] मनोरंजन की पर्याप्त सामग्रियां उस समय भी उपलब्ध थीं। नाट्यशालाएं आदि चरमोत्कर्ष पर विद्यमान थीं। इस प्रकार आर्थिक सम्पन्नता परिपूर्ण रूप से दृष्टिगोचर होती थी। ऐसे उस काल में भगवान् महावीर की आत्मा महारानी त्रिशला के गर्भ में अवतरित हुई।

संदर्भः क्षत्रियकुण्ड अध्याय 2

1. (क) आवश्यक निर्युक्ति–अवचूर्णि; श्री भद्रबाहु कृत निर्युक्ति; श्री हरिभद्र कृत वृत्ति अनुसार; श्री ज्ञानसागरसूरि कृत विरचित; प्रथम भाग; प्रका. देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार; सन् 1965; पृ. 241
(ख) आचारांग सूत्र; आचार्य शीलांक वृत्ति; द्वितीय श्रुत स्कन्ध; वही; पृ. 42
(ग) बालचन्दजी श्रीश्रीमाल; तीर्थंकर चारित्र; भाग 2 प्रकाशक; जैन हितेच्छु श्रावक मण्डल, रतलाम; पृ. 184–185
(घ) डा. नरेन्द्र भानावत; भगवान् महावीर आधुनिक संदर्भ में; प्रका. अ. भा. साधुमार्गी जैन श्रावक संघ, बीकानेर; सन् 1974; पृ. 2
(ङ) यशपाल जैन; तीर्थंकर महावीर; प्रका. मार्तण्ड उपाध्याय, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली; प्रथमावृत्ति; सन् 1957; पृ. 8
(च) कल्पसूत्र; लक्ष्मीवल्लभ उपाध्याय विरचित कल्पद्रुम आदि टीकाओं का हिन्दी रूपान्तर; पृ. 93
(छ) K.C. Jain;Lord Mahavira and his Times; Motilal Banarsidas, Delhi; 1974; page-34
2. (क) आचारांग; आचार्य शीलांकवृत्ति; द्वितीय श्रतुस्कन्ध; वही; अध्ययन 15; चूलिका 3; पृ. 422
(ख) सम्पा. डॉ. नरेन्द्र भानावत; भगवान् महावीर आधुनिक संदर्भ में; खण्ड 1–लेख ज्योति पुरुष महावीर; लेखक उपाध्याय मुनि; वही; पृ. 16
(ग) महापुराण अन्तर्गत उत्तर पुराण; लेखक गुणभद्राचार्य, अनुवादक पंडित लालारामजी जैन; प्रका. जैन ग्रन्थ प्रकाशक कार्यालय, इन्दौर; वि. सम्वत् 1975; पृ. 605
(घ) K.C. Jain, Lord Mahavira and his Times; Motilal

Banarsidas, Delhi; 1974; page-34

3. आचारांग; आचार्य शीलांक वृत्ति; द्वितीय श्रुत स्कन्ध; वही; पृ. 422
(ख) K.C. Jain, Lord Mahavira and his Times; Motilal Banarsidas, Delhi; 1974; page-34-37

4. (क) आचारांग; आचार्य शीलांक वृत्ति; वही; पृ. 422
(ख) आवश्यक निर्युक्ति–अवचूर्णि; पूर्वभाग; वही; पृ. 245

5. (क) आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा.; जैन धर्म का मौलिक इतिहास; भाग 1; प्रका. जैन इतिहास समिति, लाल भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर; पृ. 558
(ख) डा. नेमिचन्द शास्त्री; तीर्थंकर महावीर और उनकी परम्परा; प्रका. श्री भारतीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद; प्रथम संस्करण, सन् 1974; पृ. 84

6. (क) आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा.; जैन धर्म का मौलिक इतिहास; भाग 1; वही; पृ. 535
(ख) सम्पा. डा. नरेन्द्र भांनावात; भगवान् महावीर आधुनिक संदर्भ में; लेख–ज्योति पुरुष महावीर लेखक–उपाध्याय अमर मुनि; वही; पृ. 16

7. (क) द्रष्टव्य–सम्पा. डा. नरेन्द्र भानावत; भगवान महावीर आधुनिक संदर्भ में; वही; पृ. 16
(ख) द्रष्टव्य–आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा.; जैन धर्म का मौलिक इतिहास; भाग 1; वही; पृ. 535
(ग) डा. नेमिचन्द शास्त्री; तीर्थंकर महावीर और उनकी परम्परा; वही; पृ. 59–69
(घ) द्रष्टव्य श्रमण, नवम्बर 1981; भगवान् महावीरकालीन वैशाली; श्री रंजनदेव सूरि; पृ. 21–25
(घ) द्रष्टव्य श्रमण, फरवरी 1954; वैशाली और भगवान् महावीर का दिव्य संदेश; श्री महावीरप्रसाद प्रेमी; पृ. 15–23

8. उपासकदशांगसूत्र; युवा. श्री मिश्रीलालजी म. सा.; अध्ययन 1; प्रका. आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर; तृतीय संस्करण सन् 1999; पृ. 10–11

9. पाणिनि अष्टाध्यायी

10. उपासकदशांग; वही; पृ. 29

11. (क) उपासकदशांग; वही; पृ. 11, 32/स्वर्णकार्षापण का वजन 16 मासे, रजत कार्षापण का वजन 16 पण (तौल विशेष) तथा ताम्र कार्षापण का वजन 80 रत्ती होता था। ऐसा संस्कृत–इंग्लिश डिक्शनरी, सर मोनियर विलियम्स पृ. 176 पर लिखा है।

(ख) प्राचीन समय में प्रचलित सोने का सिक्का, जिसका मान 80 गुंजा प्रमाण या 16 मासा प्रमाण था। अनुयोग द्वार टीका; पत्र 156/1

शिशु संरक्षण – तृतीय अध्याय

नारीत्व से मातृत्व की यात्रा अविस्मरणीय होती है। श्रेष्ठ नारी को मातृत्व के प्रथम सोपान पर कदम रखते ही दायित्वबोध होने लगता है। वह अपने सुखद संसार की परिकल्पना में बलिदान करने में तत्पर बन जाती है। सन्तान शूरवीर, पराक्रमी, शीलादि गुण समन्वित, कुल के गौरव में चार चांद लगाने वाली, विनयवान्, सेवा–गुण से ओतप्रोत होनी चाहिए। ऐसा चिन्तन करने वाली माताओं ने एक–एक शिशु को घड़ने में कितनी जबरदस्त सावधानी, विवेक और संयम रखा, इसका इतिहास साक्षी है। उन्हीं माताओं में से एक हैं महारानी त्रिशला, जो कि अपने गर्भस्थ शिशु को अलौकिक ज्योतिपुंज बनाने में संलग्न हैं।

वह गर्भस्थ शिशु को संस्कारित जीवन देने हेतु गर्भ–संरक्षण बड़ी सावधानीपूर्वक कर रही हैं। माता जैसा आहार, विहार, चिन्तन, हलन–चलन आदि–आदि क्रियाएं करती है, उन सबका सन्तान पर प्रभाव हुए बिना नहीं रहता। गर्भवती स्त्री को किस ऋतु में कैसा आहार करना चाहिए, इस सम्बन्ध में कहा है कि वर्षा ऋतु में नमक, शरद ऋतु में पानी, हेमन्त में गाय का दूध, शिशिर ऋतु में खट्टा, वसंत में घी एवं ग्रीष्म ऋतु में गुड़ का सेवन करना चाहिए।[1]

वाग्भट्ट ने कहा है कि गर्भवती स्त्री वातप्रधान आहार करती है तो गर्भस्थ बालक कुबड़ा, अंधा, मूर्ख और बावना होता है। यदि पित्तप्रधान आहार करती है तो बालक के सिर में टाट और रंग पीला होता है। यदि कफप्रधान आहार करती है तो वह बालक श्वेत–कुष्ठी होता है।

अत्यन्त उष्ण आहार करने से गर्भस्थ शिशु बलवान नहीं होता। शीत आहार करने से शिशु के शरीर में वायु का प्रकोप अधिक रहता है। ज्यादा नमक वाला आहार करने से नेत्रज्योति क्षीण हो जाती है। अत्यन्त स्निग्ध घृतादि वाला आहार करने से पाचन कमजोर हो जाता है।[2]

गर्भवती स्त्री यदि दिन में शयन करती है तो सन्तान आलसी व निद्रालु होती है। यदि नेत्रों के काजल लगाती है तो दृष्टि–विकृत

होती है। अत्यधिक स्नान, विलेपन, शृंगारादि करती है तो सन्तान दुराचारिणी होती है। शरीर पर तेलमर्दन करती है तो सन्तान कुष्ठ रोगी होती है। बार–बार नाखून काटती है तो सन्तान असुन्दर होती है। दौड़ने से शिशु चपल प्रकृति वाला होता है। अट्टहास करने से दांत, ओष्ठ, जीभ और तालु कृष्ण वर्ण वाले होते हैं। अत्यधिक बोलने से सन्तान वाचाल होती है। अधिक गायन, वीणादि वादन करने से शिशु बहरा होता है। भूमि–खनन कार्य करने से सिर पर टाट होती है अथवा केश कम होते हैं। पंखे आदि की हवा करने से शिशु उन्मत्त होता है।[3] इस प्रकार मां की सभी क्रियाओं का गर्भस्थ शिशु पर गहरा असर होता है।

महारानी त्रिशला इन सब बातों की बड़ी सावधानी रखती हुई; न अधिक खट्टा, न मीठा, न कषैला, न चरपरा अपितु सादा भोजन करती हुई, धर्म–जागरणा करती हुई गर्भस्थ शिशु का संरक्षण–संगोपन कर रही हैं।[4]

संदर्भ: शिशु संरक्षण अध्याय 3

1. कल्पसूत्र; विनयविजयजी कृत सुबोधिका वृत्ति; प्रकाशक जैन आत्मानन्द सभा भावनगर; सन् 1915; पृ. 120
2. वाग्भट्ट; अष्टांगहृदय, शरीर स्थान 1/48, उद्धृत कल्पसूत्र सुबोधिका वृत्ति; वही; पृ. 120
3. सुश्रुत – उद्धृत कल्पसूत्र सुबोधिका वृत्ति; वही; पृ. 120–121
4. (क) कल्प सूत्र; सुबोधिका वृत्ति; वही; पृ.121

   (ख) आवश्यक सूत्र; मलयगिरि वृत्ति; वही; पृ. 255

मातृ–प्रेम – चतुर्थ अध्याय

शान्त, प्रशान्त, नीरव वातावरण में क्षत्रियकुण्ड के भव्य प्रासाद में चिन्तन निमग्न राजा सिद्धार्थ परम प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं। अतीत के ख्वाबों में खोये नृपति सिद्धार्थ के स्मृति–पटल पर स्वप्नपाठकों के वाक्य निरन्तर उभर रहे हैं। भावी सन्तान .... चक्रवर्ती सम्राट .... या तीर्थंकर होगा। पुण्यप्रतापी वह लाल कुल–गौरव में चार चांद लगायेगा। यशःश्री की भी अभिवृद्धि करेगा। अरे वृद्धि ... . वह तो अभी भी हो रही है। जब से कुमार त्रिशला की कुक्षि में आया, धन–धान्य की वृद्धि हो रही है। भण्डार भर रहे हैं। राज्यकोष परिपूर्ण यौवन में प्रवर्धमान है। राज्य की सुन्दर व्यवस्थाओं में निरन्तर उन्नति परिलक्षित हो रही है। ऐसा लग रहा है, देवों द्वारा राज्यवृद्धि का कार्य निष्पन्न हो रहा है। ऐसी वृद्धि की पुण्य आभा लेकर अवतरित कुमार का नाम .... वर्धमान ही रखना चाहिए[1]। वह वर्धमान कितना चित्ताकर्षक होगा। अभी से उसे देखने के लिए नेत्र लालायित हैं। [illegible] वात्सल्य की लहरों से वीचिमान है। वह दिन धन्य होगा [illegible] गोद में उस नवजात शिशु को पारिजात पुष्प की तरह [illegible] कर आनन्द से भर जाऊँगा।

हा! हा! हा! इन शब्दों को श्रवण कर, [illegible]? अरे क्या बात है? कौन रुदन कर रही है? [illegible] ____ जोर से आर्तध्यान कर रही हैं।

क्यों क्या हुआ? कहकर सम्राट [illegible] महारानी के कक्ष में पहुंचे।

अरे! यह क्या हुआ? रानी [illegible]

पंखे से मन्द–मन्द हवा [illegible] हैं।

कुछ होश में आकर – [illegible] महारानी? नृपति ने पूछा।

राजन्! भयंकर [illegible] बालक उदर में आ[illegible]

ऐसा लगता है गर्भ .... गल गया .... नष्ट हो गया। हा! हा! कैसा पाप मैंने पूर्वजन्मों में किया है? किसी का गर्भ नष्ट कराया है। किसी के नयनों के सितारे, प्राण–प्यारे बालक का मां से वियोग कराया है, पक्षियों के अण्डों को नष्ट किया है, पशुओं के बच्चों का घात किया है। हा! हा! कैसी अभागिनी, पुण्यहीना हूं।

धैर्य रखो महारानी! सब–कुछ ठीक होगा। ऐसी पुण्यशाली आत्मा गर्भ में मरण को प्राप्त नहीं करती क्योंकि तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि उत्तम पुरुष अनपवर्तनीय आयुष्य वाले होते हैं। उनकी आयु बीच में किसी भी निमित्त से समाप्त नहीं होती।[3] अभी थोड़ी देर बाद सब ठीक हो जायेगा। महाराजा ने धैर्य बंधाते हुए कहा।

इधर गर्भस्थ तीर्थंकर भगवान् महावीर ने अपनी ममतामयी मां की वात्सल्य धारा को देखा तो सोचा अहो! मैंने तो माता को कष्ट न हो एतदर्थ हलन–चलन बन्द किया लेकिन उलटा मां को इससे ज्यादा कष्ट हो रहा है, तो शरीर के एक भाग को हिलाना चाहिए। ऐसा चिन्तन कर तुरन्त एक भाग को हिलाया।[4]

खोई हुई सम्पत्ति को प्राप्त कर माता अत्यन्त प्रमुदित होती है। राजन! आपके वचनों में जादुई प्रभाव है। मेरा गर्भ गला नहीं है। उसमें अब हलन–चलन क्रिया हो रही है।

भगवान् महावीर ने सोचा, क्षणिक वियोग से माता अतीव वेदना का अनुभव करने लगी है तो मां के तन में प्राण रहते यदि संयम अंगीकार करूंगा तो प्राणों का वियोग हो जायेगा, ये जीवित नहीं रह पायेंगी तब .... प्रतिज्ञा ग्रहण कर लेना है कि जब तक मां–पिताजी जीवित रहेंगे तब तक संयम ग्रहण नहीं करूंगा। इस प्रकार गर्भ के सप्तम माह में भगवान् ने प्रतिज्ञा ग्रहण कर ली।[5]

इधर क्षत्रियाणी त्रिशला परम प्रमोद भाव को प्राप्त होकर गर्भ संरक्षण करने लगी। त्रिशला रानी शोकरहित, रोगरहित, भयरहित, त्रासरहित जब गर्भस्थ बालक को संस्कारित कर रही थी तभी उन्हें दोहद उत्पन्न हुए–

मैं अपने हाथों से दान देऊँ, सुपात्र दान देकर अपने जन्म–जीवन को धन्य बनाऊँ, देश में अमारी की घोषणा कराऊँ, कैदियों को बन्दिगत से मुक्ति कराऊँ, सागर, चन्द्र और अमृत का पान करूँ, राज्य

सिंहासन पर बैठकर राज्यकार्य का संचालन करूँ, श्रेष्ठ हस्ती पर आरूढ़ होकर उद्यान में विहरण करूँ।

ये सब दोहद राजा सिद्धार्थ ने यथासमय पूर्ण किये।[6] लेकिन महारानी को एक विशिष्ट दोहद उत्पन्न हुआ कि शची (इन्द्राणी) के कानों से चमकते चपल कुण्डलों को छीन कर धारण करूँ। यह दोहद पूर्ण होना संभव नहीं था लेकिन तीर्थंकरों का अद्भुत अतिशय होता है। शक्रेन्द्र ने उसी समय अवधिज्ञान से उस दोहद को पूर्ण करने का निश्चय किया। स्वयं शक्रेन्द्र देवलोक से चलकर भूमण्डल पर आये। एक किला बनाया और राजा सिद्धार्थ को युद्ध के लिए आमन्त्रित किया। राजा सिद्धार्थ युद्ध हेतु प्रस्थान करते हैं। शक्रेन्द्र के साथ सिद्धार्थ का युद्ध होता है, स्वयं शक्रेन्द्र पराजित होता है और इन्द्राणी के कुण्डल छीनकर महाराजा रानी त्रिशला को पहना देते हैं। दोहद पूर्ण होने से रानी त्रिशला अत्यन्त आनन्दित होती है और राजमहलों में प्रसन्नतापूर्वक समययापन करती है।[7]

संदर्भः मातृप्रेम अध्याय 4

1. (क) आवश्यक सूत्र; मलयगिरि वृत्ति; पूर्वभाग; वही; पृ. 255
   (ख) कल्पसूत्र; सुखबोधिका टीका; उपाध्याय श्री विनयविजयजी; सन् 1908; मुद्रक– जामनगर, जैन भास्करोदय प्रिंटिंग प्रेस; पृ. 245–47
2. (क) आवश्यक सूत्र; मलयगिरि; पूर्वभाग; वही; पृ. 255–56
   (ख) कल्पसूत्र; सुखबोधिका टीका; वही; पृ. 247–53
3. तत्त्वार्थ सूत्र; आचार्य उमास्वाति; अध्ययन 2; सूत्र 52
4. (क) आवश्यक सूत्र; मलयगिरि वृत्ति; वही; पृ. 254–55
   (ख) कल्प सूत्र; सुखबोधिका टीका; वही; पृ. 254–255
5. (क) कल्पसूत्र; सुखबोधिका टीका; वही; पृ. 255–57
   (ख) आवश्यक भाष्य गाथा 58–59
   " तिहिं नाणेहिं समग्गो, देवितिसलाए सोय कुच्छिंसि।
   अह वसह सन्निगब्भो, छमासे अद्धमासं च।
   अह सत्तमम्मि मासे, गब्भत्थो चेवऽभिग्गहं गेण्हे।
   नाहं समणो होहं, अम्मापियरंमि जीवंतो"

उदधृत – आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पूर्वभाग; वही; पृ. 256

6. कल्पसूत्र; विनयविजयजी कृत सुबोधिका वृत्ति; वही; चतुर्थ क्षण; पृ. 121–22

7. कल्पसूत्र; श्री लक्ष्मीवल्लभोपाध्याय विरचित कल्पद्रुमकलिकादि टीकाओं का हिन्दी भाषान्तर; पृ. 136

भगवत् जन्म – पंचम अध्याय

प्रत्येक प्राणी का जीवन दायित्वप्रधान होता है। दायित्व का श्रेष्ठ रीति से निर्वहन करने वाला व्यक्ति उन्नति के चरम शिखरों को चूम लेता है। दायित्वों से मुख फेरने वाला निष्कृटतम जीवन जीकर अपने दिव्यतम जीवन को कचरे के ढेर में तबदील कर देता है। दायित्व की जन्मभूमि है माता। माता यदि दायित्व का निर्वहन करने में परिपूर्ण प्रयास करे तो परिवार अनिर्वचनीय प्रेम–पारावर में निमग्न बन सकता है। उसके लिए आवश्यकता है बलिदान करने की। अपनी निर्बन्ध कल्पनाओं को विराम देकर मन के अश्व को कर्तव्य के रथ में जोतने के प्रयास करें तभी यह संभव है। महारानी त्रिशला इसका जीवन्त उदाहरण है। जिन्होंने महावीर को महावीर बनाने के लिए किस–किस प्रकार अपने जीवन को ढालने का प्रयास किया। उठना, बैटना, सोना, चलना, फिरना, खाना, विश्राम करना सब–कुछ सन्तान के हित को देखकर करती हैं। बड़ी तन्मयता से सावधानीपूर्वक गर्भस्थ शिशु की परिपालना कर रही हैं। इन्तजार है नन्हे सारथि से साक्षात्कार का।

ऋतुराज बसन्त का आगमन अत्यन्त आनन्ददायक लग रहा है। आम्रवृक्षों ने मंजरियों के गजरों को पहन कर मारवाड़ की महिलाओं के गजरों की छटा परास्त करने का स्तुत्य प्रयास किया है।[1] कोयल ने मंजरियों का रसास्वादन कर अपने कण्ठों में मधुर स्वर का संचार कर दिया है। सम्पूर्ण पादपों ने पुराने पत्ते आदि को पृथ्वी पर दान कर नया परिवेश धारण कर लिया है। भूमि ने नई हरीतिमा की चादर ओढ़कर नववधू का रूप धारण कर लिया है। मानो मदमाते यौवन से वह आगत् अथिति का स्वागत करने को तत्पर है।

चैत्र मास की मधुर–शीतल चन्द्रिका मन–मन्दिर को उद्दीप्त बना रही है। त्रयोदशी की वह पावन रात्रि!

महारानी त्रिशला शय्या पर सोई हैं। अनुभूति के आलोक में ज्ञात हो रहा है कि प्रसव सन्निकट है। महारानी के पास खड़ी परिचारिकाएं पूछती हैं– रानी साहिबा! क्या लग रहा है?

अच्छा ही कुछ होने वाला है! महारानी ने कहा।

क्या अच्छा?

एक पुण्यशाली सन्तान की माँ बनने का सौभाग्य!

कब?

थोड़ी देर में।

सभी परिचारिकाएं सेवा में संलग्न हैं।

शनैः–शनैः दाक्षिणात्य मन्द–मन्द पवन के झोंके आने लगे। सभी ग्रह अपने–अपने उच्च स्थान पर अवस्थित थे। वातावरण बड़ा ही शान्त, प्रशान्त, मनमोहक था। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र गतिमान था। चन्द्रमा का प्रथम योग चल रहा था[2]। दिशाएं सौम्य, शांत, उज्ज्वल प्रकाश से अनुप्राणित बनीं। उसी समय नौ माह साढ़े सात रात्रि व्यतीत होने पर एक सुन्दर, सुकुमार, अभिनव आलोक से अलंकृत बाल–शिशु को महारानी त्रिशला ने जन्म दिया।[3] क्षणभर के लिए दिव्य प्रकाश दसों दिशाओं को आलोकित करने लगा।[4] हर्ष–हर्ष की ध्वनि गूंज उठी। शिशु की किलकारियों से वायुमण्डल खुशियों से भर गया।

बधाई हो! बधाई हो! महारानी ने राजकुमार को जन्म दिया है। ऐसा शब्द वायुमण्डल में गुंजायमान हुआ। सब खुशियों से झूम उठे। दासी प्रियंवदा सिद्धार्थ को बधाई देने चली गई।[5]

संदर्भ: भगवत् जन्म, अध्याय 5

1. मारवाड़ी महिलाओं के हाथ का गहना विशेष
2. (क) आचारांग; द्वितीय श्रुत स्कन्ध; आचार्य शीलांक वृत्ति; वही; पृ. 421
   (ख) कल्पसूत्र; राजेन्द्र सूरिकृत बालावबोधिनी वार्ता; मुद्रक–निर्णयसागर यंत्रालय; संवत् 1944 (सन् 1888); पृ. 77। इसमें कहा है कि उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के तीसरे पाये के साथ चन्द्रमा का योग था।
3. (क) आचारांग; द्वितीय श्रुत स्कन्ध; वही; पृ. 421
   (ख) आवश्यक सूत्र; मलयगिरि; पूर्वभाग; वही; पृ. 256
   (ग) कल्पसूत्र; राजेन्द्र सूरिकृत वालाववोधिनी वार्ता; वही; पृ. 76
4. (क) स्थानांग; श्री नगर्षिगणि विरचित, श्री विमलहर्षगणि संशोधित वृत्ति; प्रथम भाग; प्रका. देवचन्द लालभाई; वि. संवत् 2030; स्थान3

जन्म कुण्डली स्थापना : संवत् 2691 वर्षे मासोत्तममासे चैत्रमासे, शुक्लपक्षे त्रयोदशी तिथौ, भौमवासरे घटी 95 पल 11 उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र 6 घटी 60 ध्रुवयोगे घटी 45 पल 55 तैतलकर्णे एवं पंचांगशुद्धौ श्री इष्टघटी 45 पल 15, इक्ष्वाकुवंशे क्षत्रियकुण्डलपुर नगरे सिद्धार्थ गृहे त्रिशल क्षत्रियाणी कुक्षौ पुत्ररत्नमजीजनत्।

जिनके जन्म के समय तीन ग्रह उच्च हो वह राजा, पांच ग्रह उच्च हो वह अर्ध चक्रवर्ती, छह ग्रह उच्च हो वह चक्रवर्ती और सात ग्रह उच्च हो वह तीर्थंकर बनता है।

कल्पसूत्र; राजेन्द्र सूरिकृत बालावबोधिनी वार्ता

5. कल्पसूत्र; श्री देवेन्द्रमुनिजी म.सा.; श्री अमर जैन आगम शोध संस्थान, गढ सिवाना, राज.; सन् 1968; पृ. 133–34

देव जन्माभिषेक – षष्ठम अध्याय

अन्धकार से आलोक में ले जाने वाले, असत् से सत् की ओर गतिमान करने वाले, सृष्टि में अभिनव उजाला भरने वाले, अपनी जीवन–किरणों से नया इतिहास बनाने, आदर्शों के अद्वितीय कोष, अनेक भव्य प्राणियों को शाश्वत सुखधाम पहुंचाने वाले भगवान् महावीर का जन्म हो चुका है। चतुर्थ आरक के 75 वर्ष 8) माह अवशेष हैं।[1] तीर्थंकर तृतीय या चतुर्थ आरे में ही जन्म लेते हैं।[2] सुखमय काल में ही उनका जन्म होता है। दुषम काल में जन्म नहीं होता। इसी कारण एक उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी में 24 ही तीर्थंकर होते हैं, अधिक नहीं।

भगवान् का जन्म जन–जीवन के कल्याण के लिए होता है। वे स्वयं कष्ट सह कर भी पर–उद्धारक होते हैं। ऐसे ही थे करुणानिधि महावीर! जिनके जन्मते ही दशों दिशाएं आलोक से भर गईं। खुशियों का अम्बार छा गया। मात्र मनुष्यलोक ही नहीं, तीनों लोक खुशियों से भर गये। जन्म–महोत्सव मनाने हेतु सर्वप्रथम दिशाकुमारियों में हलचल व्याप्त हो गयी है।

भगवान के जन्म–समय अधोलोक निवासिनी 1. भोगंकरा, 2. भोगवती, 3. सुभोगा, 4. भोग–मालिनी, 5. तोयधारा, 6. विचित्रा, 7. पुष्पमाला, 8. आनन्दिता ये आठ दिशा–कुमारियां भोगों में निरत बनी हुई थीं। आसन कम्पायमान हुए।

भोगंकरा– अरे क्या बात है? आसन कम्पित बन रहे हैं?

हां देवि! परिचारिका देवी ने हाँ भरते हुए कहा।

अवधिज्ञान से– भगवान् का जन्म हुआ है भारत में। अरे! हमको भी जाना है जन्मोत्सव मनाने, क्योंकि यह हमारा जीताचार है।

भोगंकरा– बुलाओ आभियोगिक देव को।

हॉ देवि! अभी बुलाती हैं। सेविका देवी ने कहा।

आभियोगिक देव उपस्थित होकर– कहिए क्या आदेश है?

विमान तैयार करो। भरत–क्षेत्र में क्षत्रियकुण्ड में भगवान महावीर का जन्मोत्सव मनाने चलना है।

अभी करता हूं।

जन्म कुण्डली स्थापना : संवत् 2691 वर्षे मासोत्तममासे चैत्रमासे, शुक्लपक्षे त्रयोदशी तिथौ, भौमवासरे घटी 95 पल 11 उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र 6 घटी 60 ध्रुवयोगे घटी 45 पल 55 तैतलकर्णे एवं पंचांगशुद्धौ श्री इष्टघटी 45 पल 15, इक्ष्वाकुवंशे क्षत्रियकुण्डलपुर नगरे सिद्धार्थ गृहे त्रिशल क्षत्रियाणी कुक्षौ पुत्ररत्नमजीजनत्।

जिनके जन्म के समय तीन ग्रह उच्च हो वह राजा, पांच ग्रह उच्च हो वह अर्ध चक्रवर्ती, छह ग्रह उच्च हो वह चक्रवर्ती और सात ग्रह उच्च हो वह तीर्थंकर बनता है।

कल्पसूत्र; राजेन्द्र सूरिकृत बालावबोधिनी वार्ता

5. कल्पसूत्र; श्री देवेन्द्रमुनिजी म.सा.; श्री अमर जैन आगम शोध संस्थान, गढ सिवाना, राज.; सन् 1968; पृ. 133–34

देव जन्माभिषेक – षष्ठम अध्याय

अन्धकार से आलोक में ले जाने वाले, असत् से सत् की ओर गतिमान करने वाले, सृष्टि में अभिनव उजाला भरने वाले, अपनी जीवन–किरणों से नया इतिहास बनाने, आदर्शों के अद्वितीय कोष, अनेक भव्य प्राणियों को शाश्वत सुखधाम पहुंचाने वाले भगवान् महावीर का जन्म हो चुका है। चतुर्थ आरक के 75 वर्ष 8) माह अवशेष हैं।[1] तीर्थंकर तृतीय या चतुर्थ आरे में ही जन्म लेते हैं।[2] सुखमय काल में ही उनका जन्म होता है। दुषम काल में जन्म नहीं होता। इसी कारण एक उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी में 24 ही तीर्थंकर होते हैं, अधिक नहीं।

भगवान् का जन्म जन–जीवन के कल्याण के लिए होता है। वे स्वयं कष्ट सह कर भी पर–उद्धारक होते हैं। ऐसे ही थे करुणानिधि महावीर! जिनके जन्मते ही दशों दिशाएं आलोक से भर गईं। खुशियों का अम्बार छा गया। मात्र मनुष्यलोक ही नहीं, तीनों लोक खुशियों से भर गये। जन्म–महोत्सव मनाने हेतु सर्वप्रथम दिशाकुमारियों में हलचल व्याप्त हो गयी है।

भगवान के जन्म–समय अधोलोक निवासिनी 1. भोगंकरा, 2. भोगवती, 3. सुभोगा, 4. भोग–मालिनी, 5. तोयधारा, 6. विचित्रा, 7. पुष्पमाला, 8. आनन्दिता ये आठ दिशा–कुमारियां भोगों में निरत बनी हुई थीं। आसन कम्पायमान हुए।

भोगंकरा– अरे क्या बात है? आसन कम्पित बन रहे हैं?

हां देवि! परिचारिका देवी ने हाँ भरते हुए कहा।

अवधिज्ञान से– भगवान् का जन्म हुआ है भारत में। अरे! हमको भी जाना है जन्मोत्सव मनाने, क्योंकि यह हमारा जीताचार है।

भोगंकरा– बुलाओ आभियोगिक देव को।

हाँ देवि! अभी बुलाती हैं। सेविका देवी ने कहा।

आभियोगिक देव उपस्थित होकर– कहिए क्या आदेश है?

विमान तैयार करो। भरत–क्षेत्र में क्षत्रियकुण्ड में भगवान महावीर का जन्मोत्सव मनाने चलना है।

अभी करता हूं।

विमान तैयार करके–"स्वामिनी का आदेश पूर्ण हुआ।" चलिए सभी! सब चलने को तैयार होते हैं।

भोगंकरा अपने चार हजार सामानिक देवों, सपरिवार चार महत्तरिकाओं, सात सेनाओं, सात सेनापति देवों, सोलह हजार आत्मरक्षक देवों, अन्य अनेक देव–देवियों सहित विमान पर आरूढ़ होकर, भगवान् के चार अंगुल विमान को ठहराती हैं। सपरिवार नीचे उतरती हैं। उतर कर जहां त्रिशला क्षत्रियाणी थी, वहां पर आती हैं, फिर भगवान् एवं त्रिशला क्षत्रियाणी की तीन बार आदक्षिणा–प्रदक्षिणा करती हैं। फिर हाथ जोड़ कर त्रिशला महारानी से कहती हैं :–

हे रत्नकुक्षिधारिके! सम्पूर्ण जगत् को दिशाबोध देने वाले, धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने वाले, लोकोत्तम तीर्थंकर भगवान् की माँ बनने का सौभाग्य आपको मिला है। आप धन्य हैं! पुण्यशालिनी हैं! कृतकृत्य हैं।

हम भगवान् तीर्थंकर का जन्म–महोत्सव मनाने के लिए आठ दिशाकुमारियां आई हैं। आप भयाक्रान्त मत होना। ऐसा कहकर ईशानकोण में जाती हैं। सुगन्धित वायु द्वारा एक योजन भूमि को सुगन्धित बनाती हैं। फिर संवर्तक वायु द्वारा सम्पूर्ण कूड़ा–कचरा, गन्दगी आदि को झाड़–बुहार कर परिमण्डल से बाहर कर स्वच्छ बना देती हैं। फिर मंगलगीत गाती हैं।

तत्पश्चात् ऊर्ध्वलोक वासिनी 9. मेघंकरा, 10. मेघवती, 11. सुमेधा, 12. मेघमालिनी, 13. सुवत्सा, 14. वत्समित्रा, 15. वारिषेणा, 16. बालाहिका ये आठ दिशाकुमारियां उसी प्रकार आसन कम्पायमान होने पर सपरिवार आती हैं। सुगन्धित जल की वृष्टि करती हैं। तत्पश्चात् घुटनों–पर्यन्त विपुल पुष्पों की वर्षा करती हैं। वातावरण सुगन्धित बनाती हैं और मंगलगीत गाती हैं।

तदनन्तर रुचक कूट के पूर्व दिशा में रहने वाली आठ दिशाकुमारियाँ– 17. नन्दोत्तरा, 18. नन्दा, 19. आनन्दा, 20. नन्दिवर्धना, 21. विजया, 22. वैजयन्ती, 23. जयन्ती, 24. अपराजिता आती हैं। सघन शृंगार उपयोगी दर्पण हाथ में लेकर भगवान् एवं उनकी माँ के पूर्व दिशा में खडी होकर मंगलगीत गाती हैं।

तदनन्तर दक्षिण–दिशा के रुचक पर्वत पर निवास करने वाली 25. समाहारा, 26. सुप्रदत्ता, 27. सुप्रबुद्धा, 28. यशोधरा, 29. लक्ष्मीवती, 30. शेषवती, 31. चित्रगुप्ता, 32. वसुन्धरा ये आठों दिशाकुमारियां स्नान के लिए जलभरे कलश लाती हैं।

तत्पश्चात् पश्चिम दिशा के रुचक पर्वत पर निवास करने वाली 33. इलादेवी, 34. सुरादेवी, 35. पृथिवी, 36. पद्मावती, 37. एकानासा, 38. नवमिका, 39. भद्रा, 40. शीता ये आठ दिशाकुमारियाँ पंखा लेकर मन्द–मन्द समीर से भगवान् के शरीर को आंदोलित करती हैं।

तत्पश्चात् रुचक पर्वत के उत्तर दिशा में निवास करने वाली 41. अलंबुसा, 42. मिश्र केशी, 43. पुंडरीका, 44. वारुणी, 45. ह्रासा, 46. सर्वप्रभा, 47. श्री, 48. ह्री ये आठ दिशाकुमारियां उत्तर में खड़ी रहकर श्रेष्ठ चामरों से भगवान् के शरीर को बींजती हैं।

फिर रुचक पर्वत की विदिशाओं में रहने वाली 49. चित्रा, 50. चित्रकनका, 51. शतेरा, 52. सौदामिनी ये चारों दिशाकुमारियां दीपक लेकर विदिशाओं में खड़ी रहकर मंगल गीत गाती हैं। 53. रूपा, 54. रूपासिका, 55. सुरूपा, 56. रूपकावती ये चारों दिशाकुमारियां आकर भगवान् की नाल को चार अंगुल छोड़कर काटती हैं। तदनन्तर उस नाल को जमीन में खड्डा खोदकर गाड़ देती हैं। उस गड्ढे को हीरक, रत्नों से भरकर ऊपर मिट्टी जमाकर, हरी दूर्वा उगा देती हैं। फिर विकुर्वणा द्वारा तीन कदलीगृह बनाती हैं। उनमें भवन बनाती हैं। फिर तीन सिंहासन बनाती हैं। तीर्थंकर भगवान् एवं मां त्रिशला को हाथों में उठाकर, दक्षिण दिशावर्ती कदलीगृह (केले के पत्तों के घर) में लाती हैं। दोनों को सिंहासन पर बिठाकर सहस्रपाक, शतपाक तेल से मालिश करती हैं, उबटन द्वारा पीठी करती हैं, तत्पश्चात् पूर्व दिशावर्ती कदलीगृह में तीर्थंकर भगवान् एवं माता को हाथों में उठाकर लाती हैं। सिंहासन पर बिठाती हैं– सुगन्धित जल द्वारा स्नान करवाकर दिव्य वस्त्रालंकारों से विभूषित करती हैं। तदनन्तर उत्तर दिशावर्ती कदलीगृह में दोनों को ले जाती है, सिंहासन पर बिठाती हैं। आभियोगिक देवों से चुल्लहिमवान् वर्षधर पर्वत से गोशीर्ष चंदन मंगवाती हैं। फिर अग्नि

प्रज्वलित कर उसकी भस्म बनाती हैं। फिर डाकिनी, शाकिनी आदि से रक्षा के लिए वे पोटलियां तीर्थंकर भगवान् एवं उनकी माता के गले में बांधती हैं। तीर्थंकर भगवान् के कर्णमूलों को बजाकर आशीर्वाद प्रदान करती हैं। आप दीर्घायु बनें।[3]

निशीथिनी का वह शांत–प्रशान्त समय! सौधर्मपति इन्द्र–शक्रेन्द्र उस मनमोहक समय में सौधर्मवितंसक विमान में अपनी श्रेष्ठ सुधर्म सभा में विराजमान् हैं। सभा–सुधर्मा की छटा देखते ही बनती है। उसका भूमि–भाग स्वर्ण परिमण्डित है, जिसमें रत्न और मणियों की कारीगरी नयनाभिराम बनी हुई है। वैडूर्यमणियों से निर्मित सैकड़ों स्तम्भ, जिन पर बनी पुतलिकाओं की छवियां बरबस ध्यान आकृष्ट कर लेती हैं। भित्तियों पर बने वृषभ, मृग, हस्ति, अश्व, पद्मलता, वनलतादि के चित्र मानो वन–विहार का स्मरण करा देते हैं। द्वार भागों पर लटकते हुए चन्दन के कलश अपनी आभा से आने वाले का मन मुग्ध कर देते हैं। पंचवर्ण के सुगन्धित सुमनों की सौरभ से वहां का वातावरण महक उठा है। लोबान, अगरु, तुरुष्क और चन्दनादि की भीनी–भीनी खुशबू से घ्राणेन्द्रिय जाग्रत बन जाती है। अनेक वाद्ययंत्रों की मधुर ध्वनि, अप्सराओं के सजीव नृत्य को दृष्टिगत कर सौधर्मेन्द्र उन्हीं में तल्लीन बने हुए हैं। बत्तीस लाख विमानों, चौरासी हजार सामानिक देवों, तेंतीस त्रायस्त्रिंशक देवों, चार लोकपालों, सात सेनापति देवों, तीन लाख छत्तीस हजार अंगरक्षक देवों एवं सौधर्म कल्पवासी अन्य बहुत–से देव–देवियों का आधिपत्य अग्रेसरत्व स्वाभाविक करते हुए दिव्य सुखों का भोगोपभोग कर रहे हैं।[4]

सहसा आसन परिकम्पित होता है। देवेन्द्र शक्र ने चिंतन किया। आसन .... कम्पायमान .... हो रहा है। क्या बात है? अवधिज्ञान का प्रयोग करता हूं। देखा अवधिज्ञान से। अहो! जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र में क्षत्रियकुण्ड में चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर का जन्म हुआ है। अच्छा! यों सोचकर सिंहासन से उठे, पादपीठ से नीचे उतरे, पादुकाएं उतारीं। अखण्ड वस्त्र का उत्तरासन कर नमोत्थुणं की मुद्रा में उच्चारण किया – णमोत्थुणं .... संपाविउक माणंनमोजिणाणं जिअभयाणं।

पुनः सिंहासन पर आरूढ़ होकर – "तीर्थंकर भगवन्तों का जन्म–महोत्सव मनाना जीताचार (परम्परागत आचार) है। शीघ्र ही मुझे वहां समुपस्थित होना है। यों चिन्तन कर आदेश के शब्दों में–

हरिणगमैषी देव को बुलाओ।

"जो आज्ञा महाराज की।"

हरिणगमैषी देव पहुंचकर–महाराज की जय हो।

तुम जाओ, सभी देव–देवियों को सूचित करो "तीर्थंकर" भगवान् महावीर का जन्म–महोत्सव मनाने जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र के क्षत्रियकुण्ड नगर में जा रहे हैं। अतः हे देवानुप्रियो! आप सभी अपनी ऋद्धिसहित दिव्य वस्त्राभरणों से सुसज्जित होकर, नाट्यादि सामग्री सहित सपरिवार अपने–अपने विमानों पर आरूढ़ होकर शक्रेन्द्र के सम्मुख उपस्थित हों। ऐसा शक्रेन्द्र ने कहा।

सेवक– "जो आज्ञा" कहकर प्रस्थान करता है।

तीन बार सुघोषा घन्टा बजाता है। तब सौधर्मकल्प में एक कम बत्तीस लाख विमानों में एक कम बत्तीस लाख घण्टाएँ एक साथ तुमुल शब्द करने लगती हैं, समूचा वायुमण्डल घण्टाओं की अनुगूंज से परिव्याप्त हो जाता है। ध्वनिमय वातावरण में रति–सुख में समासक्त देव–देवियां सावधान हो जाती हैं। आज कोई नवीन उद्घोषणा होने वाली है, यों चिन्तन कर सब एकाग्रचित्त हो जाते हैं। सावधान होते हैं, सुनने को लालायित बन जाते हैं।

ध्वनि धीरे–धीरे मन्द हो रही है। वातावरण शांत बन गया है। ध्वनि के शांत होने पर हरिणगमैषी देव उद्घोषणा कर रहे हैं, "देवराज देवेन्द्र जम्बू द्वीप में भगवान् महावीर का जन्मोत्सव मनाने जा रहे हैं। आप सभी अपनी–अपनी ऋद्धिसहित समुपस्थित हो जायें।"

घोषणा श्रवण कर सर्वत्र हर्ष की लहरें तरंगायित बन गयीं। चलो भगवान् को वन्दन करने चलते हैं, पूजन करने चलते हैं। जीताचार होने से चलते हैं। इस प्रकार देव–देवियां आपस में चलने के लिए तत्पर होते हैं। अपनी दिव्य ऋद्धि सहित वे त्वरित गति से शक्रेन्द्र के पास उपस्थित होते हैं।[5]

शक्रेन्द सभी देव–देवियों को समागत देखकर– अरे सभी आ

गये। पालक देव को बुलाओ। "जो आज्ञा", कहकर सेवक देव पालक को बुलाते हैं। पालक– महाराज की जय हो। आपकी क्या आज्ञा है? "तीर्थंकर भगवान् का जन्मोत्सव मनाने के लिए भरत क्षेत्र में क्षत्रियकुण्ड चलना है, विमान तैयार करो।"

सेवक– "जो आज्ञा" कहकर प्रस्थान कर देता है।

निमार्ण करना है! श्रेष्ठ विमान का निर्माण। अभी करता हूं। मध्य में प्रेक्षामण्डल, उसके मध्य मणिपीठिका, उसके ऊपर शक्रेन्द महाराज के लिए विशाल सिंहासन।

सिंहासन के वायव्य कोण में, उत्तर में एवं उत्तर–पूर्व ईशान कोण में शक्रेन्द के 84,000 (चौरासी हजार) सामानिक देवों के 84,000 (चोरासी हजार) उत्तम आसन। पूर्व में आठ अग्रमहिषियों के आठ उत्तम आसन, दक्षिण–पूर्व आग्नेय कोण में – आभ्यन्तर परिषद् के 12,000 देवों के 12,000 आसन, दक्षिण में मध्यम परिषद् के 14,000 देवों के 14,000 आसन, दक्षिण–पश्चिम नैऋत्य कोण में बाह्य परिषद् के 16,000 देवों के 16,000 आसन, पश्चिम में सात सेनापित देवों के सात आसन। सिंहासन के चारों ओर चारों दिशाओं के 84–84 हजार अंगरक्षक देवों के 84,000X4 तीन लाख छत्तीस हजार उत्तम आसन बनाने हैं। ऐसा चिन्तन कर, चिन्तन–अनुरूप विकुर्वणा करके विमान तैयार करता है। विमान तैयार होने पर शक्रेन्द के पास जाकर– महाराज की जय हो। विमान तैयार है।

अच्छा! दिव्य–वस्त्रालंकार धारण करता हूं, यह चिन्तन कर शक्रेन्द महाराज, जिनेन्द्र भगवान् के सम्मुख जाने योग्य दिव्य वस्त्रालंकारयुक्त रूप की विकुर्वणा कर सपरिवार विमान पर आरूढ़ होते हैं। स्वयं सिंहासन पर पूर्वाभिमुख होकर बैठते हैं। अन्य देव–देवियां अपने–अपने आसनों पर बैठती हैं। तदनन्तर आठ मंगल द्रव्य आगे चलते हैं। तत्पश्चात् शुभ शकुनरूप में जलपूर्ण कलश, जलपूर्ण झारी, चवंरयुक्त दिव्य छत्र, दिव्य पताका, अत्यन्त उच्च विजय–वैजयन्ती पताका आगे चलती है। तदनन्तर छत्र, अत्यन्त दर्शनीय निर्जल झारी, अत्यन्त सचिक्कण, अतिशययुक्त पंचरंगी हजार छोटी पताकाओं से अलंकृत विजय–वैजयंती ध्वजा, तदनन्तर छत्रात्रिछत्र से सुशोभित एक

हजार योजन ऊँचा विशाल महेन्द्र ध्वज गगन मण्डल का स्पर्श करता हुआ आगे बढ़ता है। तत्पश्चात् पांच सेनाएं, पांच सेनापति देव तथा अन्य देव प्रस्थान करते हैं। तब शक्रेन्द का वह विमान तीव्रगति से चलता हुआ नन्दीश्वर द्वीप के रति पर्वत तक आता है। वहां विमान का संकोचन कर जंम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में क्षत्रियकुण्ड में आता है। जन्म–भवन की तीन बार प्रदक्षिणा करता है। जन्म–भवन के बाहर ईशान कोण में भूमि से चार अंगुल ऊँचा विमान को ठहराता है। आठ अग्रमहिषियों, गंधर्वानीक, नाट्यानीक नामक दो सेनाओं के साथ शक्रेन्द स्वयं पूर्व दिशावर्ती सीढ़ियों से नीचे उतरते हैं। 84 हजार सामानिक देव उत्तर दिशावर्ती सीढ़ियों से नीचे उतरते हैं। शेष देव–देवियां दक्षिण दिशावर्ती सीढ़ियों से नीचे उतरते हैं। तब शक्रेन्द महाराज सम्पूर्ण परिवार सहित भगवान् महावीर एवं महारानी त्रिशला के पास आते हैं। उनकी तीन बार आदक्षिणा–प्रदिक्षणा करते हैं, प्रमुदित होकर, हाथ जोड़कर विनम्र शब्दों में निवेदन करते हैं।

हे रत्नकुक्षि धारिके! जगत् प्रदीप प्रदायिके! अतिशय समन्वित धर्मतीर्थ के चक्रवर्ती, लोकोत्तम तीर्थंकर देव की पुण्यशालिनी माते! आप धन्य हैं! कृतार्थ हैं! मैं देवराज देवेन्द्र भगवान् का जन्म–महोत्सव मनाऊँगा, आप भयभीत मत होना। इस प्रकार कहकर मां त्रिशला को अवस्वापिनी दिव्य मायामती निद्रा में सुला देते हैं। तीर्थंकर भगवान् को हाथों में उठाकर चिन्तन करते हैं, कोई समीपवर्ती दुष्ट देव–देवियां कौतूहलवश या दुष्टाभिप्राय से महारानी त्रिशला मां की निद्रा भंग कर दें तो .... माता विरह से तड़फ उठेगी। तब .... क्या करना .... एक भगवान् जैसे शिशु की प्रतिकृति बनाना। तुरन्त प्रतिकृति बनाकर मां के पास सुलाते हैं। स्वयं की वैक्रियलब्धि से पंचरूप बनाते हैं। एक शक्र भगवान् को हथेलियों के सम्पुट से उठाता है। दूसरा पीछे छत्र धारण करता है। दो शक्र दोनों ओर चंवर ढुलाते हैं। एक शक्र हाथ में वज्र लिये आगे चलता है[6]। इस प्रकार वह शक्रेन्द्र अनेक भवनपति–वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव–देवियों से घिरा हुआ, दिव्य ऋद्धिसम्पन्न त्वरित गति से मेरु पर्वत के पण्डकवन की अभिषेक शिला और अभिषेक सिंहासन के समीप आता है[7]। सुमेरु पर्वत

पर भगवान् को अपने हाथों में लिए शक्रेन्द्र चिन्तन करते हैं– कितना सुकोमल शरीर है। नन्हा–सा शरीर! कितने कमनीय लग रहे हैं। इनका चौसठ इन्द्र अभिषेक करेंगे। प्रत्येक 8064 कलशों से स्नान करायेंगे। कैसे सहन कर पायेंगे? कहीं कष्ट तो नहीं होगा! तब .... क्या करना चाहिए? शक्रेन्द्र चिन्ताग्रस्त हुए। भगवान् ने अवधिज्ञान से शक्रेन्द्र की मनोगत शंका को जान लिया। तब अपने बायें पैर के अंगूठे से सुमेरु को दबाया, एक लाख योजन का सुमेरु पर्वत का शिखर बेंत की तरह कम्पायमान् हो गया।[8]

शक्रेन्द्र ने देखा– मेरु शिखर कम्पित हो रहा है, क्या बात है? अपने अवधिज्ञान का उपयोग लगाया, ज्ञात हुआ। ओह! यह प्रभु के अनन्त बल की माया है। भगवान् तो अनन्त बलशाली हैं। उनके विषय में भ्रान्त धारणा पैदा हो गयी। तब नतमस्तक होकर क्षमायाचना करता हूं। यह चिन्तन शक्रेन्द्र द्वारा प्रभु से क्षमायाचना का प्रसंग उपस्थित करता है। शक्रेन्द्र प्रभुसहित मेरु पर उपस्थित हैं। इधर ईशानेन्द्रादि सभी कल्पों के देवों के आसन चलायमान होने पर वे भी अपनी ऋद्धि–परिवारसहित मेरु पर्वत पर उपस्थित हो गये हैं। इसी प्रकार असुरेन्द्र आदि सभी भवनपति ज्योतिष्क एवं वाणव्यन्तर देव भी मेरु पर अवतरित हो चुके हैं। सभी चौसठ इन्द्र अपनी ऋद्धि– परिवारसहित मेरु पर्वत पर महोत्सव मनाने की तैयारी कर रहे हैं।

सर्वप्रथम अच्युतेन्द्र बारहवें स्वर्ग का स्वामी, आभियोगिक देवों को बुलाकर, "देवानुप्रियो! मणि रत्नादियुक्त, बहुमूल्य विराट् उत्सवयोग्य तीर्थंकर भगवान् के अभिषेक के लिए विपुल अनुकूल सामग्री लाओ।" आभियोगिक देव हर्षित होकर– "जो आज्ञा" कहकर ईशान कोण में प्रस्थान करते हैं। वहां वैक्रियलब्धि से (1) एक हजार आठ स्वर्ण कलश, (2) एक हजार आठ चांदी के कलश, (3) एक हजार आठ मणिमय कलश, (4) एक हजार आठ सोने–चांदी के कलश, (5) एक हजार स्वर्ण–मणि के कलश, (6) एक हजार आठ सोने, चांदी, मणियों के कलश, (7) एक हजार आठ मिट्टी के कलश, (8) 1008 चंदन–चर्चित कलश बनाते हैं।[9] इसी प्रकार एक हजार आठ झारियां, दर्पण, थाल, रकेबियां, प्रसाधन मंजूषा, विविध रत्न मंजूषा, करवे, फूलों की टोकरियां,

सिंहासन, छत्र, चंवर, तेल के डिब्बे, सरसों के डिब्बे, पंखे, धूपदान–ये सभी एक हजार आठ–आठ विकुर्वणा द्वारा बनाते हैं।

फिर सभी को लेकर क्षीरसमुद्र आते हैं। वहां से जल–पुष्पादि ग्रहण करते हैं। पुष्करोद समुद्र से जल ग्रहण करते हैं। भरत–ऐरावत के मगधादि तीर्थों से जल, मिट्टी गंगादि महानदियों से लेते हैं। क्षुल्ल हिमवान पर्वत से सब प्रकार के सुगन्धित पदार्थ, मालाएँ, औषधियां, श्वेत सरसों ग्रहण करते हैं। अन्य अनेक पर्वतों, नदियों, तीर्थों, द्वीपों से अभिषेकयोग्य सभी सामग्रियां लेकर अच्युतेन्द्र के सामने लाकर उपस्थित करते हैं। तत्पश्चात् अच्युतेन्द्र दस हजार सामानिक देवों, तेतीस त्रायस्त्रिशंक देवों, चार लोकपालों, तीन परिषदों, सात सेनाओं, सात सेनापति देवों, चालीस हजार अंगरक्षक देवों सहित उत्तम जल से परिपूर्ण चंदन–चर्चित एक हजार आठ सोने के कलशों से यावत चन्दन के कलशों से सर्व प्रकार की औषधियों एवं श्वेत सरसों द्वारा तीर्थंकर भगवान् का जन्माभिषेक करते हैं। जब अच्युतेन्द्र अभिषेक करते हैं, तब अत्यन्त हर्षित–आनन्दित होते हुए अन्य इन्द्र छत्र, चंवर, धूपदान, माला, वज्र, त्रिशूल हाथों में लिए अंजलि बांधे खड़े रहते हैं। अन्य देव नृत्य, वादन, गायन, क्रीड़ा आदि करते हुए महोत्सव मनाते हैं।

तदनन्तर अच्युतेन्द्र अभिषेक–सामग्री द्वारा भगवान् का अभिषेक करता है। जय–विजय शब्दों से बधाता है, जय–जयकार करता हुआ रत्न तौलिए से शरीर पौंछता है, फिर शरीर पर चन्दन का लेप लगाता है। दिव्य वस्त्र पहिनाता है, फिर भगवान् को अलंकृत करता है, नाट्य–विधि प्रदर्शित करता है और चावलों से आठ मंगल बनाता है यथा दर्पण, भद्रासन, वर्धमानवर कलश, मत्स्य, श्रीवत्स, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त। तदनन्तर गुलाब, मल्लिका, चम्पा, अशोक आदि फूलों को ग्रहण करता है। वे पुष्प अच्युतेन्द्र की हथेलियों से नीचे गिरते हैं और घुटनों–पर्यन्त ढेर हो जाता है। फिर श्रेष्ठ लोबान आदि से धूप देता है। तत्पश्चात् एक सौ आठ महिमामय काव्यों द्वारा स्तुति करता है। बायां घुटना ऊपर उठाकर, दायां घुटना नीचे करके स्तुति करता है।

हे सिद्ध! बुद्ध! नीरज! श्रमण! समाहित! समाप्त! समायोगिन्! शल्यकर्तन! (कर्मशल्यरहित) निर्भय! नीरागदोष! निर्मल! निर्लेप! निःशल्य,

मान–मूरण! गुणरत्न शील सागर! अनन्त! अप्रमेय–अपरिमित ज्ञान तथा गुणों से युक्त! धर्मतीर्थ के चातुरन्त चक्रवर्ती! अर्हत् आपको नमस्कार हो। इन शब्दों द्वारा वंदन, नमन कर, न सन्निकट, न दूर रहकर शुश्रूषा, पर्युपासना करता है।[10]

अच्युतेन्द्र के पश्चात् क्रमशः ईशानेन्द्र, शक्रेन्द्र–पर्यन्त सभी देव एवं भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क इन्द्र क्रमशः अपने–अपने परिवार सहित अभिषेक कृत्य करते हैं।[11]

तब देवराज ईशान पांच ईशानेन्द्र की विकुर्वणा करता है। एक ईशानेन्द्र भगवान् को हथेलियों में उठाता है। उठाकर पूर्वाभिमुख होकर सिंहासन पर बैठाता है। एक ईशानेन्द्र पीछे छत्र धारण करता है। दो ईशानेन्द्र दोनों ओर चंवर ढुलाते हैं। एक ईशानेन्द्र हाथ में त्रिशूल लिये आगे खड़ा रहता है।

अब मुझे तीर्थंकराभिषेक करना है, ऐसा चिन्तन कर देवराज इन्द्र शक्रेन्द्र अपने सेवक देवों को बुलाकर अभिषेक सामग्री मंगवाता है। तब अत्यन्त मनोरम, रमणीय, श्वेत चार वृषभों की विकुर्वणा करते हैं। चारों बैलों के आठ सींगों से आठ जलधाराएं निकलती हैं जो ऊपर मिलकर एक श्वेत धारा का रूप धारण कर लेती हैं और भगवान् के मस्तक पर गिरती हैं। अपने चौरासी हजार सामानिक देव आदि परिवार से युक्त शक्रेन्द्र भगवान् का जन्माभिषेक करता है। अर्हंत! आपको नमस्कार हो। यों कहकर वन्दन, नमन, पर्युपासना करता है।[12]

अच्युतेन्द्र के सदृश अभिषेक करता है। तदनन्तर शक्रेन्द्र पांच शक्रों की विकुर्वणा करते हैं, एक शक्र भगवान् तीर्थंकर को हथेलियों में उठाता है। एक शक्र पीछे छत्र धारण करता है। दो शक्र दोनों ओर चंवर ढुलाते हैं। एक शक्र वज्र लेकर आगे खड़ा रहता है।

तब शक्रेन्द्र अपने चौरासी हजार सामानिक देवों, अन्य भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क, और वैमानिक देवों और देवियों सहित भगवान् महावीर के जन्म–भवन, जन्म–स्थान पर आते हैं। भगवान् को अपनी माता के पास सुलाते हैं और जो प्रतिरूपक रखा था, उसे उठा लेते हैं। माता की निद्रा भी भंग करते हैं। दो वस्त्र, दो कुण्डल सिरहाने रखते हैं। सुन्दर स्वर्ण, मणि, रत्नादिमय गोलक ऊपर की चांदनी में तानते हैं

ताकि तीर्थंकर भगवान् अपलक उससे क्रीड़ा करते रहें।

शक्रेन्द्र तदनन्तर वैश्रमण देव को बुलाता है, उसे कहता है– देवानुप्रिय! शीघ्र ही बत्तीस करोड़ शैय्य मुद्राएं, बत्तीस करोड़ स्वर्ण मुद्राएं, सुन्दर, सुभगाकार, वर्तुलाकार लोहासन, बत्तीस भद्रासन भगवान् के जन्म–भवन में लाओ। वैश्रमण देव वैसा ही करते हैं।

तब शक्रेन्द्र आभियोगिक देवों को बुलाकर कहते हैं– नगर के तिराहों, चौराहों यावत् विशाल मार्गों[13] में घोषणा करो कि भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक देव–देवियों, सुनो! जो कोई भगवान् अथवा उनकी मां के प्रति मन में अशुभ संकल्प करेगा उसके आजाओ की मंजरी की तरह मस्तक के सौ टुकड़े कर दिये जायेंगे। तब उन्होंने ऐसी घोषणा की। तत्पश्चात् बहुत से भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक भगवान् का जन्मोत्सव मनाते हैं।[14] नन्दीश्वर द्वीप में जाकर आठ दिवस का जन्मोत्सव मनाते हैं। पुनः अपने–अपने स्थानों पर लौट जाते हैं।[15]

संदर्भ: देवजन्माभिषेक, अध्याय 6

1. आचारांग; आचार्य शीलांक वृत्ति; द्वितीय श्रुत स्कन्ध; वही; पृ. 420; "दूसमसुसमाए समाए बहु विइक्कांताए पन्नहत्तरीए वासेहिं मासेहिं य अद्धनवमेहिं सेसेहिं।"
2. (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति; श्री घासीलालजी म. सा.; भाग 2; जैन शास्त्रोद्धार समिति; अहमदाबाद; सन् 1977; पंचम वक्षस्कार; पृ. 547

   (ख) भगवती सूत्र; अभयदेववृत्ति; वही; शतक 25
3. (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति; श्री घासीलालजी म. सा.; वही; पृ. 547–603

   (ख) कल्पसूत्र; श्री राजेन्द्रसूरि कृत बालावबोधिनी वार्ता; वही; पृ. 77–78

   (ग) आवश्यक सूत्र निर्युक्ति–अवचूर्णि, प्रथम भाग; प्रका. देवचन्द लालभाई, पुस्तकोद्धार; सन् 1965; पृ. 182
4. (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति; श्री घासीलालजी म. सा.; भाग दो; वही; पृ. 604–14

   (ख) भगवती सूत्र; अभयदेववृत्ति; वही; शतक 10; उद्देशक 6

(ग) जीवाजीवाभिगम; मलयगिरी; तृतीयप्रतिपत्ति; प्रका. देवचन्द लालभाई।

5. (क) जम्बद्वीप प्रज्ञप्ति; भाग 2; श्री घासीलालजी म. सा.; वही; पृ. 614–30

(ख) कल्पसूत्र; श्री राजेन्द्रसूरि कृत बालावबोधिनी वार्ता; वही; पृ. 78–79

6. (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति; श्री घासीलालजी म. सा.; भाग 2; वही; पृ. 630–662

(ख) कल्पसूत्र; श्री राजेन्द्रसूरि कृत बालावबोधिनी वार्ता; वही; पृ. 80

7. (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति; श्री घासीलालजी म. सा.; भाग 2; वही; पृ. 662–664

(ख) कल्पसूत्र; श्री राजेन्द्रसूरि कृत बालावबोधिनी वार्ता; वही; पृ.80

8. (क) पदांगगुष्ठेत यो मेरुमनायासेन कंपयन्।
लेभे नाम महावीर इति नाकालयाधिपात्

पद्मचरित्र; रविषेणाचार्य कृत; पर्व 2; श्लोक 16

(ख) वामम य पायंगुट्ठय कोडीए तो सलीलमह गुरुणा।
तह चालिओ गिरीसो, जाओ, जइ तिहुयणक्खोहो।।

चउप्पन्नमहापुरिसचरियं; आचार्य शीलांक; प्र. प्राकृत ग्रन्थ परिषद; वाराणसी 5; पृ. 271

(ग) आकम्पिओ य जेणं, मेरु अंगुट्ठेएण लीलाए।
तेणेह महावीरो, नामं सि कयं सुरिन्देहिं।।

पउमचरियं; विमलसूरि; 2/26; प्राकृत ग्रन्थ परिषद् ; वाराणसी 5; पृ. 60

(घ) तीर्थंकर चारित्र; श्री बालचन्दजी श्रीश्रीमाल; भाग दो; वही; पृ. 188; यहां ज्ञातव्य है कि श्रीश्रीमालजी ने भी मेरु कम्पाने के कारण देवों द्वारा भगवान् का नाम महावीर रखा गया, ऐसा उल्लेख किया है। द्रष्टव्य पृ. 188

9. इस प्रकार कुल 8064 कलश होते हैं। प्रत्येक इन्द्र 64000 घड़ों से अभिषेक करते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर के देवों द्वारा 250 अभिषेक होते हैं। अतः कुल मिलाकर एक करोड़ साठ लाख कलशों से अभिषेक होता है, जिसका विवरण इस प्रकार है :–

भवनपति के 20 इन्द्र, व्यन्तर के 32 इन्द्र, वैमानिक के दस इन्द्र, अढाई द्वीप के 132 चन्द्र–सूर्य, धरणेन्द्र–भूतानेन्द्र की 12 इन्द्राणी, व्यन्तर की चार इन्द्राणी, चमरेन्द्र की 10 इन्द्राणी, ज्योतिषी की चार इन्द्राणी, सौधर्म–ईशान की 16 इन्द्राणी, सामानिक देवों का एक, त्रायस्त्रिंशक देवों का एक, लोकपाल के 4, अंगरक्षक का एक, पर्षदा के देवों का एक, प्रजा देवों का एक, सात सेनाओं के देवों का एक– इस प्रकार कुल 250 अभिषेक होते हैं। प्रत्येक अभिषेक 64,000 कलशों का होता है। अतः 250X64000=1,60,00,000 कलशों से अभिषेक कार्यक्रम सम्पन्न होता है। प्रत्येक कलश 25 योजन ऊँचा एवं 12 योजन पोला होता है।

द्रष्टव्यः कल्पसूत्र; राजेन्द्रसूरि कृत बालावबोधिनी वार्ता; वही; पृ. 80–81

10. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति; युवाचार्य श्री मिश्रीलालजी म. सा.; आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर; सन् 1994; पृ. 297–307

11. आवश्यक सूत्र निर्युक्ति–अवचूर्णि; प्रथम भाग; प्रका. देवचन्द लालभाई; सन् 1965; पृ. 265

12. (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति; युवाचार्य श्री मिश्रीलालजी म. सा.; वही; पृ. 306–9

    (ख) कल्पसूत्र; राजेन्द्रसूरि कृत बालावबोधिनी वार्ता; वही; पृ. 81

13. आवश्यक निर्युक्ति–अवचूर्णि प्रथम भाग में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है :–

    शृङ्गाटकं शृङ्गारकाकृति पथयुक्तं त्रिकोणं स्थानं वाक,
    त्रिकं यत्र रथ्यात्रयं मिलति♦ चतुष्पथ समाहारःX,
    चत्वरं बहुरथ्यापातस्थानं,* चतुर्मुखं यस्माच्चतसृष्वपि दिक्षु पन्थानो निस्सरन्ति,+ महापथो राजमार्गः शेषः सामान्यः पन्थाः पथः

    वही; पृ. 200

14. (क) आचारांग; द्वितीय श्रुत स्कन्ध; वही; पृ. 421

    (ख) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति; युवाचार्य श्री मिश्रीलालजी म. सा.; वही; पृ. 308–11

15. (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति; युवाचार्य श्री मिश्रीलालजी म. सा.; वही; पृ. 311

    (ख) कल्पसूत्र; राजेन्द्रसूरि कृत बालावबोधिनी वार्ता; वही; पृ. 82

सिद्धार्थ द्वारा जन्माभिषेक – सप्तम अध्याय

राजमहल में बैठे राजा सिद्धार्थ अत्यन्त हर्षित होकर चिन्तन की गहराइयों में निमग्न हैं। आज मैं सौभाग्यशाली तृतीय सन्तान का पिता बन गया हूं। जब से यह बालक गर्भ में आया, चहुं ओर वृद्धि ही वृद्धि। बड़ा पुण्यप्रतापी है। प्रातःकाल होने पर बड़ी धूमधाम से जन्म–महोत्सव मनाऊंगा। अब पूरा क्षत्रियकुण्ड आनन्द की लहरों में निमग्न बनेगा। महारानी त्रिशला .... वह तो भाग्यशालिनी माता है जिसने ऐसे दिव्यतम बालक को जन्म देकर तीनों लोकों को आलोकित कर दिया है।

राजा सिद्धार्थ कल्पनाओं के मधुर लोक में विहरण कर रहे थे।

कल्पनाओं का जाल टूटा। सहसा चौंककर– अरे! ऊषा ने लालिमा से संसार को अरुणिम बना दिया है।

अरे सेवक! जाओ कोतवाल को बुलाओ।

जो आज्ञा, कहकर प्रस्थान करता है।

कोतवाल आकर – महाराज की जय हो।

अरे कोतवालजी!

फरमाइये स्वामिन!

देवानुप्रिय! आज क्षत्रियकुण्ड में खुशियों का वातावरण निर्मित करना है। जाओ बन्दियों को कारागार से मुक्त करो। बाजार में सभी वस्तुएं सस्ते भाव में उपलब्ध कराओ, व्यापारियों को सस्ता बेचने पर जो घाटा होगा, हम उसकी क्षतिपूर्ति करेंगे। नगर को साफ, स्वच्छ, परिमार्जित बनाओ। स्थान–स्थान पर पुष्पों की मालाएं लगाकर नगर को नव–वधू की तरह सुसज्जित करो, चन्दन आदि सुगंधित पदार्थों के थापे लगाओ, सुगन्ध–वट्टी की तरह नगर को सुगन्धित बनाओ, नृत्य, वादन, गायन, वाद्य तंत्र, वीणादि बजाने वालों को कहो कि स्थान–स्थान पर वे अपना नव्य–भव्य कार्यक्रम प्रस्तुत करेंगे।

जो आज्ञा कहकर चला जाता है।

चंद समय में सभी कार्य पूर्ण करता है। सारा क्षत्रियकुण्ड आनन्द–पारावार में निमग्न है। जगह–जगह विभिन्न कार्यक्रम आयोजित

किये जा रहे हैं।

राजा सिद्धार्थ राजकुमार का जन्मोत्सव मनाने के लिए अखाड़े–सार्वजनिक स्थान पर बहुमूल्य वस्त्राभरणों से अलंकृत, अनेक वाद्यों की ध्वनियों से गुंजायमान विशाल जन–समूह सहित पहुंचते हैं। दस दिवस पर्यन्त वहां उत्सव चलता रहता है। दस दिनों में सभी का ऋण माफ कर स्वयं राजा कर्ज चुकाते हैं। जनता को सभी वस्तुओं को बिना पैसे आवश्यकतानुसार उपलब्ध कराते हैं। उत्तम गणिकाओं द्वारा नृत्यादि का आयोजन करते हैं। दस दिन तक दिव्य दान देकर और कुमार के जन्मोत्सव पर आये लाखों उपहारों को ग्रहण कर नृपति बड़ी धूमधाम से जन्म–महोत्सव मनाते हैं।[1]

इसके साथ ही कुल–परम्परानुसार प्रथम दिन जन्म–निमित्त करने योग्य अनुष्ठान करते हैं। तृतीय दिन सूर्यचन्द्र का दर्शन करवाते हैं। छठे दिन रात्रि जागरण–उत्सव करते हैं। ग्यारहवें दिन सर्व अशुचि निवारण करते हैं। बारहवें दिन विपुल मात्रा में अशन, पान, खादिम, स्वादिम पदार्थों को तैयार करवाते हैं। अपने मित्रों, ज्ञातिजनों, स्वजन–सम्बन्धियों एवं ज्ञातवंश के क्षत्रियों को भोजन के लिए आमन्त्रित करते हैं।[2]

स्वयं सिद्धार्थ वस्त्राभरणों से सुसज्जित होकर भोजन–मण्डप में आते हैं। स्वयं खाद्य सामग्री का आस्वादन करते हुए दूसरों को भोजन करवाते हुए सभी समागत अतिथियों का वस्त्र, पुष्प, माला, आभूषणों से स्वागत्–सत्कार करते हैं।

तत्पश्चात् सभी मित्रों यावत् ज्ञातवंशीय क्षत्रियों के सम्मुख नामकरण करते हुए कहते हैं कि जब से हमारा यह कुमार गर्भ में आया तभी से हिरण्य, सुवर्ण, धन–धान्य, सत्कार–सम्मान आदि सभी की वृद्धि होने लगी है इसलिए इसका गुण–निष्पन्न नाम वर्धमान रखते हैं।[3]

सभी उपस्थित समूह बड़े हर्षित होते हुए अपने–अपने स्थानों की ओर लौट जाते हैं। राजा सिद्धार्थ राजभवन की ओर प्रस्थान करते हैं।

संदर्भः सिद्धार्थ द्वारा जन्माभिषेक अध्याय 7

1. (क) आवश्यक सूत्र; मलयगिरि वृत्ति; वही; पृ. 257

(ख) कल्पसूत्र; श्रीराजेन्द्रसूरि कृत बालावबोधिनी वार्ता; वही; पृ. 83–84

2. (क) आवश्यक सूत्र; मलयगिरि वृत्ति; वही; पृ. 257

(ख) कल्पसूत्र; श्रीराजेन्द्रसूरि कृत ; वही; पृ. 84–85

3. (क) आवश्यक सूत्र; मलयगिरि वृत्ति; वही; पृ. 257

(ख) कल्पसूत्र; श्रीराजेन्द्रसूरि कृत; वही; पृ. 85–89

विशेषः इसमें भोजन में बनाये गये पदार्थों का विस्तृत विवरण है।

पूर्वभवों की यात्रा – अष्टम अध्याय

कुमार वर्धमान क्षत्रियकुण्ड में वृद्धिगत हो रहे हैं। कितना जबरदस्त अतिशय! चौसठ इन्द्र स्वयं कुमार वर्धमान का जन्माभिषेक करने आये। जबरदस्त पुण्य का पुंज हैं कुमार वर्धमान! क्या यह पुण्य एक जन्म में ही संचित है.......... एक जन्म की पुण्यवानी से ही वर्धमान बन गये? नहीं ...., नहीं .... अनेक जन्मों की पुण्य धारा से आप्लावित हो कुमार वर्धमान इस रूप में आये। अनादि काल से वर्धमान स्वामी की आत्मा भी संसार परिभ्रमण कर रही थी। मिथ्यात्व दशा में लिप्त कुमार वर्धमान की आत्मा ने अनन्त काल व्यतीत कर दिया लेकिन .... जाग्रत बनने का सुअवसर मिला जयंति नगरी में। जहां से जगकर वर्धमान बनने तक की यात्रा की।

जयंति नगरी कुमार वर्धमान के कारण विख्यात बन गयी। जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह क्षेत्र में जयन्ति नामक नगरी थी। वह परिपूर्ण वैभवशाली, सुख–शांति और समृद्धि की कोषरूप थी। वहां का राजा शत्रुमर्दन यथानाम तथागुण–सम्पन्न, महाऋद्धि–सम्पन्न, शत्रुओं के मान का मर्दन करने वाला था। उसमें पृथ्वी प्रतिष्ठित ग्राम था। उस ग्राम में स्वामिभक्त, सदाचारी, गुणग्राही नयसार नामक एक ग्राम–चिन्तक रहता था।[1]

नयसार का जीवन सादगीपूर्ण एवं भक्ति रंग से ओतप्रोत था। दिल में करुणा की तरंगें सदा प्रवाहित होती रहती थीं। राजा शत्रुमर्दन ने एक बार नयसार को आदेश दिया जंगल में से लकड़ियां लाने का। राजाज्ञा को पाकर नयसार अनेक संगी–साथियों सहित खान–पान की सामग्री लेकर भयंकर अटवी में चला गया। लकड़ियां काटने का काम करने लगा।

मध्याह्न का समय हो गया। सूर्य अपनी तप्त किरणों से पृथ्वी को ताप से उद्विग्न करने लगा। पसीने की बूंदें शरीर को स्नान कराने लगीं। ग्रीष्म के ताप से शरीर उत्तप्त बन गया। पेट में क्षुधा की आग कार्य में बाधिका बन रही थी। हाथों ने विराम लेना स्वीकार किया। कार्य छोड़कर विश्राम एवं क्षुधा शान्त करने [illegible]

मण्डपाकार वृक्ष के नीचे आकर विश्राम करने लगा। सेवकों ने देखा, मालिक के भोजन करने का समय आ गया है, भोजन परोसना चाहिए। सेवक उत्तम रसवती लाते हैं। नयसार को कहते हैं– "स्वामी भोजन कीजिए।" हां, भूख बहुत तेज लग रही है लेकिन कोई अतिथि आ जाये तो उसको भोजन करवाकर तब भोजन करूंगा।

"भयंकर जंगल.......... यहां तो मनुष्य का चेहरा दिखना भी मुश्किल है। यहां..........! बात तो ठीक है लेकिन मार्ग–भूला कोई पथिक आ जाये तो थोड़ा इन्तजार कर लेता हूं।" नयसार ने कहा।

इन्तजार करते हुए कोई अतिथि आये तो शुभ भाव से अन्न दान दूं.......... इतने में ही "अरे! ये श्वेत वस्त्रधारी कौन आ रहे हैं? सेवक– देखकर, हां–हां कोई दिखाई दे रहे हैं। घूरकर – अरे ये तो जैन साधु आ रहे हैं। लगता है, मार्ग विस्मृत हो गया है। ओह! पसीने से शरीर लथपथ बन रहा है। चेहरा.......... वह भी थकान के कारण मुरझा रहा है। आंखें.......... मानो कुछ खोज रही हैं। इस भीषण गरमी में नंगे पांव, नंगा सिर, वस्त्र–पात्र उठाकर आने वाले तपस्वियों का स्वागत करना चाहिए। सहसा उठकर, मुनिराज को पास आया देखकर, पधारिए आपका स्वागत है। इस भीषण गरमी में भयंकर जंगल में आपका पदार्पण कैसे हुआ? हम हमारे स्थान से एक सार्थ व्यापारी समूह के साथ रवाना हुए। एक ग्राम आया। हम भिक्षा लेने गांव में गये। अन्तराय कर्म के उदय से वहां भिक्षा नहीं मिली। पुनः लौटकर आये तो वह सार्थ चला गया। हम पीछे–पीछे चलकर आये, लेकिन सार्थ नहीं मिला। हम यहां पहुंच गये–मुनियों ने कहा।

ओह! कितना निष्ठुर सार्थ! जिसे पाप की परवाह नहीं। आपको भी बीच मार्ग में छोड़ दिया। जरा भी मानवता नहीं, पर......... . मेरा तो प्रबल पुण्योदय है कि आप जैसे महान् पुरुषों के अतिथि–सत्कार का लाभ मिलेगा। आइये, पधारिये! पहले भोजन, जल ग्रहण कीजिए। नयसार ने कहा।

जहां भोजन सामग्री रखी है, वहां नयसार मुनिवर को ले जाता है। शुभ भाव से दान देता है और निवेदन करता है– आप पहले आहार कर लीजिए, फिर आपको नगर का मार्ग बतला देता हूं।

मुनिराज विधिवत एकान्त स्थान में जाकर, स्थान का प्रतिलेखन कर, कायोत्सर्ग करके यथानुकूल आहार ग्रहण करते हैं। पात्रों को साफ करके पुनः नयसार के समीप पधार जाते हैं।

नयसार स्वयं भक्तिपूर्वक मुनिवरों को मार्ग बतलाने जाता है। मार्ग आने पर कहता है–भगवन्! इस मार्ग से पधार जाना। मुनिवर बड़े आनन्दित होते हुए एक वृक्ष के नीचे विश्राम हेतु एवं नयसार को धर्मोपदेशना देने हेतु बैठते हैं। नयसार भी वहां बैठता है। मुनिराज उपदेश सुनाते हैं। उपदेश सुनकर नयसार अत्यन्त प्रमुदित होता है। धर्म के स्वरूप को समझता है और अपने को धन्य मानता हुआ समकित प्राप्त करता है।[2]

एक ही बार जीवन में धर्मोपदेश श्रवण किया। सुनते ही अप्रतिलब्ध– पूर्व में प्राप्त नहीं की हुई समयक्त्व–रत्न की प्राप्ति हो गयी। बड़ा हर्षित होकर मुनि को वन्दना करता है। मुनिवर चले जाते हैं। नयसार भी यथास्थान जाकर, लकड़ियां लेकर, गाड़े भरकर राजा के पास जाता है। गाड़े खाली कर सब पुनः अपने–अपने स्थान पर चले जाते हैं।

नयसार, जिसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गयी है, अब निरन्तर धर्म का अभ्यास करता है। धर्माराधना करते हुए अन्तिम बेला में नमस्कार महामन्त्र का स्मरण करता हुआ मृत्यु को वरण कर प्रथम देवलोक–सौधर्म कल्प में पल्योपम की आयुष्य वाला देव हो जाता है।[3]

दिव्य भोगों का उपभोग करते हुए, अनेक कर्णप्रिय वाद्यों की ध्वनि में लीन बनते हुए, भव्य नृत्य–नाटकों को देखते हुए नयसार देव अपनी पुण्यवाणी का उपभोग कर रहे हैं। सुख का लम्बा समय भी गगन में उड़ते हुए वायुयान की तरह छोटा प्रतीत होता है। न जाने उन नर्तकियों के पावों की थिरकन, वाद्ययंत्रों की सुमधुर ध्वनियों में कब समय निकल गया? आयुष्य पूर्ण हुआ। पुनः आगमन हुआ मनुष्यलोक में।

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में विनीता नगरी! जो भगवान् ऋषभदेव के लिए देवताओं ने निर्मित की थी।[4] प्रभु ऋषभदेव नाभि राजा एवं मरुदेवी के अंगजात थे। उन्होंने तत्कालीन स्थिति को देखकर युगलिक

के स्थान पर कर्मभूमि क्षेत्र बनाया। व्यापार, कृषि–कर्म, लेखन, युद्ध आदि की विद्याएं जनहित मानकर बताई। विवाह प्रथा का नवीनीकरण किया। सौ पुत्रों एवं दो पुत्रियों के जन्मदाता बने। कालान्तर में स्वयं दीक्षित हो गये। उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत नवनिधि एवं चतुर्दश रत्नों के स्वामी, इस युग के प्रथम चक्रवर्ती सम्राट बने।[5]

उन्हीं चक्रवर्ती सम्राट के घर–आंगन में एक नन्हा–सा शिशु किलकारियां करने लगा। वह अपने शरीर से निकलने वाली किरणों से सबका ध्यानाकर्षण करने लगा। इसी विशेषता से इस बालक का नाम पड़ गया 'मरीचि'![6] यह मरीचि का जीव, वही नयसार की आत्मा थी, जो देवलोक का आयुष्य पूर्ण कर पुनः 'मरीचि' के रूप में अवतरित हुई। राजघराने के विलासमय, सुख–सुविधापूर्ण माहौल में मरीचि बड़ा होने लगा।

शनैः–शनैः यौवनप्राप्त मरीचि राजभवनों में सुखपूर्वक समययापन करता है।.......... एक दिन बैठा था महल के गवाक्ष में। नगर में कोलाहल व्याप्त था। सोचा– आज क्या बात है? कोई उत्सव है? .... महोत्सव है? .... बहुत लोग इधर–उधर गमनागमन कर रहे हैं। पूछा सेवक से। आज नगर में क्या बात है? लोग कहां जा रहे हैं?

आपके पितामह ऋषभदेव भगवान, जिन्हें कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति हुई है, आज उनका प्रथम समवसरण होगा। सब लोग उनके दर्शन, वन्दन, प्रवचन–श्रवण करने जा रहे हैं।

तब तो पिताजी भी जायेंगे .... ?

हां, उनका रथ तैयार हो रहा है।

और .... :.......... 'दादीजी' .... ?

वे भी जायेंगी।

तो मैं भला पीछे क्यों रहूं? मैं भी जाऊँगा। रथ तैयार करो।

रथ में बैठकर पिता भरत के साथ समवसरण में पहुंचे। प्रथम प्रवचन श्रवण किया। विरक्ति आ गई। घर आया मरीचि पिता से वोला– मैं भी दीक्षा लूंगा।

दीक्षा .... ? दीक्षा .... कोई सरल काम नहीं। लोहे के चने चबाने के समान दुष्कर है।

पिताश्री! कायरों के लिए दुष्कर है, वीरों के लिए नहीं। मेरे दादा दीक्षा ले सकते हैं, तो मैं क्यों नहीं ले सकता?

तुम .... ? तुम बड़े .... सुकुमार हो।

नहीं पिताश्री! मैं संयम ही ग्रहण करूंगा। मैंने मन में निश्चय कर लिया है। आप आज्ञा दीजिए।

आखिर भरतेश्वर को आज्ञा देनी ही पड़ी।

अभिनिष्क्रमण सहित अपने पुत्र को भगवान् ऋषभदेव के चरणों में समर्पित करते हुए .... भगवन्! यह मेरा पुत्र अत्यन्त वल्लभकारी आपके चरणों में प्रव्रज्या अंगीकार करना चाहता है, आप इसे भागवती दीक्षा देने की कृपा करें।

भगवान् सामायिक चारित्र का प्रत्याख्यान कराते हैं।

दीक्षा ग्रहण कर मरीचि स्थविर भगवन्तों के पास ग्यारह अंगों का अध्ययन करते हुए समिति, गुप्ति एवं महाव्रतों का पालन करते हुए अपनी जीवनयात्रा को आगे बढ़ाते हैं।

ग्रीष्म का भयंकर समय। सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणों से भूमण्डल को संतप्त बना रहा था। गरम–गरम रेत, अग्नि की उष्णता की बराबरी करने लगी थी। ऐसी भीषण गर्मी में विहार करते हुए मुनि मरीचि के चरण गर्मी से लाल हो गये।

एक .... एक .... कदम उस गर्म रेत में चलना बड़ा दारुण लग रहा था। सारा शरीर स्वेद से तर–ब–तर हो गया। पसीना कपड़ों से टपकने लगा। उस विकट परीषह के आने पर मुनि का मन व्याकुल बन गया। चारित्र मोहनीय कर्म का उदय हुआ। मुनि चिन्तन करने लगे – ओह! संयम पालन बड़ा दुष्कर है! पिताजी ने कहा था .... "तुम सुकुमार हो, परीषह सहन नहीं कर पाओगे!" पर मैं नहीं माना। संयम का भार सुमेरु पर्वत को हाथों में उठाने के समान है। मैं .... इस .... भार को वहन करने में समर्थ नहीं हूं। लेकिन .... अब.......... ? अब .... क्या करूं?

अब संयम छोड़ गृहस्थ में जाऊँ .... वह तो अनुचित होगा। कुल–गौरव में दाग लगेगा। लोग .... क्या कहेंगे? पहले भावुकतावश ले लिया, अब छोड़कर आ गया .... तब क्या करूं? संयम ....

वहन करने में समर्थ .... नहीं–नहीं .... वहन नहीं कर पाऊंगा। गृहस्थ भी नहीं बन पाऊँगा। तब क्या करूं .... कोई मध्यम मार्ग खोज निकालूं। हां, यह ठीक लगता है। शरीर को असह्य कष्ट भी नहीं होगा, लोकापवाद भी नहीं।

क्या परिवर्तन करे निर्ग्रन्थ श्रमण त्रिदण्ड– मन, वचन, काय – दण्ड से विरक्त है लेकिन मैं त्रिदण्डयुक्त हूं। अतः त्रिदण्डी (त्रिदण्ड के चिह्न वाला संन्यासी) बन जाऊँ। ये साधु हाथों से बालों का लोच करने वाले हैं। मैं कैंची आदि शस्त्र से बालों को काट कर शिखाधारी बन जाऊँ। ये साधु महाव्रतधारी हैं। मैं अणुव्रतधारी बन जाऊँगा। ये मुनि कनक–कान्ता के त्यागी, निष्परिग्रही हैं। मैं मुद्रादिक परिग्रहधारी बन जाऊँगा। मुनि मोहजयी हैं और मैं मोह से आच्छादित हूं। अतः छत्र धारण कर लूंगा। ये मुनि जूते–चप्पलरहित हैं, मैं जूते–चप्पल पहन लूंगा। मुनि–गण नव बाड़ सहित ब्रह्मचर्य का पालन करने से शील की सुगन्ध से युक्त हैं, मैं शील की सुगन्धरहित होने से चन्दन का तिलक लगाऊँगा। मुनिगण कषायजयी होने के लक्ष्यवाले हैं, अतः श्वेत वस्त्र पहनते हैं, मैं कषाययुक्त होने के कारण काषायिक गेरुए वस्त्र धारण करूंगा। ये मुनि सचित्त जल के आरम्भ–त्यागी होने से स्नानादिरहित हैं, मैं परिमित जल से स्नान करूंगा। इस प्रकार स्वबुद्धि से निर्णय करके मरीचि ने साधुवेश का परित्याग करके त्रिदंडी संन्यास ग्रहण किया।

जैसे ही त्रिदण्डी संन्यासी का वेष ग्रहण किया, नगर में चर्चा होने लगी कि मरीचि ने साधुवेश का परित्याग कर दिया। लोगों का समुदाय उसके पास आने लगा, उससे पूछता कि धर्म क्या है? वह मरीचि कहता धर्म तो जो जिनेश्वर देव ऋषभदेव ने कहा, वही है। तब लोग पूछते हैं कि तुमने वह क्यों छोड़ा? तब मरीचि कहता है– मेरु के भार को उठाने के समान साधुजीवन दुष्कर है। मैं उसका भार वहन करने में समर्थ नहीं हूं। लेकिन वास्तव में प्रभु का मार्ग श्रेष्ठ है। जो भव्य जीव मरीचि से प्रतिबोध पाकर दीक्षा लेने की आकांक्षा रखता, मरीचि उन्हें भगवान् ऋषभदेव को सौंप देते हैं। इस प्रकार भगवान् के साथ–साथ विहार करता हुआ मरीचि सम्यक् प्ररूपणा करता था।

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी त्रिकालज्ञ भगवान् ऋषभदेव गन्धहस्ती के समान विचरण कर रहे थे। ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए भगवान् ऋषभदेव विनीता नगरी पधारे। भरत चक्रवर्ती को सूचना मिली कि भगवान् पधारे हैं। वे भगवान् के दर्शन, वन्दन, प्रवचन श्रवण करने हेतु उद्यान में गये। प्रभु ने भविष्य में होने वाले तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, और वासुदेव आदि के बारे में उपदेश फरमाया। प्रवचन श्रवण कर श्रद्धावनत भरत चक्रवर्ती ने भगवान् से पूछा, "भगवन् अभी यहां पर ऐसा कोई व्यक्ति है जो आप जैसा तीर्थंकर बनेगा?"

प्रभु ने फरमाया, "हां भरत, तुम्हारा पुत्र मरीचि, जो अभी त्रिदण्डी संन्यासी है, वह इस अवसर्पिणी काल का चौबीसवां तीर्थंकर बनेगा। साथ ही वह मरीचि पोतानपुर नगर में पहला वासुदेव तथा विदेह क्षेत्र की मूकापुरी नगरी में प्रियमित्र नामक चक्रवर्ती होगा।"

अच्छा भगवन्, आपने बहुत सुन्दर फरमाया है। जैसा आप फरमाते हैं, वैसा ही ठीक है। भगवन्, मैं अब मरीचि के पास जाता हूं। इस प्रकार भगवन् को कहकर भरत चक्रवर्ती स्वयं चलकर मरीचि के पास पहुंचे।

तीन बार तिक्खुतो से आदक्षिणा–प्रदिक्षणा की। फिर मरीचि से कहा– मरीचि! भगवान् ऋषभदेव ने मुझे बतलाया है कि तुम इस अवसर्पिणी के चौबीसवें तीर्थंकर बनोगे। साथ ही, उससे पहले पोतानपुर में त्रिपृष्ठ नामक प्रथम वासुदेव तथा मूकापुरी नगरी में प्रियमित्र नामक चक्रवर्ती बनोगे। मैंने तुम्हें जो आज वन्दन किया है, वह संन्यासी हो, इस कारण नहीं किया, क्योंकि मैं जिनधर्म के विपरीत आचरण करने वाले को न साधु मानता हूं, न वन्दन करता हूं। लेकिन तुम भावी तीर्थंकर हो, इसलिए तीर्थंकर भगवान् के गुणों के प्रति अनन्य अनुराग होने से मैंने तुमको वन्दन किया है। ऐसा कहकर भरत चक्रवर्ती वहां से लौट जाते हैं।

भरत चक्रवर्ती के वाक्यों का स्मरण करता हुआ मरीचि नृत्य करता हुआ– पोतानपुर में पहला वासुदेव फिर विदेह क्षेत्र की मूका नगरी में .... चक्रवर्ती और उसके पश्चात् मैं .... मैं .... चरम तीर्थंकर ओह! कितना गौरवमय मेरा कुल है। मैं ....

प्रथम वासुदेव! मेरे पिता प्रथम चक्रवर्ती और दादा .... वे प्रथम तीर्थंकर............ इस प्रकार भुजा–स्फोट करता हुआ, नृत्य करता हुआ मरीचि नीच गोत्र का उपार्जन कर लेता है।[8]

मरीचि अब भी भगवान् ऋषभदेव के साथ ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ, सम्यक् प्ररूपणा करता हुआ विहरण करता है। समय अपनी गति से गतिमान था। भगवान् ऋषभदेव आयुष्य पूर्ण कर निर्वाण प्राप्त हुए। तब भी मरीचि, जो भी भव्य जीव आते, उन्हें प्रतिबोधित कर साधुओं के पास भेज देता था। यही क्रम निरन्तर चलता रहा।

काल का चक्र अपनी गति से प्रवाहमान था। काल के झोंके कभी मनुष्य को सुख के पालने में झुलाते हुए आनन्दमय बनाते हैं तो कभी क्रूर झोंके सशक्त को भी अशक्त बनाकर उसे मजबूर कर देते हैं। यही हुआ मरीचि के साथ। हृष्ट–पुष्ट, सुगठित, सुडौल देह व्याधिग्रस्त हो गयी। आवश्यकता हुई कोई परिचर्या .... करे .... लेकिन करे कौन .... जो प्रतिबुद्ध हुए उनको भगवान् ऋषभदेव के साधुओं के पास भेज दिया और वे साधु, वे तो परिचर्या करने .... कैसे आ सकते थे।

चिन्तन बदला मरीचि का। ओह! जिन साधुओं को मैं श्रेष्ठ बताकर उनके पास शिष्य भेजता रहा, वे साधु कितने .... निदर्य . ... स्वार्थी ....? आज मैं अस्वस्थ हूं तो आंख उठाकर देखते भी नहीं .... पूछते नहीं .... नहीं–नहीं, ऐसा नहीं सोचना। अरे! ये तो खुद परिचर्या नहीं करते .... इनका आचार भिन्न है .... मुझ जैसे शिथिलाचारी की परिचर्या .... नहीं कर सकते तब क्या करना चाहिए .... बस, यही कि स्वास्थ्य ठीक होने पर सेवा करने के लिए एक शिष्य बनाना है। बस, यही चिन्तन करते हुए अपना दुःख हलका करने का प्रयास करता है।

असातावेदनीय का उदय क्षीण हुआ। साता की शांत लहरें जख्मी दिल में हवा करने लगी। मन में धुन थी किसी को अपना बनाने की, अपनत्व के मधुर झोंकों से भाव आन्दोलित हो रहे हैं। अपना वनाना है .... लेकिन क्या कोई अपना बन पायेगा? .... अपनत्व के धागे में पिरोना सरल है, लेकिन दायित्वों को निभाना सुदुष्कर है,

फिर भी चाहिए जीवन में कोई अन्तर्वेदना को सुनने वाला।

लौटती लहरों ने फिर मन में एक चषक भर दी। बस, बनाना है एक शिष्य। वह मेरा अपना होगा। सुख–दुःख का साथी होगा। मेरी सेवा–समर्चा में निमग्न रहने वाला होगा। स्वप्नलोक की मनभावन कल्पनाओं में मरीचि विहरण करने लगे।

मन खोज रहा था कोई साथी। जीवन के चौराहे पर, किसी–न–किसी मोड़ पर कोई–न–कोई मिल ही जाता है। मरीचि को भी मिला एक कपिल नामक कुलपुत्र। मरीचि ने अर्हत् धर्म का उपदेश दिया। तब कपिल ने पूछा– अर्हत् प्रवचन ही सत्य है, तब तुम उसका आचरण क्यों नहीं करते? मरीचि– भाई मैं उतना कठिन आचरण करने में समर्थ नहीं।

कपिल– तब क्या तुम्हारा मार्ग भी सच्चा है?

मरीचि– शिष्य–मोह से आविष्ट बन कर – हां, सच्चा है।

तब मैं भी त्रिदण्डी बनूंगा। यह कहकर वह कपिल त्रिदण्डी बन जाता है। मरीचि असत् मार्ग को सत् बताने के कारण एक कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण संसार का उपार्जन कर लेता है।[9] उस पाप की आलोचना किये बिना 84 लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर, अनशन कर, मृत्यु को प्राप्त कर, ब्रह्मलोक देवलोक में दस सागरोपम की आयु वाला देव बन गया।[10] कपिल ने आगे चलकर अपना सम्प्रदाय चलाया। वह सांख्यमत के नाम से प्रचलित हुआ।[11] ब्रह्मदेवलोक में वह मरीचि दिव्य भोगों का आनन्द लेता हुआ, वेणु–मृंदग आदि की झंकार से झंकृत बना हुआ दिव्य देवियों सहित देवलोक के सुखों का अनुभव करता है। दस सागरोपम तक दिव्य भोगों का भोग कर आयु क्षय होने पर वह देव कोल्लाक ग्राम में 80 लाख पूर्व की आयुष्य वाला कौशिक ब्राह्मण बना। यह महावीर की आत्मा का पांचवां भव था।[12] वह ब्राह्मण विषय–वासनाओं में संलिप्त, पैसा उपार्जन करने में प्रवीण, हिंसादि पाप कर्मों में निरत रहता था। ब्राह्मण रूप में उसने बहुत–सा जीवन का समययापन किया। तदनन्तर त्रिदण्डी संन्यासी बना।

अन्त में आयुष्य क्षय होने पर मृत्यु को प्राप्त कर, बहुत–सारे भवों में भ्रमण कर, स्थूल नामक स्थान में पुण्यमित्र नामक ब्राह्मण बना।

यह छठा भव था।[13] उस भव में भी त्रिदण्डी संन्यासी बना। अन्त में 72 लाख पूर्व आयुष्य का क्षय करके सौधर्म देवलोक में मध्यम स्थिति वाला देव बना। यह 27 भवों की गिनती की अपेक्षा से सातवां भव था।[14] यहां यह ज्ञातव्य है कि बीच–बीच में प्रभु महावीर की आत्मा ने अन्य अनेक भव भी किये, लेकिन वे 27 (सत्ताईस) भवों की गिनती में विवक्षित नहीं हैं।

देवलोक की दिव्य ऋद्धि का अनुभव करता हुआ, आयुष्य क्षय होने पर वहां से च्यवकर चैत्य नामक स्थान में 64 लाख पूर्व आयुष्य वाला अग्नि–उद्योत नामक ब्राह्मण हुआ। यह आठवां भव था।[15] वहां भी पूर्व की तरह बाद में त्रिदण्डी संन्यासी बना। फिर मृत्यु को प्राप्त कर ईशान देवलोक में मध्यम स्थिति वाला देव बना। यह नौंवा भव था।[16]

दूसरे ईशान देवलोक में दिव्य सुखों का उपभोग कर, वहां से च्यवकर मन्दिर–सन्निवेश में अग्निभूत नामक ब्राह्मण हुआ। यह दसवां भव था।[17] इस भव में भी त्रिदण्डी संन्यासी हुआ। अन्त में 56 लाख पूर्व की आयुष्य पूर्ण कर सनत्कुमार नामक तीसरे देवलोक में मध्यम आयु वाला देव बना।[18] अनेक प्रकार के विपुल भोगों को भोगता हुआ, आयु क्षय होने पर श्वेताम्बिका नगरी में भारद्वाज नामक ब्राह्मण हुआ। यह बारहवां भव था।[19] उस भव में भी त्रिदण्डी होकर चवालीस लाख पूर्व का आयुष्य भोगकर मृत्यु को प्राप्त कर माहेन्द्र कल्प देवलोक में मध्यम स्थिति वाला देव बना।[20] वहां से च्यव कर भव–भ्रमण करके राजगृह नगर में स्थावर नामक ब्राह्मण हुआ। यह भगवान् महावीर की आत्मा का चौदहवां भव था।[21] उस भव में भी त्रिदण्डी संन्यासी बना। चौतीस लाख, पूर्व की आयु भोग कर अन्त में ब्रह्मदेवलोक में मध्यम आयु वाला देव बना। यह 15वां भव था।[22] वहां से च्यव कर बहुत काल तक संसार में परिभ्रमण किया। तदनन्तर विश्वभूति युवराज बना।

उस काल में राजगृह नामक एक नगर था। उस राजगृह नामक नगर में प्रजापालक, प्रजावत्सल विश्वनंदी नामक राजा राज्य करता था। उसके सुकुमार, सुरूप, प्रियंगु नामक पत्नी थी। समय की परिधि ने घर–आंगन को मधुर ध्वनियों से सराबोर कर दिया। महारानी ने एक सुन्दर–सुकुमार बालक को जन्म, दिया जिसका नाम विशाखनन्दी

रखा गया। कुमार विशाखनन्दी राजघराने में बड़ा होने लगा।

राजा विश्वनंदी के एक लघु भ्राता था, विशाखभूति। अपने उस लघु भ्राता को योग्य जानकर उन्हें युवराज पद दे दिया। युवराज विशाखभूति अपनी युवरानी धारिणी के साथ सहवास करते हुए क्षणभंगुर सुखों में तल्लीन थे। युवरानी धारिणी ने भी यथासमय एक शिशु का प्रसव किया, जिसका नाम विश्वभूति रखा गया। आकर्षक नेत्र, सुदीर्घ भौंहें, विशाल भाल, सुकुमार देह–यष्टि वाला कुमार देव–पुत्र–सा लग रहा था। राजघराने में सुसंस्कारों से पोषित, शौर्य का पावन प्रतीक वह बाल–शिशु अनवरत यात्रा कर रहा था।

शनैः–शनैः यौवन की देहली पर पैर रखा। परिणय बन्धन में आबद्ध करने योग्य जानकर माता–पिता ने समानवय, समान रूप–लावण्य वाली तरुणियों के साथ प्रणय–सूत्र में बांध दिया। विवेकशीला तरुणियों के साथ क्रीड़ा करता हुआ विश्वभूति आनन्द–सरिता में स्वयं को निमग्न रखता था। पुष्पों के उद्यान में जाकर रमणियों सहित क्रीड़ा करना उसे अत्यन्त प्रिय था। वह पुष्पकरंदक राजउद्यान में अन्तेपुर–रानियों सहित क्रीड़ा करने जाया करता था। अपने अद्वितीय पराक्रम से यशःश्री का वरण करने वाला प्रजावत्सल बन गया। उसे देखने के लिए दर्शकों के अपलक नेत्र सदैव राहें निहारते थे। अभिनव आशापुंज विश्वभूति अब जन–विभूति बन चुका था।

एक दिन मनभावन मौसम एवं उत्साह–परिपूर्ण मन वाला वह विश्वभूति क्रीड़ा हेतु पुष्पकरंदक उद्यान में पहुंचा। इधर राजपुत्र विशाखनंदी भी क्रीड़ा हेतु वहां आया। द्वारपाल से पूछा– क्यों, भीतर कोई है?

हां, कुमार।

कौन?

राजकुमार विश्वभूति अपने अन्तःपुर सहित क्रीड़ा करने आये हैं। तब बाहर ही खड़ा हूं। विशाखनंदी ने कहा। विशाखनंदी बाहर खड़े हैं। इतने में महारानी की दासियां आती हैं। वे विशाखनंदी से– अरे! क्या बात है, आप राजउद्यान के बाहर खड़े हैं? भीतर कौन है?

भीतर विश्वभूति।

विश्वभूति अन्तेपुर सहित?

हां।

ओह! आप राजपुत्र बाहर खड़े हैं। वास्तविक आनन्द तो युवराज–पुत्र ले रहे हैं।

इतना कहकर दासियां महारानी के महल की ओर चली जाती हैं। रानी के समीप जाकर–

रानी साहिबा! आज कुछ अजीब–सा दृश्य देखा।

क्या? महारानी ने पूछा।

आज युवराज विश्वभूति तो पुष्पकरंदक उद्यान में अन्तेपुर सहित क्रीड़ा कर रहे थे और विशाखनंदी ....

वे तो बाहर खड़े चौकीदारी कर रहे थे।

हैं! यह क्या कहती है?

सच कहती हूं रानी साहिबा! हमने अपनी आंखों से देखा है।

अरे! गजब हो गया! महाराज क्या कर रहे हैं? मेरा लाल राजकुमार द्वारपाल बना है.............. अभी जाती हूं.............. कोपभवन में.............. ।

महारानी के मन में ईर्ष्या की आग की चिनगारी सुलग गयी। नारी वह कलाकार है जो जब चाहे वैसा वातावरण बना सकती है। पुरुषों को सेवक बनाकर नचा भी सकती है और स्वयं दासी बनकर समर्पित होने का नाटक भी कर सकती है। महारानी ने मन में पक्का निश्चय कर लिया कि राजा के मन से विश्वभूति कांटे को निकाल फेंकना है।

चली गई कोप भवन में। बेतार के तार की तरह महाराजा को शीघ्र सूचना मिली कि महारानी कोपभवन में है।

महाराज तुरन्त कोप भवन की ओर प्रस्थान करते हैं।

कोपभवन में जाकर, अरे! महारानी क्या हुआ?

अब फुर्सत मिली है पूछने की? क्या हुआ? राजकुमार द्वारपाल की भांति खड़ा रहे और राजउद्यान में विश्वभूति अन्तःपुर सहित क्रीड़ारत रहे, क्या यही शासन–व्यवस्था है? क्या यही राजकुमार का सत्कार है? धिक्कार है, ऐसे राज्य में जीने से.............. अभी या तो

विशाखनंदी पुष्पकरंदक उद्यान में जायेगा या फिर मैं अन्न–जल त्याग कर मरण को प्राप्त करूंगी।

महारानी! धैर्य धारण करें। व्यवस्था में आवश्यक संशोधन करेंगे..............

संशोधन आज होना चाहिए। अभी होना चाहिए। अन्यथा तुमको रानी..............नहीं मिलेगी।

क्रोध का पारा बहुत तेज है। इसे विराम देना मुश्किल है। कुछ–न–कुछ उपाय करना होगा.............. क्या उपाय करूं?..............

वैसे ही पुष्पकरंदक उद्यान से नहीं निकाल सकता। तब क्या करूं?.............. जिससे कार्य भी हो.............. और व्यवहार भी न बिगड़े. .... क्योंकि विश्वभूति.............. वह तो.............. मेरे प्रति श्रद्धावनत है। राजा चिन्तन की गहराइयों में डूबे हैं। तभी उपाय घ्यान में आता है। महारानी से कहते हैं– अभी जाता हूं; विश्वभूति को उद्यान से बुलाता हूं। विशाखनंदी उद्यान में चला जायेगा।

ठीक है। रानी ने कहा।

राजा–दरबार में जाकर–युद्ध की भेरी बजाओ।

जो आज्ञा। सेवक ने कहा।

युद्ध की भेरी बजी। नगर में कोलाहल व्याप्त हो गया। रणभेरी बज गई.............. किससे युद्ध हो रहा है? अचानक यह सब कैसे....... ....? तिराहों, चौराहों, राजमार्ग पर चर्चा होने लगी।

युवराज–पुत्र विश्वभूति के कानों तक भी खबर चली गयी। तब विश्वभूति ने अपनी पत्नियों से कहा, मैं जा रहा हूं, रणभेरी बज गयी है।

विश्वभूति लौटकर, राजा के पास जाकर– महाराजा सेना सजाकर, कहां प्रस्थान कर रहे हैं?

सामन्त पुरुषसिंह द्वारा आत्मसमर्पण कराने हेतु।

अरे! वह तो मैं ही कर सकता हूं। आप रुकिये मैं जाता हूं।

विश्वभूति ससेना प्रस्थान करता है।

पुरुषसिंह सामन्त! वो तो स्वयं युवराज को आता देखकर सामने जाता है। सत्कार करता है। युवराज उसे समर्पित ही देखकर

सीमा–रक्षा का कार्य सम्हलाकर पुनः लौटते हुए पुष्पकरंदक उद्यान में जाने को उद्यत होता है।

द्वारपाल–रोककर, अन्दर..............राजपुत्र विशाखनंदी हैं।

क्या? विशाखनंदी? विश्वभूति ने पूछा।

हां।

ओह! तब मेरे को उद्यान से निकालने के लिए ही यह रणभेरी बजी। यह कूटनीति है, कूटनीति।

पास में कैथ वृक्ष को क्रोधावेश में एक मुष्टि प्रहार करता है। इतने फूल जमीन पर गिरते हैं कि आस–पास की भूमि फूलों से व्याप्त हो जाती है। तब दांत मिसमिसाते हुए द्वारपाल से– यदि बड़े पिताश्री पर मेरी भक्ति नहीं होती तो आज.............. कैथ के फूलों की तरह तुम्हारा मस्तक भूमि पर पटक देता.............. पर मुझे.............. ऐसे............... कपटपूर्ण भोग नहीं भोगना है। इस प्रकार कहता हुआ विश्वभूति चला जाता है। मुनि संभूति के पास पहुंचकर संयम ग्रहण कर लेता है।[24]

जब राजा विश्वनंदी को ज्ञात हुआ कि युवराज–पुत्र विश्वभूति साधु बन गया, तब अपने लघुभ्राता सहित राजा को मनाने गया। राज्य लेने की प्रार्थना की, लेकिन.............. वह तो अब पूर्ण विरक्त बन चुका था। उसने राज्य–लाभ की आकांक्षा से संयम परित्याग करना स्वीकार नहीं किया। गुरु की सन्निधि में विहार कर दिया।

शूरवीर पुरुष जो भी कदम उठाते हैं, वे सहर्ष राह पर चलते हैं। चाहे लाखों संकट आयें, लेकिन झुकते नहीं; थकते नहीं। वे संघर्षों में भी अडिग रहकर अपनी जीवनयात्रा गतिमान बनाये रखते हैं। विश्वभूति संयम लेकर कर्म काटने में तत्पर बन गया। विविध प्रकार की तपश्चर्या द्वारा अपनी बलिष्ठ देह को कृशकाय बना लिया। शरीर कृश होने पर भी मन बलवान बना था। मासखमण की तपस्या चल रही थी।

इधर विशाखनंदी राजपुत्र भोग भोगते हुए अपना समययापन कर रहा था। उसी क्रम में मथुरा के राजा की कन्या के साथ उसका विवाह होने वाला था। बरात सजाकर वह मथुरा के पास, जहां मण्डप

सजा था वहां, पहुंचा। संयोग से विश्वभूति मासखमण के पारणे हेतु उधर से निकला। कुछ लोगों ने देखा, फिर विशाखनंदी से कहा– देखो–देखो विश्वभूति मुनि जा रहे हैं।

विशाखनंदी क्रोध से देखता है। संयोग से एक गाय विश्वभूति मुनि को नीचे गिरा देती है।

तब व्यंग्य से विशाखनंदी– अरे कैथ के फूलों को नीचे गिराने वाले बलशाली कुमार, क्या हुआ? तुम्हारा बल कहां गया? आज गाय द्वारा भी तुम गिरा दिये गये। इतना कहकर जोर से उपहास करता है।

तब विश्वभूति मुनि को क्रोध आ जाता है क्योंकि शास्त्र कहता है, तपस्वी को क्रोध का अजीर्ण होता है। विश्वभूति मुनि क्रोध में गाय को सींगों से उठाकर आकाश में उछाल देते हैं। उसी समय निदान करते हैं– यदि मेरी तपश्चर्या का फल हो तो मैं भवान्तर में विशाखनंदी को मारने वाला बनूं। इस प्रकार का निदान कर लिया। तत्पश्चात् संयम का पालन करता हुआ करोड़ वर्ष का उत्कृष्ट आयुष्य भोग कर पूर्व पाप की आलोचना किये बिना मृत्यु को प्राप्त कर महाशुक्र विमान में उत्कृष्ट आयु वाला देव बना। यह भगवान् महावीर की आत्मा का 17वां भव था।[25]

कर्मों की रेखा बहुत बलवान है। कर्म व्यक्ति को चक्रवर्ती से नैरयिक बना देते हैं। नारक से तीर्थंकर बना देते हैं। कर्मों की मार से महापुरुष भी बच नहीं सकते। इनकी लीला बड़ी गजब है। किस समय व्यक्ति कर्मों के कारण क्या कर देता है– यह सर्वज्ञ ही जान सकते हैं। कर्मों की विचित्र लीला घटी, राजा 'रिपुप्रतिशुत्र' के जीवन में।

भरत क्षेत्र में पोतानपुर नामक नगर था। वहां राजा रिपुप्रतिशत्रु राज्य करता था। उसके भद्रा नाम की महारानी थी। उसको एक बार अर्धनिद्रित अवस्था में, अर्धरात्रि में चार महास्वप्न आये। जिनके फलस्वरूप महारानी ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया, जिसका नाम अचलबलदेव रखा गया। कुछ समय पश्चात् महारानी ने मृगनयनी सदृश एक कन्यारत्न को जन्म दिया जिसका नाम मृगावती रखा। मृगावती अद्वितीय सुन्दरी, सुकुमारी थी। राजघराने में वह क्रमशः बड़ी होने लगी। यौवन में प्रवेश पाने वाली वह राजकुमारी अपूर्व लावण्यवती प्रतीत हो रही

थी। अंग–अंग से सुकुमारता झलक रही थी। एक दिन वह अपने पिताश्री को प्रणाम करने गयी। जैसे ही पिता के चरणों में प्रणाम किया, पिता उसके रूप–लावण्य को देखकर मुग्ध हो गया। प्रणय की चिनगारी मन को छूने लगी, उसी प्रणय से समाकुल बन पिता ने कामुकता से सहलाते हुए अपनी पुत्री को गोद में बिठा लिया। मन में वासना की तरंगें उठने लगीं। निष्कुल बना वह मन में ठान लेता है कि मुझे अपनी लड़की के साथ विवाह करना है। निश्चय करके थोड़ी देर बाद लड़की को विदा कर दिया।

काम–वासना से दूषित चित्त वाला वह रिपुप्रतिशत्रु राजा चपल बन रहा था।

एक–एक घड़ी मृगावती के बिना उसे भारी लग रही थी। चिंतन चल ही रहा था कि मृगावती को कब पत्नी बनाऊँ? कैसे बनाऊँ? यदि ऐसे ही कर लेता हूं विवाह, तो प्रजा रुष्ट होगी। मेरा राज्य से निर्वासन भी हो सकता है। तब प्रजा की कूटनीति से अनुमति लेकर ही कार्य करना है। ऐसा चिंतन कर एक दिन नृपति राज्य–सभा में गये।

सभा जुड़ी थी। राजा ने वृद्धजनों से प्रश्न किया कि बताओ मेरे स्थान पर जो रत्न उत्पन्न होता है वह किसका कहलाता है? वृद्धजनों ने कहा– राजन्! आपका। इस प्रकार तीन बार कहने के पश्चात् जब वृद्धजनों ने एक ही उत्तर दिया तब राजा ने सेवकों से कहा– जाओ, बुलाओ मृगावती को। मुझे उससे विवाह करना है। नगर के सब लोग लज्जित हो गये। गर्दन झुकाकर नीचे बैठ गये। लेकिन कामी राजा के मन में लज्जा को कोई स्थान नहीं था। कामुकता के साथ लज्जा कभी निवास नहीं करती। आखिरकार मृगावती राजदरबार में आई। वहीं जनता के समक्ष राजा ने अपनी पुत्री के साथ गन्धर्व विधि से विवाह कर लिया। कुल–गौरव में दाग लगने से महारानी भद्रा अपने पुत्र अचलबलदेव को लेकर दक्षिण में चली गयी। अचलकुमार ने माहेश्वरी नामक नवीन नगरी निर्मित की और वहां पर अपनी माता भद्रा को रखा और स्वयं पिता के पास चला गया। इधर लोगों ने रिपुप्रतिशत्रु राजा का नाम बदलकर प्रजापति रख दिया। प्रजा का तात्पर्य पुत्रीरूप

प्रजा, उसका पति प्रजापति, ऐसा नाम रख दिया।[26]

वह प्रजापति राजा अपनी धर्मप्रिया मृगावती के साथ भोग भोगता हुआ समययापन कर रहा था। एक दिन महारानी मृगावती ने सात महास्वप्न देखे। जिनके परिणामस्वरूप समय आने पर सुन्दर, सुकुमार वासुदेवकुमार को जन्म दिया। यह इस अवसर्पिणी का प्रथम वासुदेव था। यह भगवान् महावीर का ही जीव था जो महाशुक्र देवलोक से आकर उत्पन्न हुआ। उस कुमार की पीठ में तीन पांसुलियां होने से उसका नाम त्रिपृष्ठ वासुदेव रखा गया। यह भगवान् महावीर का अठारहवां भव था।[27]

अपरिमित बलशाली त्रिपृष्ठ वासुदेव राजप्रागंण में बड़े होने लगे। 80 (अस्सी) धनुष प्रमाण शरीर की ऊँचाई वाले वे त्रिपृष्ठ वासुदेव अपने भ्राता बलदेव के साथ क्रीड़ा आदि करते थे। सर्व कलाओं में प्रवीण बनकर, यौवनप्राप्त वे त्रिपृष्ठ वासुदेव अपने पराक्रम से विख्यात बन गये।

इधर पूर्वभव का वैरी विशाखनंदी का जीव अनेक भवों में भ्रमण करता हुआ तुंग पर्वत पर केसरी सिंह बन गया।[28] वह शंखपुर प्रदेश में उपद्रव करने लगा। उसी समय अश्वग्रीव नामक प्रतिवासुदेव [illegible] त्रिपृष्ठ का पिता प्रजापति उसी का माण्डलिक राजा था। [illegible] एक नैमित्तिक से पूछा– मेरी मृत्यु किसके द्वारा होगी? [illegible] नैमित्तिक ने कहा कि जो आपके चण्डवेग दूत को पीटेगा [illegible] पर रहे हुए केसरी सिंह को मारेगा उसी व्यक्ति [illegible] होगी।[29] मृत्यु................ जिसका नाम श्रवण कर ही [illegible] हैं। अश्वग्रीव ने चिन्तन किया, ऐसा कौन है, [illegible] ध्यान एकाग्र किया, स्मरण हो आया कि [illegible] शूर, वीर, पराक्रमी और बलवान हैं। वे ही [illegible] परीक्षा करनी चाहिए।

राजा अश्वग्रीव ने नैमित्तिक के [illegible] चण्डवेग दूत को प्रजापति के [illegible] सहित राजसभा में बैठा संगीत की [illegible] भाव–भंगिमाओं से ओतप्रोत [illegible]

समय चण्डवेग दूत ने बिना कोई सूचना दिये अकस्मात् प्रवेश किया। राजा प्रजापति समाकुल बन गये। सारा संगीत–नृत्य स्थगित करने का आदेश दिया। चण्डवेग से वार्तालाप किया। अचल बलदेव और त्रिपृष्ठ वासुदेव को दूत का यह कृत्य अनुचित लगा। अकरणीय कार्य की सजा देनी ही चाहिए। ऐसा चिन्तन कर दोनों राजकुमारों ने अपने सेवकों से कहा– जब यह दूत पुनः यहां से चला जाये, तब हमको सूचना देना। सेवकों ने "जो आज्ञा।" कहकर कुमारों के आदेश को स्वीकार कर लिया।

कुछ दिनों पश्चात् वार्तालाप करके अश्वग्रीव का दूत चण्डवेग जाने को उद्यत हुआ। राजा प्रजापति ने सत्कारपूर्वक उसे विदा किया। इधर अनुचरों ने बलदेव, वासुदेव को सब हाल बता दिया। तब दोनों राजकुमार जंगल में पहुंचे, जहां चण्डवेग था, वहां पर आये और उसे बुरी तरह पीटने लगे। उसकी पिटाई देखकर संगी–साथी भाग खड़े हुए।

राजा प्रजापति को तुरन्त सूचना मिली कि दोनों कुमार जंगल में चण्डवेग दूत की पिटाई कर रहे हैं। तब भावी अनिष्ट की आशंका से भयाक्रान्त होकर प्रजापति ने चण्डवेग को पुनः बुलाया। अत्यधिक सत्कार, सम्मान कर, खूब पारितोषिक देकर उसे कहा– कुमारों ने जो पिटाई की है, उसे तुम महाराजा अश्वग्रीव से मत कहना। चण्डवेग ने यह बात स्वीकार कर ली। परन्तु जो साथी भाग गये थे उन्होंने चण्डवेग के पहुंचने से पहले ही सारी बात राजा अश्वग्रीव को बता दी।[30] जब वृत्तान्त का पता चल ही गया तब चण्डवेग ने भी भयातुर होकर सारी बात बता दी। राजा अश्वग्रीव अत्यन्त कोपायमान हुए और निर्णय लिया कि इन कुमारों को मरवाना है।

राजा अश्वग्रीव ने तुंगगिरि पर शालि–धान्य की खेती करवा रखी थी। वहां चावलों की विशाल खेती होती थी। लेकिन............... उस तुंगगिरि पर रहने वाला सिंह बीच–बीच में उपद्रव करता रहता था। किसान परिवारों का विनाश भी कर देता। तब किसान, राजा अश्वग्रीव के पास विनती करने लगे– राजन! तुंगगिरि की कन्दराओं में निवास करने वाला सिंह हमारी बड़ी लगन और मेहनत से की गयी

खेती को विनष्ट कर देता है। साथ ही, हमारे परिवारों को भी नष्ट कर रहा है। अतः आप हमारी एवं खेती की सुरक्षा का कोई प्रबन्ध कीजिए।

तब राजा अश्वग्रीव किसानों की पुकार सुनकर, बारी–बारी से अपने अधीनस्थ राजाओं को, खेती एवं किसान परिवारों की सुरक्षा के लिए वहां भेजने लगा। जब अश्वग्रीव ने चण्डवेग दूत को मारने की बात सुनी तो बदला लेने की भावना से राजा प्रजापति को संदेश भिजवाया कि आप तुंगगिरि जाओ और सिंह से खेती और किसानों की रक्षा करो।

प्रजापति आदेश श्रवण कर समझ गया कि अभी मेरी बारी नहीं है, फिर भी राजा का जो आदेश मिला है वह पुत्रों के चण्डवेग के प्रति दुर्व्यवहार के कारण ही मिला है। प्रजापति ने सेना सजाई और स्वयं जाने को उद्यत बने। तब कुमारों ने कहा– पिताश्री आप मत जाइये। एक सिंह से खेत की रक्षा तो हम भी कर सकते हैं। हम ही जायेंगे। पुत्रों के आग्रह करने पर पिता रुक गये। पुत्रों ने प्रस्थान कर दिया।

पुत्र तुंग पर्वत पर पहुंच गये। पहुंचने के बाद किसानों से पूछा– दूसरा राजा कितने समय तक यहां रहता है? तब उन्होंने कहा– जब तक फसल प्राप्त नहीं हो जाती तब तक चतुरंगिनी सेना सहित यहां रहना है। सिंह से रक्षा करता है। त्रिपृष्ठ वासुदेव ने सोचा, इतने समय तक यहां रहूंगा तो भी यह क्षेत्र सदा के लिए उपद्रवरहित नहीं होगा। अतः उपद्रवकारी सिंह को ही समाप्त कर देना चाहिए। ऐसा चिन्तन कर वासुदेव ने लोगों से कहा– अच्छा बताओ, वह सिंह कहां रहता है? लोगों ने, जहां शेर रहता था, वह गुफा बतला दी। वासुदेव रथारूढ़ होकर शेर की गुफा के बाहर पहुंचे और जोर से ललकारा। उस ललकार को सुनकर गंभीर गर्जना करता हुआ शेर गुफा से बाहर आने लगा। तब त्रिपृष्ठ वासुदेव ने चिन्तन किया कि मैं रथ पर हूं, और यह पैदल है। मैं शस्त्रसहित हूं और यह सिंह शस्त्ररहित है। तो मुझे भी पैदल, शस्त्ररहित युद्ध करना चाहिए। यों सोचकर नीचे उतर गया। तब सिंह को जातिस्मरण ज्ञान पैदा हुआ। सोचा, अरे यह पुरुष कैसा मूर्ख है। प्रथम तो अकेला आया है, फिर रथ से उतर गया है और शस्त्र भी इसने रथ में छोड़ दिये हैं। मदांध हाथी की तरह दुर्मद इस त्रिपृष्ठ

को मार डालूं। इस प्रकार चिन्तन कर मुंह फाड़ता हुआ सिंह त्रिपृष्ठ वासुदेव पर कूद गया। तब त्रिपृष्ठ वासुदेव ने एक हाथ से ऊपर का जबड़ा पकड़ा, दूसरे हाथ से नीचे का और दोनों जबड़े पकड़कर शेर को फाड़ दिया। तत्काल देवताओं ने वासुदेव के ऊपर पुष्प–आभरण बरसाते हुए उद्घोष किया– साधु! साधु![31] उसी समय शरीर के दो टुकड़े हुआ सिंह सोचता है, अहोः ये छोटा कुमार! इसने मुझे कैसे मार दिया? इस प्रकार ईर्ष्या से स्फुरणा करने लगा।

उस समय उस वासुदेव का सारथि, जो गौतम गणधर का जीव था,[32] उसने शेर से कहा कि अरे सिंह! जैसे तूं पशुओं में शेर है वैसे ही वासुदेव पुरुषों में सिंह के समान पराक्रमी है। यदि किसी सामान्य पुरुष द्वारा मृत्यु पाता तब तो और बात थी लेकिन इन महापुरुष द्वारा मारा जाता हुआ, क्यों ग्लान भाव लाता है? सारथि की उस मधुर वाणी को सुनकर सिंह शान्त बन गया और मृत्यु को प्राप्त कर चौथी नरक का नैरयिक बना। उस शेर के चर्म को लेकर त्रिपृष्ठ अपने नगर की ओर रवाना हुए और उन किसानों से कहा– अब मनचाही खेती करो और इच्छा हो जितना चावल उगाओ। यह बात तुम अश्वग्रीव को बता देना कि हमने उपद्रवकारी शेर को मार दिया है। ऐसा कहकर वासुदेव, बलदेव सहित पोतानपुर लौट गया।[33]

किसानों ने सिंह मारने का वृत्तान्त राजा अश्वग्रीव से कह दिया। वृत्तान्त श्रवण कर अश्वग्रीव को नैमित्तिक की बात पर अचल विश्वास हो गया कि भविष्य में त्रिपृष्ठ ही मुझे मारने वाला होगा। इसलिए मैं जीवित रहते ही त्रिपृष्ठ को समाप्त कर देता हूं, तो मैं अमर बन सकता हूं। फिर भू–मण्डल पर मुझे कोई मारने वाला नहीं रहेगा। बस, इसी कपोल–कल्पना से राजा अश्वग्रीव ने एक दूत पोतानपुर राजा प्रजापति के पास भेजा और कहलवाया कि प्रजापति! तुम अपने दोनों पुत्रों को मुझे सौंप दो ताकि दोनों को मैं अलग–अलग राज्य का स्वामी बना दूंगा।

दूत प्रजापति के पास पहुंचा और निवेदन किया– महाराज! राजन् अश्वग्रीव आपके दोनों पुत्रों को बुला रहे हैं। वे उनको अलग–अलग राज्य का मालिक बनायेंगे। तब प्रजापति ने कहा, पुत्रों की क्या

आवश्यकता है? मैं स्वयं ही महाराज की सेवा में उपस्थित हो जाऊँगा।

दूत– नहीं............... नहीं............... आपको नहीं आना है। यदि आप अपने पुत्रों को नहीं भेजते हैं तो युद्ध के लिए तैयार रहना।

प्रजापति– युद्ध............... किस बात का............... ?

दूत– आदेश नहीं मानने का। उसी क्षण बलदेव और वासुदेव दोनों क्रोध से आग–बबूला होते हुए, मार–पीट कर दूत को भगा देते हैं।

दूत, पहुंचकर– राजन्! वे दोनों आने वाले नहीं हैं। आप भले ही युद्ध की तैयारी कर लें।

अश्वग्रीव– अच्छा! तब रणभेरी बजाओ। राज्य में रणभेरी बजी। दोनों तरफ की सेनाएं युद्ध का तुमुल नाद करती हुई रथावर्त पर्वत के पास पहुंच गयीं। दोनों सेनाएं भीषण बाणों से एक–दूसरे को हताहत करने लगीं। खून की नदियां बहने लगीं। कटी पतंगों की तरह सैनिक धराशायी होने लगे।

तब त्रिपृष्ठ ने सोचा, वास्तव में युद्ध तो अश्वग्रीव और हमारे बीच होना चाहिए। निर्दोष सैनिकों को मारने से क्या लाभ? तब त्रिपृष्ठ ने अश्वग्रीव को ललकारा– राजन्! युद्ध करना है तो हमारे साथ कीजिए। निर्दोष सैनिकों को मारने से क्या लाभ? तब अश्वग्रीव त्रिपृष्ठ के सामने रथ लेकर युद्ध हेतु उपस्थित हुआ। त्रिपृष्ठ ने एक–एक करके अश्वग्रीव के सब अस्त्र निष्फल कर दिये। तब त्रिपृष्ठ को मारने के लिए अश्वग्रीव ने चक्ररत्न फेंका। वासुदेव त्रिपृष्ठ ने उसे पकड़ लिया और उसी चक्ररत्न से अश्वग्रीव की गर्दन काट दी। उसी समय देवों ने पुष्पवृष्टि करते हुए घोषणा की, "अचल प्रथम बलभद्र और त्रिपृष्ठ प्रथम वासुदेव प्रकट हो गये हैं।"[34]

देव–वाणी सुनकर सर्वत्र जय–जयकार की ध्वनि व्याप्त हो गयी। तत्काल सब महीपति आये और उन्होंने बलदेव–वासुदेव को प्रणाम किया।[35]

तब वासुदेव ने अपने भुज–बल से दक्षिण पर अपना एकछत्र आधिपत्य कर लिया। आधिपत्य करने के पश्चात् त्रिपृष्ठ वासुदेव पोतानपुर लौटे। तब सभी राजाओं ने और जनता ने अर्धचक्री वासुदेव

का अभिषेक किया। वासुदेव का अभिषेक करने हेतु देवता भी अपने–अपने स्थानों से चलकर आये और जो रत्न–वस्तुएं उनसे दूर थी, वह सब त्रिपृष्ठ के पास उपस्थित कीं। इस प्रकार पोतानपुर में तीन खण्ड का राज्य करते हुए त्रिपृष्ठ वासुदेव अपने अद्भुत पराक्रम का परिचय दे रहे थे।

एक दिन संध्या ढल रही थी। क्षितिज के आर–पार अरुणिम आभा वायुमण्डल में मिलन की प्रतीक बन रही थी। अरुणिमा को दृष्टिगत कर खग–कुल अपने–अपने नीड़ की ओर लौट रहा था। दिनभर परिश्रम के बाद विश्रान्ति समय को प्राप्त कर सभी मन में शांति की लहरों से अनुप्राणित बन रहे थे। वासुदेव त्रिपृष्ठ भी अपने राजभवन में इस आनन्दमयी वेला का आनन्द ले रहे थे।

इतने में अनुचर आकर–महाराज की जय हो! विदेश से मधुर गायकों की मण्डली आई है। वह आपको अपनी मधुर स्वरलहरियां सुनाना चाहती है।

त्रिपृष्ठ–अच्छा! उन्हें उपस्थित करो।

अनुचर– गायकों से– आपको वासुदेव याद कर रहे हैं। गायक मण्डली, प्रवेश कर– महाराज की जय हो! हम आपको मधुर संगीत सुनाने बहुत दूर से आये हैं।

त्रिपृष्ठ–अच्छा, सुनाओ।

वासुदेव, गायकों की मधुर स्वरलहरी सुनने उत्सुक बनते हैं। गायक मण्डली बड़ी ही मधुर स्वरलहरियां प्रसरित करती हैं, जो वासुदेव एवं सभी श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध करने लगती हैं। त्रिपृष्ठ मन्त्रमुग्ध बने संगीत में लीन हो जाते हैं। कुछ समय बाद वासुदेव को सुस्ती आने लगती है। वे चिन्तन करते हैं कि अब मेरे निद्रा का समय आ गया है। अभी इस संगीत को बंद करना ठीक नहीं है। तब.................. शय्यापालक को आदेश देता हूं।

त्रिपृष्ठ, शय्यापालक से– देखो मुझे निद्रा आ रही है, जब मुझे नींद आ जाये तब तुम संगीत को बंद करवा देना।

शय्यापालक– जो आज्ञा।

वासुदेव निद्राधीन हो जाते हैं। शय्यापालक सोचता है, महाराज

तो सो गये हैं, लेकिन मुझे यह संगीत बड़ा रुचिकर लग रहा है, अतः अभी क्यों बन्द करवाऊँ। चलने देता हूं। सुबह होने पर ही बन्द करवा दूंगा।

संगीत की महफिल चलती रही, कर्णप्रिय ध्वनियों को सुनते–सुनते न जाने कब रात्रि व्यतीत हो गयी, कुछ पता भी न चला।

भोर का उजाला दिशाओं को प्रकाशमान बनाने लगा। पक्षी अपने–अपने घोंसले छोड़कर चहचहाट करते हुए जाने लगे। वातावरण की नीरवता समाप्त होने लगी। तभी त्रिपृष्ठ वासुदेव की निद्रा खुल गयी।

अरे! भोर हो गया और यह क्या सुन रहा हूं? क्या संगीत अभी बन्द नहीं हुआ? सत्य है? ध्यान लगाकर सुनते हैं। हां, हां............... संगीत चल रहा है। क्या किया शय्यापालक ने? आदेश का पालन क्यों नहीं किया? अनुशासन भंग क्यों किया? तब बुलाना चाहिए। तुरन्त शय्यापालक को बुलाकर त्रिपृष्ठ कहते हैं– क्या बात है? संगीत बन्द क्यों नहीं किया?

शय्यापालक नीचे गर्दन झुकाये चुपचाप सुनता है।

त्रिपृष्ठ– बोलते क्यों नहीं, जल्दी बोलो।

शय्यापालक– राजन्! अपराध माफ कीजिए। मेरे कर्णों को अत्यन्त प्रिय लग रहा था, इसलिए.............. मैंने............... बन्द........... नहीं किया।

अच्छा! वासुदेव ने कहा– तुमने अपनी एक इन्द्रिय के वशीभूत होकर आदेश ठुकरा दिया। अब जिन कानों ने संगीत की मधुर ध्वनि सुनी है, उन्हीं कानों में गरम–गरम उबलता हुआ शीशा डाला जायेगा।

शय्यापालक– अपराध............ माफ....... कर.......दीजिए।

त्रिपृष्ठ– धनुष से छूटे हुए बाण की तरह मुंह से निकले हुए शब्द वापिस नहीं आते।

तुरन्त आज्ञा दो, अनुचर को– शय्यापालक के कानों में उबलता हुआ शीशा डाला जाये।

तब अनुचर वैसा ही करता है। गरम–गरम उबलता शीशा शय्यापालक के कानों में डालता है। उस वेदना से अभिभूत होकर

आर्तध्यान करता हुआ शय्यापालक मृत्यु का वरण कर लेता है। इस कृत्य से वासुदेव ने निकाचित कर्मों का बन्धन किया। तदनन्तर वे वासुदेव आरम्भ परिग्रह में संलिप्त बनकर भोगों का भोग–उपभोग करते हुए, 84 लाख वर्ष तक राज्य का संचालन करते हुए, सातवीं तमस्तम प्रभा नरक के अप्रतिष्ठान नरकावास में नैरयिक रूप में जन्म ग्रहण करते हैं।[36] इधर अपने भाई त्रिपृष्ठ वासुदेव का वियोग हुआ देखकर संसार के रिश्ते–नातों को क्षणभंगुर जानकर अचल बलदेव संयम अंगीकार करते हैं और उसी भव में मोक्ष चले जाते हैं। वासुदेव तो पूर्वजन्म में निदानकृत होते हैं और वे मरकर नरक में ही जाते हैं। त्रिपृष्ठ वासुदेव भी अपनी वासुदेव पदवी के कारण नरकगामी बने।

सप्तम नरक, महाभयंकर असाता को देने वाला है। भयंकर अन्धकार और एक–दूसरे को मारना, काटना, दुःख देना, पीड़ित करना, यही सब वहां पर होता है। त्रिपृष्ठ वासुदेव का जीव उसी घोर वेदना को वहां पर अनुभव कर रहा है। यह भगवान् महावीर की आत्मा का उन्नीसवां भव था।[37]

नारकी का आयुष्य पूर्ण होने पर भगवान् की आत्मा वहां से निकलकर केसरी सिंह रूप में पैदा हुई। वहां से आयु पूर्ण कर चौथी नरक में पुनः नैरयिक रूप में पैदा हुई। यह इक्कीसवां भव था।[38] तब इस चौथी नरक से निकलकर भगवान् महावीर की आत्मा ने अनेक भव तिर्यंच और मनुष्यों के किये। तदनन्तर बाईसवें भव में मनुष्य बने और चक्रवर्ती–योग्य शुभ कर्मों का उपार्जन किया। ऐसा आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक मलयगिरि वृत्ति और त्रिषष्टिश्लाका पुरुष चारित्र में उल्लेख है,[39] लेकिन यह अंग शास्त्रों के वर्णनानुसार उचित नहीं बैठता क्योंकि समवायांग सूत्र में भगवान् महावीर के महावीर बनने से पूर्व के छह भवों का उल्लेख है।[40] वहां बाईसवां भव चक्रवर्ती का ही बैठता है।

यदि बाईसवां भव सामान्य मनुष्य का और तेईसवां भव चक्रवर्ती का मानें तो समवायांग का क्रम नहीं बैठता है। अतः सूत्र–सिद्धान्तानुसार बाईसवां भव चक्रवर्ती का ही मानना उचित है। इस प्रकार समवायांग के अनुसार भगवान् महावीर की आत्मा नरक से निकलकर, अन्य अनेक भव मनुष्य और तिर्यंच के करके अपर विदेह क्षेत्र की मूका नगरी

में धनंजय राजा की धारिणी रानी की कुक्षि से पुत्ररूप में उत्पन्न हुई। महारानी धारिणी ने अर्धरात्रि में चतुर्दश स्वप्न देखे। परिणामस्वरूप समय आने पर एक सुकुमार, सुन्दर बालक का प्रसव किया जिसका नाम प्रियमित्र रखा गया।[41]

प्रियमित्र राजघराने में बड़े होने लगे। युवावय प्राप्त होने पर वे अपरिमित बलशाली, अद्‌भुत तेजस्वी प्रतीत होने लगे। उन्हें राज्य–भार सम्हालने में सक्षम जानकर महाराज धनंजय ने उनका राज्याभिषेक कर दिया। राजा प्रियमित्र, प्रजा का प्रिया की तरह पालन करते हुए राज्यश्री का उपभोग करने लगे। महाराजा धनंजय ने निर्वेद भाव को प्राप्त कर संयम अंगीकार किया और सर्वविरति अणगार बन गये।

राज्यश्री उपभोग करते हुए एक दिन राजा प्रियमित्र की आयुधशाला में चक्ररत्न पैदा हुआ। तब सुभट ने आकर सूचना दी, "राजन! आपकी आयुधशाला में चक्ररत्न पैदा हुआ है।"

राजा प्रियमित्र बड़ा हर्षित होता है। चक्ररत्न को प्रणाम करता है। सुभट को, मुकुट छोड़कर सब आभूषण बधाई में देता है और स्वयं आयुधशाला में जाकर चक्ररत्न को प्रणाम करता है। तत्पश्चात् सभी करणीय कार्यों को करके आठ–दिवस का महोत्सव करता है।

वस्तुतः चक्ररत्न चक्रवर्ती विजय का सन्देशवाहक है जिसके पैदा होने के बाद चक्रवर्ती सम्राट छः खण्ड विजय करने हेतु प्रस्थान करते हैं।[42] इस चक्ररत्न सहित चक्रवर्ती के चौदह रत्न यथास्थान उत्पन्न होते हैं। आयुधशाला में ही चक्ररत्न के अतिरिक्त छत्ररत्न, दण्डरत्न और असिरत्न भी पैदा होते हैं।[43] तीन रत्न– चर्मरत्न, मणिरत्न और कागिनीरत्न, ये चक्रवर्ती के भण्डार में पैदा होते हैं।[44] चक्रवर्ती की राजधानी में सेनापति, गाथापति, बढ़ई और पुरोहित, ये चार पुरुषरत्न पैदा होते हैं।[45] वैताढ्य पर्वत के मूल में हस्तीरत्न, अश्वरत्न पैदा होते हैं। विद्याधरों की उत्तर श्रेणि में चक्रवर्ती की प्रधान पटरानी श्रीदेवी पैदा होती है।[46]

इस प्रकार चक्रवर्ती के सात रत्न एकेन्द्रिय शरीर निर्मित होने से एकेन्द्रिय रत्न और सात पंचेन्द्रिय रत्न होते हैं। ये सभी रत्न प्रमाणोपेत लम्बाई वाले होते हैं।[47]

सेनापति, गाथापति, बढ़ई और पुरोहित, इन चार पुरुषरत्नों की अवगाहना (लम्बाई) चक्रवर्ती के बराबर होती है।[48] श्रीदेवी की अवगाहना चक्रवर्ती से चार अंगुल कम होती है।[49] हस्तीरत्न की अवगाहना चक्रवर्ती से दुगुनी होती है।[50] अश्व रत्न 108 अंगुल लम्बा और 80 अंगुल ऊँचा होता है, उसके 4 अंगुल का खुर, 16 अंगुल की पिंडली, 4 अंगुल का घुटना, 20 अंगुल की जांघ, 32 अंगुल का मुख, 4 अंगुल के कान होते हैं।[51] चक्ररत्न, छत्ररत्न, चार हाथ लम्बे, चार हाथ चौड़े होते हैं।[52] दण्डरत्न चार हाथ लम्बा होता है।[53] खड्गरत्न पचास अंगुल लम्बा, 16 अंगुल चौड़ा होता है। इसकी मूठ चार अंगुल की, धार आधे अंगुल की होती है। चर्मरत्न चार हाथ लम्बा और दो हाथ चौड़ा होता है। मणिरत्न चार अंगुल लम्बा और दो अंगुल चौड़ा होता है। कांकिणी रत्न 6 तल, 8 आठ कोण, 12 अंश होते हैं। इसका आकार सुनार की ऐरण जैसा होता है[54] और वजन में यह आठ सौनेया जितना होता है। प्रवचन सारोद्धार में इनका भिन्न प्रमाण बतलाया है।[55] ये रत्न चक्रवर्ती को विजयश्री दिलाने में अपना–अपना विशिष्ट–विशिष्ट कार्य करते हैं। वह इस प्रकार है–

(1) चक्ररत्न– यह चक्रवर्ती की सेना से एक योजन आगे आकाश में चलता है। जहां चक्र–रत्न ठहरता है, वहीं चक्रवर्ती की सेना का पड़ाव होता है।

(2) छत्ररत्न– यह चक्रवर्ती के हाथों से स्पर्श पाकर बारह योजन लम्बा–चौड़ा हो जाता है। यह धूप, हवा और वर्षा से बचाव करता है।

(3) दण्डरत्न– यह एक हजार योजन की विषम जगह को सम बनाता है। शत्रु सेना का विनाश करता है। खण्ड प्रपात गुफा और तामस गुफा के किंवाड़ खोलता है।

(4) खड्गरत्न– यह शत्रु के घाव करता है, नष्ट करता है।

(5) चर्मरत्न– 48 कोस में चबूतरा बनाता है। इस बारह योजन लम्बे–चौड़े छत्र के नीचे प्रातःकाल जिस भी धान्य के बीज बोये जाते हैं वे मध्याह्न में पककर तैयार हो जाते हैं। जब चक्रवर्ती दिग्विजय के लिए नदियों को पार करता है, तब यह रत्न नौकारूप बन जाता है।

(6) मणिरत्न– यह वैडूर्यमय त्रिकोण और छह अंश वाला होता है। यह

चक्रवर्ती की सेना, जो बारह योजन फैली रहती है, वहां प्रकाश करता है। खण्ड प्रपात गुफा और तमिस्रा गुफा में जब चक्रवर्ती प्रवेश करते हैं तो इसको हस्तिरत्न के सिर पर दाहिनी ओर बांध देते हैं। तब इस रत्न से 12 (बारह) योजन तक गुफा के दोनों पार्श्वों में उजाला हो जाता है। यह मणि जिसके हाथ या सिर पर बांध दी जाती है, उसके देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी सभी उपद्रव और रोग समाप्त हो जाते हैं। यह मणि सिर या किसी अंग पर बांध कर युद्ध में जाने से किसी भी शस्त्र का प्रभाव नहीं होता है, सदैव निर्भय रहता है। इस मणि को कलाई पर धारण करने से सदैव यौवन बना रहता है, केश और नाखून बढ़ते नहीं हैं।[56]

(7) कांकिणी– यह वजन में आठ सोनैया जितना समचतुरस्र संस्थान वाला, विष नष्ट करने में समर्थ, जहां चन्द्र, सूर्य और अग्नि अन्धकार को नष्ट करने में समर्थ नहीं होते, वहां यह तमिस्र गुफा में अन्धकार को नष्ट कर देता है। 12 योजन तक इसकी किरणें अंधकार को नष्ट करती हैं। चक्रवर्ती इसको रात्रि में अपने स्कन्धावार में स्थापित करता है, तो यह रात को भी दिन बना देता है। इसी के प्रभाव से चक्रवर्ती द्वितीय अर्ध भरत को जीतने के लिए सम्पूर्ण सेना सहित तमिस्रा गुफा में प्रवेश करते हैं। चक्रवर्ती इस रत्न से तमिस्रा गुफा में उनपचास मण्डल बनाता है। एक भित्ति पर 25, दूसरी पर 24 मण्डल बनाता है। एक–एक मण्डल का प्रकाश एक–एक योजन तक फैलता है। ये मण्डल जब तक चक्रवर्ती, चक्रवर्ती पद का पालन करता है, तब तक रहते हैं, गुफा भी तब तक खुली रहती है। चक्रवर्ती के समाप्त हो जाने पर गुफा बन्द हो जाती है।[57]

(8) सेनापति– सेना का नायक होता है जो अनेक देशों को जीतने में समर्थ होता है।

(9) गाथापति– चक्रवर्ती के घर की व्यवस्था करता है। 24 प्रकार का धान्य, फल, सब्जियों आदि का उत्पादक होता है।

(10) बढ़ई– 42 मंजिल का महल बनाता है और उन्मग्नजला और निमग्नजला,[58] इन दो नदियों को पार करने के लिए सेतु बनाता है।

(11) पुरोहित– शांतिकर्म करता है।

(12–13) अश्वरत्न–हस्ती रत्न– तीव्र वेगशाली, महापराक भी सवारी के काम आते हैं।

(14) स्त्रीरत्न (श्रीदेवी)– काम–सुख का खजाना, चक्रवर्ती की प्रधान पटरानी, जो एक भी सन्तान को जन्म देने में समर्थ नहीं है।[59] चक्रवर्ती के मरण–पश्चात् वियोगजन्य आर्तध्यान करती हुई मरकर छठी नरक में जाती है।[60]

इस प्रकार इन चौदह रत्नों की मूकानगरी आदि स्थानों में यथास्थान उत्पत्ति होती है। तब प्रियमित्र चक्रवर्ती विदेह–विजय के लिए निकलते हैं।

सर्वप्रथम मागध तीर्थ को विजय करने के लिए प्रस्थान करते हैं। मागध तीर्थ पहुंचकर वे तेले की तपश्चर्या करते हैं। तत्पश्चात् धनुष लेकर नामांकित वाण वारह योजन दूरी पर मागध तीर्थाधिपति देव के स्थान पर फेंका। उस वाण को देखकर पहले तो मागध तीर्थाधिपति क्रुद्ध हुआ कि असमय में मरने के इच्छुक किसने यह बाण डाला है। ऐसा चिन्तन करता हुआ मागधदेव वाण उठाता है। चक्रवर्ती प्रियमित्र का नाम देखकर नतमस्तक होता है। तदनन्तर प्रियमित्र के पास आकर निवेदन करता है, मैं आपका आज्ञाकारी देव हूं। अनेक प्रकार के उपहार चक्रवर्ती को देता है। चक्रवर्ती उसे ससत्कार विदा करते हैं। चक्रवर्ती तेले का पारणा करते हैं और तीर्थ–विजय की खुशी स्वरूप वहां आठ दिन का महोत्सव करते हैं।

इसके पश्चात् इसी क्रम से क्रमशः प्रभास तीर्थ, सिन्धु देवी, वैताढ्य–गिरि कुमार, तमिस्रा गुफा, कृतमालदेव आदि को अधीन कर षट्खण्ड साधते हैं। इसी मध्य जब वे वैताढ्य–गिरि से वाहर निकलते हैं तो उन्हें नव–निधियां भी प्राप्त होती हैं। वे इस प्रकार हैं–

(1) नैसर्पनिधि– ग्राम–नगरादि के निर्माण में सहायक।

(2) पाण्डुक निधि– धान्य और बीजों को उत्पन्न करने वाली।

(3) पिंगल निधि– आभूषण निर्माण करने वाली।

(4) सर्वरत्न निधि– बहुमूल्य रत्न प्रदान करने वाली।

(5) महापद्म निधि– वस्तुओं को पैदा करने वाली।

(6) काल निधि– काल, कला और व्याकरण आदि का ज्ञान कराने

वाली।

(7) महाकाल निधि– स्वर्ण–रजतादि की खानें उत्पन्न करने वाली।

(8) माणवक निधि– अस्त्र–शस्त्रादि एवं युद्ध सम्बन्धी जानकारी देने वाली।

(9) शंख निधि– विविध प्रकार के काव्य, नाटकादि का ज्ञान कराने वाली।

ये भवनिधान गंगा के पश्चिमी तट पर चक्रवर्ती सम्राट को प्राप्त होते हैं। प्रत्येक निधि एक–एक हजार यक्ष से अधिष्ठित होती है। इनका सन्दूक का आकार होता है। नागकुमार इनके अधिष्ठायक देव होते हैं। इनकी ऊँचाई आठ योजन, चौड़ाई नौ योजन तथा लम्बाई बारह योजन होती है।[61]

इन नौ निधान सहित छह खण्ड साधकर प्रियमित्र चक्रवर्ती मूकानगरी आये जहां देवताओं और राजाओं ने मिलकर उनका चक्रवर्ती पद पर अभिषेक किया और बारह वर्ष तक महोत्सव किया। अस्तु चक्रवर्ती प्रियमित्र छह खण्ड का आधिपत्य करते हुए अपना समय व्यतीत करने लगे।

एक बार मूकानगरी के उद्यान में पोट्टिल नामक आचार्य पधारे। चक्रवर्ती प्रियमित्र स्वयं आचार्य भगवन् की धर्मदेशना सुनने गया। उनसे धर्म श्रवण कर प्रियमित्र को विरक्ति हो गयी। 'एगोहं नत्थि मे कोई' मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं है। इस प्रकार चिन्तन करते हुए उन्होंने अपने पुत्र को राज्य का भार सम्हलाकर स्वयं संयम अंगीकार कर लिया। संयम लेकर ज्ञान, दर्शन, चारित्र से अपनी आत्मा को भावित करने लगे।

यहां पर यह ज्ञातव्य है कि प्रियमित्र चक्रवर्ती के नाम के संबंध में समवायांग सूत्र में दूसरा उल्लेख मिलता है। समवायांग में, भगवान् महावीर ने महावीर बनने से पूर्व छठा भव पोट्टिल का ग्रहण किया है[62] और उन्होंने दीक्षा लेकर एक करोड़ वर्ष तक श्रमण धर्म का पालन किया है, ऐसा उल्लेख है। पोट्टिल को अभयदेव सूरि ने राजपुत्र स्वीकार किया।[63] इस प्रकार समवायांग में प्रियमित्र के स्थान पर पोट्टिल नाम मिलता है। अतः चाहे पोट्टिल कहें या प्रियमित्र, वे करोड़

वर्ष तक चारित्र पर्याय का पालन करते हुए, उत्कृष्ट तप करते हुए, एक कम चौरासी लाख का आयुष्य पूर्णकर सहस्रार देवलोक के सर्वार्थ विमान में दिव्य ऋद्धिशाली देव बने।[64]

समवायांग सूत्र एवं उत्तरपुराणानुसार वे प्रियमित्र श्रमण पर्याय का पालन कर सहस्रार कल्प के सर्वार्थविमान में देव बने। निर्युक्तिकार ने कल्प का नाम नहीं देकर केवल सर्वार्थविमान का ही नाम दिया है।[65] मलयगिरि एवं जिनदास महत्तर ने महाशुक्र के ही सर्वार्थविमान का उल्लेख किया है।[66] उस देवलोक में 17 सागरोपम तक दिव्य ऋद्धि का उपभोग करते हुए चौबीसवें भव में भगवान् महावीर की आत्मा वहां से च्यवकर भरत क्षेत्र की छत्रानगरी में जितशत्रु राजा की भद्रा महारानी की कुक्षि में पुत्ररूप में उत्पन्न हुई।[67]

माता–पिता को आनन्दित करने वाला होने से पैदा होने पर राजकुमार का नाम नन्दन रखा गया।

नन्दन राजकुमार राजघराने में क्रमशः पांच धायों द्वारा पालित होता हुआ बड़ा होने लगा। जब राजकुमार नन्दन 64 कलाओं में निष्णात बन गया, राज्यश्री का भार सम्हालने में समर्थ बन गया, तब राजा जितशत्रु नन्दन को राज्यभार देकर स्वयं संसार से विरक्त बनकर दीक्षित हो गये। राजा नन्दन सभी को आनन्दित करते हुए राज्य का भोगोपभोग करने लगे।

एक समय उसी छत्रानगरी में पोट्टिलाचार्य पधारे। सूचना मिलते ही राजा नन्दन स्वयं उनके दर्शन, वंदन एवं प्रवचन श्रवण करने पधारे। प्रवचन श्रवण कर राजा नन्दन को विरक्ति आ गयी। सोचा, 24 लाख वर्ष हो गये गृहस्थ अवस्था में रहते हुए, अब तो मुझे अपना कल्याण करना चाहिए। बस, इसी चिन्तन से उन्होंने अपने पुत्र को राजगद्दी पर बिठाकर पोट्टिलाचार्य के पास संयम ग्रहण कर लिया।

संयम ग्रहण करना सरल है, लेकिन उसका आजीवन निरतिचार पालन सुदुष्कर है। विरले ही भव्य जीव ऐसे होते हैं जो सिंह की तरह संयम लेकर सिंह की तरह ही पालन करते हैं।[68] नन्दन मुनि तो निस्पृह साधक थे। उन्हें अपनी आत्मा कुन्दन की तरह पवित्र बनानी थी। वे

संयम में अतिशय पराक्रम करने लगे। अल्पकषायी बनकर प्रत्येक क्रिया को निरतिचार पालन करने में तत्पर थे। शास्त्र के अध्ययन में लीन बनकर उपसर्ग, परीषहों को तृणवत समझकर समभावपूर्वक सहन करते थे। पूर्वसंचित कर्मों को काटने के लिए संयम ग्रहण करते ही निरन्तर मास खमण की तपस्या प्रारम्भ कर दी। 20 बोलों की आराधना की। अपने इस साधु जीवन में उन्होंने 11 लाख 60 हजार मासखमण किये। तपश्चर्या के साथ–साथ अर्हंत भगवान् आदि एवं गुरु भगवन्तों की विनय–भक्ति करते हुए तीर्थंकर नामगोत्र के बन्धन योग्य बीस बोलों की उन्होंने आराधना की जिससे तीर्थंकर नामगोत्र का निकाचित बन्ध किया।[69]

निरतिचार चारित्र पर्याय का पालन कर अंत समय में संलेखणा संथारा कर 60 दिनों तक अनशन करके पचीस लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर प्राणत नामक दसवें देवलोक के पुष्पोत्तर विमान में देवरूप में उत्पन्न हुए।[70] 20 सागरोपम तक दिव्य देवऋद्धि का उपभोग करते रहे। अन्त में आयु क्षीण होने से 6 माह पूर्व ही पता लग गया था कि अब मेरा च्यवन होने वाला है। अन्य देव का तो, 6 मास आयु शेष रहने पर मनुष्य लोक में जन्म होगा, दिव्य देवभोगों को छोड़ना होगा, ऐसा जानकर ही मोहवश दुःखी बनते हैं लेकिन प्रबल पुण्योदय के प्रभाव से तीर्थंकर मोह को प्राप्त नहीं होते।[71] देवलोक का आयुष्य पूर्ण होने पर चतुर्थ आरक के 75 वर्ष 8) माह शेष रहने पर ग्रीष्म ऋतु में आषाढ़ शुक्ला षष्ठी की रात्रि को, उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर (चन्द्रमा उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में होने पर) महाविजय सर्वार्थ, पुष्पोत्तरवर पुण्डरीक, स्वस्तिक, वर्द्धमान महाविमान से नन्दन मुनि का जीव (भव्य महावीर की आत्मा) च्यवकर ब्राह्मणकुण्डपुर सन्निवेश में कुडाल गोत्रीय ऋषभदत्त ब्राह्मण की[72] जालंधर गोत्रीया देवानंदा ब्राह्मणी की कुक्षि[73] में सिंह की तरह गर्भ में अवतरित हुआ। भगवान् महावीर स्वयं जानते थे कि मैं च्यवकर देवानन्दा के गर्भ में आया हूं।[74]

जिस रात्रि में भगवान् महावीर की आत्मा देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आई, उस रात्रि में देवानन्दा ब्राह्मणी अपनी शय्या पर अर्धनिद्रित

अवस्था में सोई हुई थी। उसने उस प्रचला निद्रा की अवस्था में हस्ती यावत अग्नि रूप चतुर्दश स्वप्न देखे।[75] देखकर वह ऋषभदत्त के पास गयी। सारे स्वप्न बतलाये तब ऋषभदत्त ने कहा– समय आने पर तुम श्रेष्ठ, सुकुमार, सुन्दर, सुरूप बालक का प्रसव करोगी जो भविष्य में वेद–वेदांग का ज्ञाता और शास्त्रों का पारगामी विद्वान होगा। देवानन्दा स्वप्नफल श्रवण कर हर्षित होती हुई गर्भ का संरक्षण करने लगी।

एक दिन प्रथम देवलोक के इन्द्र– शक्रेन्द्र अपने विपुल अविधज्ञान से जम्बू द्वीप को देख रहे थे। उसी समय उन्हें ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर की आत्मा देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न हुई है। हर्षातिरेक से रोमांचित होकर सिंहासन से उठकर णमोत्थुणं द्वारा भगवान् की स्तुति करते हैं। पुनः सिंहासन पर बैठकर चिन्तन करते हैं कि तीर्थंकर इस प्रकार न कभी ब्राह्मण कुल में पैदा हुए, न होते हैं, न होंगे। भगवान् महावीर की आत्मा ने मरीचि के भव में जातिमद किया था। उसी के परिणामस्वरूप वे देवानन्दा की कुक्षि में पैदा हुए हैं। पर यह मेरा जीताचार है कि भगवान् को इस कुल से निकालकर किसी क्षत्रियाणी के गर्भ में स्थापित करूं।[76] अभी किस क्षत्रियाणी के गर्भ में रखूं............. ऐसा विचार कर देखते हैं कि राजा सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला भी गर्भवती है, अतः उसका गर्भ देवानन्दा की कुक्षि में और देवानन्दा का गर्भ क्षत्रियाणी त्रिशला की कुक्षि में संहरण करवाना चाहिए। ऐसा अवधिज्ञान से चिन्तन कर शक्रेन्द्र ने अपनी पदाति सेना के अधिपति हरिणगमैषी देव को बुलाया, और उन्हें संहरण करने हेतु आदेश दिया कि देवानन्दा का गर्भ त्रिशला की कुक्षि में रख दो।

हरिणगमैषी देव आदेश पाकर देवानन्दा ब्राह्मणी के वहां जाता है। सबको अवस्वापिनी निद्रा में सुलाता है। भगवान् महावीर के गर्भ को निकालता है और अशुभ पुद्गल हटाकर शुभ पुद्गलों का प्रक्षेप कर त्रिशला क्षत्रियाणी के पास आता है। सभी को अवस्वापिनी निद्रा में सुलाता है फिर त्रिशला के गर्भ को निकालकर भगवान् महावीर के गर्भ को त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में रखता है और त्रिशला के गर्भ को देवानन्दा की कुक्षि में रखता है। इस प्रकार भगवान् महावीर की आत्मा 82 रात्रिपर्यन्त देवानन्दा की कुक्षि में रही, 83 वीं रात्रि में

आश्विन शुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में माता त्रिशला की कुक्षि में आ गई।[77] जब देवानन्दा की कुक्षि से भगवान् की आत्मा का संहरण हुआ तब उसे स्वप्न आया कि उसके 14 स्वप्न कोई ले गया है। देवानन्दा उठकर बहुत आर्तध्यान करती है, लेकिन अब क्या. ....? ऐसी गर्भ–संहरण की घटना को शास्त्रकारों ने आश्चर्यरूप माना है।

स्थानांग सूत्र में जहां दस आश्चर्यों का वर्णन है वहां इसे भी आश्चर्य माना है।[78] भगवान् स्वयं जान गये कि मेरा संहरण हो गया है। बस, यही भगवान् महावीर की आत्मा का अपश्चिम सत्ताईसवां भव है। इस अन्तिम भव में महारानी त्रिशला की कुक्षि से जन्म लेकर तीनों लोकों को उद्योतित कर रहे हैं।

क्षत्रिय कुण्ड के राजमहलों में पोषित नन्हा राजकुमार अपनी बाल–क्रीड़ओं से सभी को मन्त्रमुग्ध बना रहा था। बालक का भविष्य बचपन में ही परिलक्षित हो जाता है। बालक वर्धमान की बालसुलभ चेष्टाओं को देखकर सभी यही कहते थे कि यह बालक बड़ा होनहार होगा। कुमार वर्धमान की निर्भयता, धीरता, वीरता, यह इंगित कर रही थी कि ये भविष्य में महान पराक्रमशाली शूरवीर बनेंगे।

शनैः–शनैः कुमार वर्धमान कुछ कम आठ वर्ष के हो गये। एक दिन महारानी त्रिशला से कहा– मातुश्री, आप की आज्ञा हो तो मैं बाहर उद्यान में बालकों के साथ खेलना चाहता हूं।

त्रिशला– अच्छा! जाओ वत्स, जल्दी आना। कुमार वर्धमान चले जाते हैं खेल खेलने। बालकों की टोली एकत्रित होती है। सभी के एकत्रित होने पर वर्धमान ने कहा– मित्रो! अभी आमलकी क्रीड़ा खेलते हैं।

सभी ने एक स्वर से कहा– चलो खेलते हैं।

आमलकी क्रीड़ा हेतु सभी बालक एक स्थान पर खड़े हो जाते हैं। सभी तय कर लेते हैं कि हमको अमुक वृक्ष पर चढ़ना है। सभी एक साथ यहां से दौड़ना प्रारम्भ करेंगे। जो सबसे पहले इस निर्धारित वृक्ष पर चढकर नीचे उतरेगा, वह विजयी होगा। वह विजयी बालक पराजित बालकों के कन्धे पर चढ़कर पुनः यहां तक आयेगा, जहां से

और भी कई प्रश्न वृद्ध ब्राह्मणरूपी इन्द्र ने पूछे। कुमार वर्धमान से समाधान श्रवण कर गुरुकुल का पंडित हतप्रभ रह गया। तब इन्द्र ने कहा– ये वर्धमान सामान्य बालक नहीं हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान इन तीन ज्ञान के धारक हैं। भविष्य में ये धर्म के चक्रवर्ती तीर्थंकर भगवान् बनेंगे। तब पंडित नतमस्तक हो गया। शक्रेन्द्र वर्धमान को प्रणाम कर लौट गये। पंडितजी ने वर्धमान को राजभवन पहुंचाया, पारिवारिक जनों को सारी बात बताई। सब श्रवण कर गद्–गद हो गये। इन्द्र द्वारा व्याकरण सम्बन्धी पूछे गये प्रश्नों एवं कुमार वर्धमान द्वारा दिये गये उत्तरों का संकलन कर पंडितजी ने 'ऐन्द्र व्याकरण' बनाई।[80]

कुमार वर्धमान बचपन से किशोर अवस्था की ओर बढ़ने लगे। बचपन बीता, किशोर–वय ने अंगड़ाई ली। वे अपनी प्रखर प्रतिभा और अद्‌भुत चिन्तनशैली से सभी को प्रभावित करने लगे। तरुणाई शरीर के पौर–पौर से झलकने लगी। दिव्य भाल, ओजस्वी मुखमण्डल, राजीव लोचन, भव्याकृति वाले दीर्घ कान, उन्नत नासिका, गुंजा की लालिमा से भी अधिक अरुणाभ ओष्ठ–अधर, श्वेत दन्तपंक्ति, अरुण–कपोल बड़े नयनाभिराम लग रहे थे। देखते ही मन को समाकृष्ट करने वाली भव्याकृति हर्षविभोर करने वाली थी।[81]

कुमार वर्धमान के अद्वितीय रूप और लावण्य को दृष्टिगत कर एक दिन सिद्धार्थ ने त्रिशला महारानी से कहा–

त्रिशले! कुमार वर्धमान......... परिपूर्ण यौवन को प्राप्त हो गये हैं।

त्रिशला– हां राजन! कुमार तो विवाहयोग्य लग रहे हैं। लेकिन.............

सिद्धार्थ– लेकिन............ क्या? विवाह नहीं करेंगे?

त्रिशला– कुमार की अनासक्तता से ऐसा ही प्रतीत हो रहा है।

सिद्धार्थ– तब क्या तुम पुत्रवधू को नहीं देखोगी?

त्रिशला– नहीं नहीं............ कुमार को विवाह हेतु तैयार करना होगा।

सिद्धार्थ– .... कब करोगी?

त्रिशला– जब कोई रिश्ता आ जायेगा।

सिद्धार्थ– अच्छा! रिश्ता आने पर विवाह हेतु कुमार को तैयार करने की जिम्मेदारी तुम्हारी है।

दोनों मौन हो जाते हैं, तभी सेवक, प्रवेश करके– महाराज की जय हो! वसन्तपुर से राजा समरवीर का दूत आया है। आपके दर्शन करना चाहता है।

राजा– दूत को अन्दर बुलाओ।

सेवक (दूत से)– आपको महाराज याद कर रहे हैं, चलिये।

दूत, राजा के पास पहुंचकर– महाराज की जय हो। बसन्तपुर नरेश समरवीर ने आपकी कुशल–क्षेम पुछवाई है।

सिद्धार्थ– अच्छा! राजा समरवीर सकुशल हैं?

दूत– हां, महाराज।

सिद्धार्थ– क्या संदेश कहलवाया राजा समरवीर ने।

दूत– राजा समरवीर ने अपनी पुत्री यशोदा का विवाह कुमार वर्धमान के साथ करने हेतु निवेदन करवाया है। राजा को दृढ़ विश्वास है कि आप उनके निवेदन को नहीं ठुकरायेंगे इसलिए मंत्रियों के साथ यशोदा को यहां भेज दिया है। अतः आप अनुग्रह करके कुमार वर्धमान का विवाह यशोदा के साथ तय करने की कृपा कीजिए।

सिद्धार्थ, साश्चर्य– क्या यशोदा को यहां भेज दिया?

दूत– हां राजन! क्या आपको रिश्ता स्वीकार्य नहीं?

सिद्धार्थ– नहीं–नहीं, ऐसी बात नहीं है। मैं स्वयं कुमार का विवाह करने में तत्पर हूं पर............ कुमार, वे भोग से..... निर्लिप्त रहते हैं। काम–वासनाओं से कोसों दूर, उनको विवाह हेतु मनाना.......... बड़ा कठिन है।

दूत– तब..........?

सिद्धार्थ– तुम रुको, प्रयास करते हैं।

सेवक दूत को यथास्थान ठहरा देता है।

सिद्धार्थ– त्रिशले! अब............ क्या करना?

त्रिशला– कुमार को तैयार करने का प्रयास करते हैं।

त्रिशला, सेवक से– कुमार वर्धमान के मित्रों को उपस्थित

करो।

सेवक – जो आज्ञा।

मित्र, आकर – महारानी की जय हो! क्या आदेश है?

त्रिशला – कुमार वर्धमान भोगों से विरक्त है। तुम उन्हें विवाह हेतु तैयार करो।

मित्र, "जो आज्ञा" कहकर वर्धमान के पास जाकर – वर्धमान. .... वर्धमान............

वर्धमान – कौन? पीछे मुड़कर। अरे! तुम अभी?

मित्र – कुमार! किन खयालों में खो रहे हो? किसे स्मृति पटल पर उभार रहे हो?

वर्धमान – स्वयं को। स्वयं द्वारा स्वयं की खोज कर रहा हूं।

मित्र – अभी तो जीवन–साथी की खोज करो।

वर्धमान – जीवन–साथी............ सच्चा जीवन–साथी आत्मा ही है।

मित्र – नहीं–नहीं............ किसी रूपवती स्त्री की खोज........ ....

वर्धमान– नहीं–नहीं, वे रिश्ते अनन्त जन्मों में अनन्त बार सभी के साथ कायम किये, लेकिन वे सब टूट गये। अब अटूट रिश्ता कायम करना है।

मित्र – कुमार, क्या कह रहे हो? प्रत्यक्ष सुख को छोड़कर कल्पित के लिए प्रयास करना निरर्थक है।

वर्धमान – यह सुख नहीं, सुखाभास है। दुःख का दावानल देने वाला है।

मित्र – नहीं–नहीं, अभी तुम नहीं जानते, जब विवाह होगा तब............ पता चलेगा।

तभी त्रिशला प्रवेश करके............

कुमार वर्धमान – अरे! मातुश्री आपका आना, इस समय? मुझे ही क्यों नहीं बुला लिया?

त्रिशला – ऐसे ही, तुमसे मिलने आ गयी। कुमार! ये मित्र क्या कह रहे हैं?

वर्धमान – कोई विशेष बात नहीं।

मित्र – हम कुमार का विवाह देखना चाहते हैं। पर वर्धमान.

त्रिशला – वर्धमान क्या कह रहे हैं?

मित्र – वे तैयार नहीं हैं।

त्रिशला – वर्धमान तो सदैव आज्ञाकारी रहे हैं। बचपन से आज तक जो हमने कहा, इसने स्वीकारा है। अब भी मैं कुमार वर्धमान से यही कहने आई हूं। राजा समरवीर ने अपनी पुत्री यशोदा को मंत्रियों के साथ यहां पर वर्धमान से विवाह हेतु भेज दिया है। उसे हम ठुकरा नहीं सकते।[82]

वर्धमान – ऐं............ यह............ कैसे?

त्रिशला – कुमार! यह हमारी हार्दिक इच्छा है, नहीं चाहते हुए भी तुम्हें विवाह करना ही होगा। तुम्हारे पिताश्री ने इसी हेतु मुझे यहां भेजा है।

वर्धमान, चिन्तित मुद्रा में। विवाह............ यह कैसे संभव होगा? क्या अभी भी भोगावली कर्म अवशेष हैं?

ज्ञान का उपयोग लगाकर– अरे! अभी तो भोगावली कर्म अवशेष हैं। यह सोचकर मौन रहते हैं।

त्रिशला – कुमार मैं, जा रही हूं, यशोदा को बहू बनाने।

वर्धमान सलज्ज नयनों से भूमि पर निहारते हैं।

महारानी त्रिशला, सिद्धार्थ के पास जाकर– मैंने कुमार को विवाह हेतु तैयार कर लिया है।

सिद्धार्थ– हैं! क्या कहती हो! विश्वास नहीं हो रहा है।

त्रिशला – पर यह सत्य है राजन्! जल्दी तैयारी कीजिए विवाहोत्सव की। कहीं कुमार फिर विवाह को अस्वीकार नहीं कर दे।

सिद्धार्थ – जन्मोत्सव की तरह ही धूमधाम से विवाह–उत्सव करने हेतु चलो चलते हैं।

संदर्भ: पूर्वभवों की यात्रा अध्याय – 8

1. (क) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; श्री हेमचन्द्राचार्य; प्रका. श्री जैन धर्म प्रचारक सभा, भावनगर; वि.सं. 1960; पुस्तक संख्या 71; पर्व

10, पृ. 1
(ख) कल्पसूत्र; लक्ष्मीवल्लभोपाध्याय विरचित कल्पद्रुमकलिकादि टीकाओं का हिन्दी भाषान्तर; वही; पृ. 39
उपलब्ध–सेठिया ग्रन्थालय, क्रमांक 5542

2. (क) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 2
(ख) कल्पसूत्र; लक्ष्मीवल्लभोपाध्याय विरचित कल्पद्रुमकलिकादि टीकाओं का हिन्दी भाषान्तर; वही; पृ. 40
3. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 2
4. वही, पृ. 2
5. (क) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 2
(ख) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति; वही; तृतीय वक्षस्कार
6. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 2
7. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि वृत्ति युक्त; वही; पृ. 244
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 4
8. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 247
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 4
9. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 247
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 5
10. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 247
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 5
11. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 247
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 5
12. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 5
(ग) कल्पसूत्र, लक्ष्मीवल्लभोपाध्याय विरचित कल्पद्रुमकलिकादि टीकाओं का हिन्दी भाषान्तर; वही; पृ. 42
13. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 5
14. (क) आवश्यक सूत्र, श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 5
15 (क) आवश्यक सूत्र, मलयगिरि, वही, पृ. 248
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र, वही, पृ. 5

16. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 5
17. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 6
18. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 6
19. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 6
20. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरी; वही; पृ. 248
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 6
21. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 6
22. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 6
23. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 6
24. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248–49
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 7
25. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248–49
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 6–7
26. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 240–50
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 7–8
27. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 250
(ख) कल्पसूत्र; लक्ष्मीवल्लभोपाध्याय विरचित कल्पद्रुमकलिकादि टीकाओं का हिन्दी भाषान्तर; वही; पृ. 44–45
(ग) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 8
28. (क) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 8
(ख) कल्पसूत्र; लक्ष्मीवल्लभोपाध्याय विरचित कल्पद्रुमकलिकादि टीकाओं का हिन्दी भाषान्तर; वही; पृ. 45
(ग) जैन कथा माला; भाग 6; मधुकर मुनिजी ने विशाखनंदी के जीव को अश्वग्रीव प्रतिवासुदेव बताया है जो संगत नहीं। सन् 2000, पृ. 28

10, पृ. 1
(ख) कल्पसूत्र; लक्ष्मीवल्लभोपाध्याय विरचित कल्पद्रुमकलिकादि टीकाओं का हिन्दी भाषान्तर; वही; पृ. 39
उपलब्ध–सेठिया ग्रन्थालय, क्रमांक 5542

2. (क) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 2
(ख) कल्पसूत्र; लक्ष्मीवल्लभोपाध्याय विरचित कल्पद्रुमकलिकादि टीकाओं का हिन्दी भाषान्तर; वही; पृ. 40
3. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 2
4. वही, पृ. 2
5. (क) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 2
(ख) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति; वही; तृतीय वक्षस्कार
6. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 2
7. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि वृत्ति युक्त; वही; पृ. 244
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 4
8. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 247
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 4
9. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 247
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 5
10. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 247
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 5
11. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 247
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 5
12. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 5
(ग) कल्पसूत्र; लक्ष्मीवल्लभोपाध्याय विरचित कल्पद्रुमकलिकादि टीकाओं का हिन्दी भाषान्तर; वही; पृ. 42
13. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 5
14. (क) आवश्यक सूत्र, श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 5
15. (क) आवश्यक सूत्र, मलयगिरि; वही; पृ. 248
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र, वही, पृ. 5

16. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248
    (ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 5
17. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248
    (ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 6
18. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248
    (ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 6
19. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248
    (ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 6
20. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरी; वही; पृ. 248
    (ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 6
21. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248
    (ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 6
22. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248
    (ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 6
23. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248
    (ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 6
24. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248–49
    (ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 7
25. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 248–49
    (ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 6–7
26. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 240–50
    (ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 7–8
27. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 250
    (ख) कल्पसूत्र; लक्ष्मीवल्लभोपाध्याय विरचित कल्पद्रुमकलिकादि टीकाओं का हिन्दी भाषान्तर; वही; पृ. 44–45
    (ग) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 8
28. (क) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 8
    (ख) कल्पसूत्र; लक्ष्मीवल्लभोपाध्याय विरचित कल्पद्रुमकलिकादि टीकाओं का हिन्दी भाषान्तर; वही; पृ. 45
    (ग) जैन कथा माला; भाग 6; मधुकर मुनिजी ने विशाखनंदी के जीव को अश्वग्रीव प्रतिवासुदेव बताया है जो संगत नहीं। सन् 2000; पृ. 28

29. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 250
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 8

30. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 250
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 9

31. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 250
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 9–10

32. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 250
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 9–10

33. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 251
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 10

34. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 251
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 11

35. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरी; वही; पृ. 251
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 11

36. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 251
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 11–12

37. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 251
(ख) त्रिपष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 12

38. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 251
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 12

39. त्रिपष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 12

40. समवायांग सूत्र; अभयदेववृत्ति; प्रका. सेठ माणेकचन्द चुन्नीलाल, अहमदावाद; सन् 1938; सूत्र 136; पृ. 99

41. (क) आवश्यक सूत्र; श्री मलयगिरि; वही; पृ. 251
(ख) त्रिपष्टि शलाका पुरुप चारित्र; वही; पृ. 12

42 (क) द्रष्टव्य–जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति; श्री शांतिचन्द्र विहित वृत्ति सहित, पूर्वभाग; तृतीय वक्षस्कार; देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, मुम्बई, सन् 1920, पृ. 184–86
(ख) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति; वही; तृतीय वक्षस्कार

43 (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, श्री शांतिचन्द्र विहित वृत्ति सहित, वही, पृ. 276
(ख) प्रज्ञापना सूत्र थोकडा भाग 2, प्रका. श्री अगरचन्द भैरुंदान

सेठिया जैन परमार्थिक संस्था, बीकानेर; सन् 1993; पदवी का थोकड़ा; बीसवां पद; पृ. 143

44. (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति; श्री शांतिचन्द्र विहित वृत्ति सहित; वही; पृ. 277

(ख) प्रज्ञापना सूत्र थोकड़ा भाग 2; वही; 20वां पद; पदवी का थोकड़ा

45. (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति; श्री शांतिचन्द्र विहित वृत्ति सहित; वही; पृ. 277

(ख) प्रज्ञापना सूत्र थोकड़ा भाग 2; वही; 20वां पद; पदवी का थोकड़ा

46. द्रष्टव्य–जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति; श्री शांतिचन्द्र विहित वृत्ति; वही; पृ. 277

47. प्रज्ञापना सूत्र थोकड़ा भाग 2; वही; 20वां पद; पदवी का थोकड़ा

48. वही

49. वही

50 वही

51. वही

52. वही

53. वही

54. वही

55. प्रवचन सारोद्धार; आचार्य नेमिचन्द; उत्तर भाग; पृ. 350–52

56. प्रवचन सारोद्धार; आचार्य नेमिचन्द; उत्तर भाग; प्रकाशक देवचन्द लालभाई; सन् 1926; पृ. 350–52

57. प्रवचन सारोद्धार; आचार्य नेमिचन्द; वही; पृ. 350–53

58. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति; श्री शान्त्याचार्य वृत्ति सहित; वही; पृ. 229–30

59. प्रज्ञापना सूत्र; मलयगिरि; पूर्वार्द्ध; निर्णय सागर यन्त्रालय, मुम्बई; सन् 1918; पद 9

60. ज्ञापना सूत्र थोकड़ा भाग 2; वही; पदवी थोकड़ा

61. प्रवचन सारोद्धार; उत्तर भाग; वही; 352–53

62. समवायांग सूत्र; श्री अभयदेव वृत्ति; वही; सूत्र 134; पृ. 98

63. समवायांग; वही; पृ. 99

64. समवायांग; वही; पृ. 98

65. आवश्यक सूत्र; मलयगिरि; पृ. 251–252

66. आवश्यक सूत्र; मलयगिरि; पृ. 251–252
67. (क) आवश्यक सूत्र; मलयगिरि; पृ. 252
(ख) समवायांग सूत्र; श्री अभयदेव वृत्ति; वही; पृ. 99
68. स्थानांग; वही; स्थान 4
69. (क) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 14
(ख) समवायांग सूत्र; श्री अभयदेव वृत्ति; वही; पृ. 99
(ग) आवश्यक सूत्र; मलयगिरि; वही; पृ. 252
70. (क) आवश्यक सूत्र; मलयगिरि; पृ. 252
(ख) समवायांग सूत्र; श्री अभयदेव वृत्ति; वही; पृ. 99
71. कल्पसूत्र टिप्पण; आचार्य पृथ्वीचन्द्र सूत्र; 3 पृ. 1
72. आचारांग; द्वितीय श्रुत स्कन्ध; आचार्य शीलांक; वृत्ति; वही; पृ. 421
73. वही
74. वही
75. आवश्यक सूत्र; मलयगिरि; वही; पृ. 254
76. वही
77. वही
78. स्थानांग; युवाचार्य श्री मधुकरमुनिजी म. सा.; प्रका. आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर; सन् 1992; स्थान 10
79. (क) आवश्यक सूत्र; मलयगिरी; वही; पृ. 258
(ख) आचारांग; द्वितीय श्रुत स्कन्ध; आचार्य शीलांक; वृत्ति; वही; पृ. 422
(ग) उत्तर पुराण; श्री गुणभद्राचार्य विरचित; वही; सर्ग 74; गाथा 295
80. आवश्यक सूत्र; मलयगिरी; वही; पृ. 259
81. औपपातिक सूत्र; वही; पृ. 15–17
82. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 25–26

परिणय की परिक्रमा – नवम अध्याय

क्षत्रियकुण्ड का वह नन्द्यावर्त प्रासाद[1], जहां कुमार वर्धमान ने जन्म लिया, नई–नवेली वधू–सा सज रहा है। पूरा का पूरा नगर नवोढा का रूप धारण कर रहा है। कहीं नृत्य, कहीं गायन, कहीं वादन आदि मनोरंजनपूर्ण कार्यक्रमों से नगर में उत्सव–सा माहौल बन गया है। सभी को राजकुमार वर्धमान का विवाह देखने की उत्सुकता है। जन–धारणा है कि विरक्त रहने वाले कुमार विवाह कैसे करेंगे?

आखिर वह दिन आ ही गया जिसका सबको इन्तजार था। कुमार वर्धमान यशोदा के साथ विवाह मण्डप में बैठे हैं। आंखों से दृश्य देखने के पश्चात् भी जनता को विश्वास नहीं हो रहा है कि यह विवाह है या कोई स्वप्न?

राजा सिद्धार्थ[2] स्वयं साश्चर्य चिन्तन कर रहे हैं, क्या एकाकी रहने वाला कुमार आज............ समरवीर............ की लड़की............ यशोदा के साथ विवाह मण्डप में बैठा है?

बन्धन! वह तो बन्धन ही है। महारानी प्रियकारिणी[3] का प्रयास सफल रहा। अभी सात फेरों से कुमार परिणय सूत्र में बंध जायेगा, फिर क्या? यशोदा[4] स्वयं ही अपने लुभावने प्रयासों से कुमार के एकाकीपन को दूर करेगी। राजा सिद्धार्थ चिंतन में निमग्न हैं, उधर विवाह का कार्यक्रम सम्पन्न हो रहा है। पंडित शब्दोच्चारण से ध्यानाकृष्ट कर रहा है। भांवरों का समय आ गया है। दोनों ने सप्त फेरे लिए। परिणय–बन्धन का लौकिक क्रम यथासमय पूर्ण हुआ।

यशोदा वर्धमान जैसे वीर की अर्द्धांगिनी बनकर अपने–आपको परम गौरवशाली महसूस कर रही थी। उन्नत तेजस्वी ललाट, कृष्ण–सचिक्कण बाल, जिनकी लटाएं कपोलों पर भ्रमरवत मधुपान कर रही थीं। कपोलों पर छलकती अरुणिमा दाडिम के बीजवत शोभायमान हो रही थी। सुदीर्घ भौंहें, विशाल नेत्र, प्रलम्ब कर्ण, उन्नत नासिका और रक्तिम अधर अप्सराओं के रूप–लावण्य को पराजित करने में परिपूर्ण सक्षम थे। जब यशोदा अपने अधर सम्पुट को खोलती तब कुन्द पुष्प के समान चमकती श्वेत दन्त–पंक्ति मानो मोती बरसाती

66. आवश्यक सूत्र; मलयगिरि; पृ. 251–252
67. (क) आवश्यक सूत्र; मलयगिरि; पृ. 252
(ख) समवायांग सूत्र; श्री अभयदेव वृत्ति; वही; पृ. 99
68. स्थानांग; वही; स्थान 4
69. (क) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 14
(ख) समवायांग सूत्र; श्री अभयदेव वृत्ति; वही; पृ. 99
(ग) आवश्यक सूत्र; मलयगिरि; वही; पृ. 252
70. (क) आवश्यक सूत्र; मलयगिरि; पृ. 252
(ख) समवायांग सूत्र; श्री अभयदेव वृत्ति; वही; पृ. 99
71. कल्पसूत्र टिप्पण; आचार्य पृथ्वीचन्द्र सूत्र; 3 पृ. 1
72. आचारांग; द्वितीय श्रुत स्कन्ध; आचार्य शीलांक; वृत्ति; वही; पृ. 421
73. वही
74. वही
75. आवश्यक सूत्र; मलयगिरि; वही; पृ. 254
76. वही
77. वही
78. स्थानांग; युवाचार्य श्री मधुकरमुनिजी म. सा.; प्रका. आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर; सन् 1992; स्थान 10
79. (क) आवश्यक सूत्र; मलयगिरी; वही; पृ. 258
(ख) आचारांग; द्वितीय श्रुत स्कन्ध; आचार्य शीलांक; वृत्ति; वही; पृ. 422
(ग) उत्तर पुराण; श्री गुणभद्राचार्य विरचित; वही; सर्ग 74; गाथा 295
80. आवश्यक सूत्र; मलयगिरी; वही; पृ. 259
81. औपपातिक सूत्र; वही; पृ. 15–17
82. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 25–26

परिणय की परिक्रमा – नवम अध्याय

क्षत्रियकुण्ड का वह नन्द्यावर्त प्रासाद[1], जहां कुमार वर्धमान ने जन्म लिया, नई–नवेली वधू–सा सज रहा है। पूरा का पूरा नगर नवोढा का रूप धारण कर रहा है। कहीं नृत्य, कहीं गायन, कहीं वादन आदि मनोरंजनपूर्ण कार्यक्रमों से नगर में उत्सव–सा माहौल बन गया है। सभी को राजकुमार वर्धमान का विवाह देखने की उत्सुकता है। जन–धारणा है कि विरक्त रहने वाले कुमार विवाह कैसे करेंगे?

आखिर वह दिन आ ही गया जिसका सबको इन्तजार था। कुमार वर्धमान यशोदा के साथ विवाह मण्डप में बैठे हैं। आंखों से दृश्य देखने के पश्चात् भी जनता को विश्वास नहीं हो रहा है कि यह विवाह है या कोई स्वप्न?

राजा सिद्धार्थ[2] स्वयं साश्चर्य चिन्तन कर रहे हैं, क्या एकाकी रहने वाला कुमार आज............ समरवीर............ की लड़की............ यशोदा के साथ विवाह मण्डप में बैठा है?

बन्धन! वह तो बन्धन ही है। महारानी प्रियकारिणी[3] का प्रयास सफल रहा। अभी सात फेरों से कुमार परिणय सूत्र में बंध जायेगा, फिर क्या? यशोदा[4] स्वयं ही अपने लुभावने प्रयासों से कुमार के एकाकीपन को दूर करेगी। राजा सिद्धार्थ चिंतन में निमग्न हैं, उधर विवाह का कार्यक्रम सम्पन्न हो रहा है। पंडित शब्दोच्चारण से ध्यानाकृष्ट कर रहा है। भांवरों का समय आ गया है। दोनों ने सप्त फेरे लिए। परिणय–बन्धन का लौकिक क्रम यथासमय पूर्ण हुआ।

यशोदा वर्धमान जैसे वीर की अर्द्धांगिनी बनकर अपने–आपको परम गौरवशाली महसूस कर रही थी। उन्नत तेजस्वी ललाट, कृष्ण–सचिक्कण बाल, जिनकी लटाएं कपोलों पर भ्रमरवत मधुपान कर रही थीं। कपोलों पर छलकती अरुणिमा दाड़िम के बीजवत शोनायमान हो रही थी। सुदीर्घ भौंहें, विशाल नेत्र, प्रलम्ब कर्ण, उन्नत नासिका और रक्तिम अधर अप्सराओं के रूप–लावण्य को पराजित करने में परिपूर्ण सक्षम थे। जब यशोदा अपने अधर सम्पुट को खोलती तब कुन्द पुष्प के समान चमकती श्वेत दन्त–पंक्ति मानो मोती बरसाती

हुई प्रतीत होती थी। उसकी वह मधुर वाणी सहज आकर्षण का केन्द्र थी। प्रलम्ब भुजबल और तनु कटि–भाग गात्र को कमनीय बना रहा था। गजहस्ती–सी चाल और अरुणाभ नख अभिनव आभा विकीर्ण कर रहे थे। शारीरिक सौन्दर्य के साथ–साथ मन भी सुन्दर भावों का आगार था। विवाह के पूर्व ही यशोदा ने संकल्प कर लिया कि जिस किसी के साथ विवाह करूंगी, उसी पुरुष की आज्ञा में अपना जीवन समर्पित करके रहूंगी। इसी समर्पण भावना से उसने कुमार वर्धमान को अपनाया। वह सोचती है कि इसी समर्पणा से वर्धमान को जीत लूंगी और वर्धमान, वे जानते हैं कि लुभावने संसार के आकर्षण ही कर्म शृंखला को आबद्ध करने वाले हैं।[5] दोनों ही अपने–अपने मन में कल्पनाएं संजोये, एक–दूसरे के आमने–सामने बैठे हैं। आखिर मौन तोड़कर बोले............

यशोदा! स्वयं का पाना ही परिणय की सार्थकता है।

हां स्वामिन्! वही पाने हेतु आपकी सन्निधि मिली है।

तो क्या कभी चिन्तन किया कि मैं कौन हूं? कुमार ने पूछा।

नहीं............ नहीं यशोदा ने कहा।

तब प्राप्त करना सार तत्त्व को। देखना शरीर पिण्ड के भीतर कौन बैठा है?

हां स्वामिन्! जरूर करूंगी। क्या वही प्रियतम् होगा? यशोदा ने पूछा।

हां यशोदे, वही अजर, अमर, शाश्वत और प्रियतम है। उसे ही एक बार निहार लो तो फिर प्रियतम् से साक्षात्कार हो जायेगा।।

अच्छा! स्वामिन् वैसा ही करूंगी।

वार्तालाप करते–करते न जाने कब निद्रा आ जाती है। यशोदा स्वामीनिष्ठा और समर्पण की लौ बनकर वर्धमान के मन–आंगन को प्रकाशमान करने में तत्पर है। वह कुमार के प्रत्येक कार्य को स्वीकार कर प्रतिकार की स्पर्धा से परे है। वर्धमान की जीवनसंगिनी बनकर भी अधिकार की पैनी धार से विलग है। इन्हीं प्रयासों से वर्धमान का मन जीतने का स्तुत्य प्रयास किया। नारीत्व से मातृत्व की यात्रा करते हुए एक पुत्रीरत्न को जन्म दिया। राजा सिद्धार्थ और त्रिशला अपनी पौत्री को प्राप्त कर आनन्द निमग्न बने। उसका यथाविधि

नामकरण संस्कार किया। सभी को प्रिय लगने वाली होने से उसका नाम प्रियदर्शना रखा गया।[7] पांच धायों द्वारा प्रियदर्शना का पालन–पोषण होने लगा। दादा, दादी, बड़े पिताजी, बड़ी माताजी, एवं माता–पिता के निश्छल प्यार से प्रियदर्शना राजघराने में पल्लवित–पुष्पित होने लगी।

शनैः–शनैः प्रियदर्शना युवा–वय को सम्प्राप्त हुई। अंग–प्रत्यंग से यौवन प्रस्फुटित होने लगा। तब परिणय वेला जानकर उसका विवाह सुदर्शना के पुत्र राजकुमार जमालि के साथ कर दिया गया।[8]

एक बार राजा सिद्धार्थ और महारानी त्रिशला राजभवन में बैठे थे। त्रिशला ने सिद्धार्थ से कहा– राजन! हमारे गृहस्थ के दायित्व पूर्ण हो गये हैं। यहां तक कि हमने पौत्री प्रियदर्शना का विवाह भी कर दिया है। अब हमारी वृद्धावय है। इसमें हमें धर्म–आराधना करते हुए यह शेष जीवन व्यतीत करना चाहिए।

सिद्धार्थ ने समर्थन करते हुए कहा– हां, महारानी! तुम ठीक कह रही हो। धर्म–जागरणा करते हुए हम मानव जीवन को सफल बनायेंगे।

महाराजा और महारानी धर्म–ध्यान में निमग्न बन जाते हैं। दोनों का अन्तिम समय समीप आता है, तब काल का अवसर आया जानकर दोनों संलेखणा संथारा करके औदारिक शरीर त्याग कर बारहवें देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होते हैं। वहां से च्यवकर महाविदेह में जन्म लेकर सिद्ध–बुद्ध–मुक्त होंगे।[9]

संदर्भ: परिणय की परिक्रमा अध्याय 9

1. नन्द्यावर्त का चित्र।
2. राजा सिद्धार्थ के तीन नाम थे– सिद्धार्थ, श्रेयांस, यशस्वी, आचारांग, द्वितीय श्रुत. स्कन्ध, वही; अध्ययन 15
3. महारानी त्रिशला के तीन नाम थे– त्रिशला, प्रियकारिणी, विदेहदिन्ना।
4. यशोदा का कौण्डिन्य गोत्र बतलाया है, आचारांग, द्वितीय श्रुत स्कन्ध, वही, अध्ययन 15
5. जे गुणे से मूलट्ठाणे, जे मूलट्ठाणे से गुणे, आचारांग सूत्र: शीलांक वृत्ति, प्रका. देवचन्द लालभाई, सन् 1916, प्रथम श्रुत स्कन्ध, द्वितीय अध्ययन, प्रथम उद्देशक
6. Uttaradhyayana Sutra: K C Lalwani: Prajñanam, 12 Dutt Street,

Calcutta-6; 1977

7. भगवान् महावीर की पुत्री के दो नाम थे 1. अनवद्या 2. प्रियदर्शना, आचारांग; द्वितीय श्रुत स्कन्ध; वही; अध्ययन 15
8. कल्पसूत्र; देवेन्द्रमुनिजी म.सा.; वही; पृ. 144
9. आचारांग सूत्र; आचार्य शीलांक; द्वितीय श्रुत स्कन्ध; वही; अध्ययन–15

दीक्षा अध्ययन – दशम अध्याय

क्षत्रियकुण्ड नगर वीरान–सा लग रहा है। सबके चेहरे मुरझा रहे हैं। महाराजा सिद्धार्थ के देवलोक गमन के पश्चात् राजकीय कार्य विराम ले रहे हैं। स्वयं नन्दिवर्धन भी पितृ–मातृ शोक में निमग्न बने हैं। मातृ–पितृ वियोग संताप का कारण बन रहा है। प्रासाद में बैठे नन्दीवर्धन चिन्तन कर रहे हैं।

कितना जबर्दस्त वात्सल्य था पिताश्री, माताश्री का! जब भी उनके समीप पहुंचता, अपूर्व वात्सल्य से अनुप्राणित आशीर्वाद मिलता। उन्होंने मुझे बहुत–कुछ दिया। माता–पिता जन्मदाता ही नहीं, जीवनदाता, संस्कारदाता होते हैं। हृदय में धडकते वात्सल्य की सुन्दर धुन सुनाकर गर्भ से ही बच्चे को सुखमय वातावरण देने का स्तुत्य प्रयास करते हैं। उठना, बैठना, चलना, फिरना, बोलना आदि समस्त क्रियाएं सिखला कर प्रवीण करने का प्रयास करते हैं। कालाचार्य के पास पढ़ाकर निष्णात बनाते हैं। युवावय होने पर विवाह करते हैं। वृद्धावय में कई गुने अधिक वात्सल्य से पौत्र–पौत्रियों का दुलार करते हैं। ऐसी सन्तान की अहर्निश सेवा करने वाले माता–पिता होते हैं। मेरी माताश्री और पिताश्री ने भी जीवनपर्यन्त मेरी सेवा की, लेकिन मैं............ कर्ज न चुका सका............ ओह! मातुश्री! पिताश्री! आपका कर्ज इतना बड़ा था कि चुकाने में जीवन भी थोडा पड गया। आंखों से अश्रु धारा बहती है। गंगा–यमुना की तरह निकलती हुई वह धारा कपोलों का संस्पर्श कर नीचे प्रवाहित होती है कि राजकुमार वर्धमान का आगमन होता है। कुमार वर्धमान भैया के नयनों से बह रही अश्रुधारा को देखकर.......... . अरे भैया! यह क्या कर रहे हो? क्या अभी भी शोकसागर में निमग्न है? जन्म–मरण सांसारिक जीवन के दो छोर हैं। उनके समाप्त हो जाने पर भी आत्मा अजर–अमर है। फिर आर्तध्यान क्यों कर रहे हो? नन्दीवर्धन– क्या बताऊं वर्धमान! उनके वात्सल्य के ऋण से उऋण हूं।

प्रयास किया। उनके धर्मकार्यों में कभी बाधक नहीं बने, फिर आर्तध्यान क्यों? आप भी ऐसा करेंगे तब राज्य का क्या होगा?

नन्दीवर्धन– वर्धमान, राज्य–सत्ता तो तुम्हें सम्हालनी होगी।

वर्धमान– नहीं............ नहीं! राज्य करने की मेरी कतई भावना नहीं है। मैं तो आत्मराज्य का अभिलाषी हूं।

नन्दीवर्धन– वर्धमान! आत्मराज्य बाद में करना, पहले यह राज्य तो करो।

वर्धमान– नहीं भैया! यह राज्य तो आपको ही करना है। आपको तो शोक का परित्याग कर राज्य–सत्ता को सम्हालना होगा।

जब राजकुमार वर्धमान अपने बड़े भैया को समझा रहे थे, तभी मंत्री का प्रवेश होता है।

राजकुमार वर्धमान मंत्री से कहते हैं– मंत्री प्रवर, राज्याभिषेक की तैयारी करवाइए। भैया का राज्याभिषेक करना है।

मंत्री– जो आज्ञा! कहकर राज्याभिषेक की तैयारी करता है। बड़े उल्लासमय वातावरण में नन्दीवर्धन का राज्याभिषेक सम्पन्न होता है।[3]

नन्दीवर्धन तो राज्य–सत्ता को सम्हाल रहे हैं लेकिन राजकुमार वर्धमान, वे कर्म–पिंजर से उन्मुक्त बनने हेतु समुत्सुक हैं। बन्धन तोड़कर निर्बन्ध यात्रा के प्रयाण की तैयारी है। आत्म–घर में निवास करने वाली आत्मा बाह्य घर के सींखचों में जकड़कर रहना नहीं चाहती। कुमार वर्धमान चिन्तन करते हैं– माता पिता का देहावसान हो चुका है, मेरी गर्भकाल में की गयी प्रतिज्ञा पूर्ण हो गयी कि माता–पिता के रहते दीक्षा नहीं लूंगा।[4] अब अवसर आ गया कि मैं आत्मसाधना में निमग्न बनूं एतदर्थ आवश्यकता है कि मैं अपने बड़े भ्राता नन्दीवर्धन की आज्ञा प्राप्त करूं।

यह सोचकर कुमार नन्दीवर्धन के प्रासाद में गये। नन्दीवर्धन सिंहासन पर बैठे थे। अपने लघु भ्राता को देखकर आनन्द निमग्न बने– ओह! वर्धमान! आज आपका आगमन! आओ! आओ!

कुमार वर्धमान पास बैठकर– और भैयाजी ठीक है?

नन्दीवर्धन– हां कुमार, सब ठीक है। तुम कैसे हो?

वर्धमान— आपकी कृपा से ठीक हूं। एक विशेष प्रयोजन से आपके पास आया हूं।

नन्दीवर्धन— बोलो! क्या प्रयोजन है?

वर्धमान— मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण हो गयी। अब मैं............

नन्दीवर्धन— कौनसी प्रतिज्ञा? कैसी प्रतिज्ञा? कब पूर्ण हुई?

वर्धमान— भैया, मैंने माता–पिता के अपूर्व वात्सल्य से अनुप्राणित हो, गर्भस्थ अवस्था में प्रतिज्ञा की थी कि जब तक माता–पिता जीवित रहेंगे तब तक संयम ग्रहण नहीं करूंगा। अब मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई। मैं संयम मार्ग पर आरूढ होना चाहता हूं।

नन्दीवर्धन— ऐं! यह क्या बोल रहे हो? माता–पिता के चले जाने से शरीर पहले से ही निष्प्राणवत हो रहा है। अभी तो उनके दुःख का भी अविस्मरण है। फिर तुम्हारे............ जाने से तो शरीर में प्राणों का टिकना मुश्किल होगा।

वर्धमान— तब क्या करूं?

नन्दीवर्धन— अभी संयम मार्ग की अनुज्ञा नहीं दे सकता।

वर्धमान— तब फिर कब देंगे?

नन्दीवर्धन— दो साल तो नहीं दूंगा।

वर्धमान— दो साल............ दो साल तो घर में रहना कठिन है। तब इन दो सालो में............

नन्दीवर्धन— क्या करोगे दो सालों मे?

वर्धमान— घर में रहकर भी साधुवत जीवन का पालन करूंगा।

नन्दीवर्धन— घर में रहकर साधुवत............!

वर्धमान— हां भैया! घर मे रहकर भी ब्रह्मचर्य का पालन करूंगा। स्नान, अलंकार, शरीर की विभूषा नही करूंगा। अचित्त अन्न–जल से जीवन–निर्वाह करूंगा।

नन्दीवर्धन— ऐसी कठोर चर्या! कहकर मौन हो जाते है।

वर्धमान— प्रणाम करते हुए— अच्छा भैया जाता हूं।

यह कहकर चले जाते है, यशोदा के पास। यशोदा अपने स्वामी को आता देख खड़ी होती है। स्वागत के शब्दों में ...... आइये, पधारिये।

त्याग–वैराग्यपरक बतलाया था। मैं उस समय नहीं समझ पाई लेकिन आज............ ज्ञात हो रहा है वास्तव में वर्धमान बचपन से ही वैरागी थे। इसी कारण वे लुभावने दृश्यों को देखकर भी मौन ही रहते थे। कामनाजन्य बातों में कभी उन्होंने रस नहीं लिया। वे स्वयं में ज्यादा ही लीन रहते थे............।

वर्धमान सामान्य पुरुष नहीं। वस्तुतः वे आत्मवीर हैं, महावीर हैं, जो भोगों के मेले में भी अकेले रहने को तत्पर हैं। जो सभी साध न–सामग्रियों के मध्य निर्लेप है। धन्य है ऐसे स्वामी को! उनका प्रत्येक व्यवहार प्रेरणादायी है। मेरा सौभाग्य है कि मैं उनकी अर्द्धांगिनी बनी............ चिन्तन की चांदनी में खोई यशोदा कब निद्रालीन हो जाती है, पता ही नहीं चलता।

इधर वर्धमान जलकमलवत् निर्लेप बने एकाकी कमरे में रहते हैं। परिपूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए आत्मसाधना में लीन, स्नान, विभूषा शृंगारादि से रहित आत्म–जयी साधना कर रहे हैं। साधना करते हुए निरन्तर अपने जीवन को सजाने–संवारने का प्रयास कर रहे हैं। सबके बीच भी वर्धमान अकेले हैं। ऐसी ही साधना करते हुए उन्हें एक वर्ष व्यतीत हो जाता है।

लोकान्तिक देव प्रतिबोधित करते हैं कि सम्पूर्ण जगत् के कल्याण के लिये धर्मतीर्थ को प्रकट कीजिए। लोकान्तिक देवों की भावना जानकर कुमार वर्धमान ने वर्षीदान देना प्रारम्भ किया।'

कुमार वर्धमान का प्रतिदिन का क्रम बन गया दान देने का। वे प्रतिदिन सूर्योदय से एक प्रहर तक एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्राएं याचकों को दान में देते थे। ये स्वर्णमुद्राएं शक्रेन्द्र के आदेशानुसार वैश्रमण देव ने वर्धमान के खजाने में भर दी थी। अतः प्रतिदिन दान देकर ही वर्धमान भोजनादि लेते थे। इस प्रकार एक वर्ष तक निरन्तर दान देते हुए वर्धमान ने 3 अरब 88 करोड़ 80 लाख स्वर्ण मुद्राएं दान में दीं तब लोकान्तिक देव अपना जीताचार जानकर प्रतिबोधित करने आये कि भगवन्! सम्पूर्ण जगत् के जीवों के हित के लिये धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करें।

[illegible] और [illegible]

जाते हैं और निवेदन करते हैं– विज्ञवरों! आपके कथनानुसार गृहवास में रहकर मैंने दो वर्ष व्यतीत कर दिये हैं। अब मैं आपसे अनुज्ञा प्राप्त कर संयम ग्रहण करना चाहता हूं।

नन्दीवर्द्धन, सजल नयनों से निहारते हुए– अब तो अनुज्ञा देनी ही होगी। कुमार वर्द्धमान! इच्छा नहीं होते हुए भी वचनबद्ध होने से तुम्हारी दीक्षा की तैयारी करवाता हूं।

कुमार वर्द्धमान लौट जाते हैं। नन्दीवर्द्धन दीक्षा की तैयारी करवा रहे हैं।

इधर सम्पूर्ण देवलोक में भगवान् के अभिनिष्क्रमण को लेकर हलचल मच गयी है। भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिक देव–देवियां अपनी–अपनी ऋद्धि और परिवारसहित तिर्यक लोक में असंख्य द्वीप–समुद्रों का उल्लंघन करते हुए क्षत्रियकुण्ड में आकर अपने विमानों से उतर रहे हैं। स्वयं देवराज इन्द्र– शक्रेन्द्र भी अपनी ऋद्धि और परिवारसहित विमान से उतरते हैं। उतर कर क्षत्रियकुण्ड के एकान्त स्थान में जाते हैं। वहां जाकर वैक्रिय समुद्घात करते हैं। वैक्रिय समुद्घात करके शक्रेन्द्र ने एक मणिरत्न–चित्रित, शुभ, मनोहर, विशाल देवच्छंदक – भगवान के लिये विशिष्ट स्थान–का निर्माण किया। निर्माण करके उसके मध्य में पादपीठ सहित भव्य सिंहासन की विकुर्वणा (रचना) की। सिंहासन का निर्माण करने के बाद जहां कुमार वर्धमान थे, वहां आया। वहां आकर भगवान की तीन बार आदक्षिणा–प्रदक्षिणा की। तत्पश्चात् वन्दन–नमस्कार किया। वन्दन–नमस्कार करके भगवान् महावीर को उस देवच्छन्दक स्थान पर लाया। तत्पश्चात् भगवान् को सिंहासन पर बिठाया। सिंहासन पर बिठाकर भगवान् के शरीर पर शतपाक, सहस्रपाक तेल की मालिश की। सुगन्धित तेलों का उबटन करके निर्मल जल से भगवान् को स्नान करवाया। स्नान करवाकर एक लाख के मूल्य वाले वस्त्र को तीन पट लपेटकर शरीर पर सरस गोशीर्ष चन्दन का लेप किया। तत्पश्चात् अत्यन्त बारीक, श्वेत, स्वर्णतार परिमंडित, बेशकीमती वस्त्र युगल को पहनाया। तत्पश्चात् हार, अर्द्धहार एवं वक्षस्थल पर सुन्दर आभूषण, एकावली, लटकती मालाएं, कटिसूत्र, मुकुट एवं रत्नों की

मालाओं से भगवान् के शरीर को अलंकृत किया। तत्पश्चात् ग्रंथिम, वेष्टिम, पूरिम और संघातिम, चार प्रकार की पुष्पमालाओं से कल्पवृक्ष की तरह प्रभु के शरीर को विभूषित किया।

भगवान को सुसज्जित करने के पश्चात् शक्रेन्द्र ने पुनः वैक्रिय समुद्घात किया। वैक्रिय समुद्घात करके तत्काल चन्द्रप्रभा नामक एक विराट सहस्त्रवाहिनी शिविका का निर्माण किया। उस शिविका पर ईहामृग, वृषभ, अश्व, नर, मगर, पक्षिगण, बन्दर, हाथी, रुरु, सरभ, चमरी गाय, शार्दूल सिंह आदि अनेक पशु–पक्षियों के चित्र एवं अनेक वनलताओं के चित्र अंकित थे। पशु–पक्षियों के अतिरिक्त अनेक विद्याधरों के जोड़े भी यंत्रयोग से अंकित किये गये थे। सूर्य से भी अत्यन्त देदीप्यमान वह शिविका मोती–मुक्ताजाल, लम्बी लटकती मौक्तिक मालाओं से सुशोभित थी। अनेक मणियों, घण्टाओं एवं पताकाओं से परिमण्डित शुभ, सुन्दर, कमनीय, दर्शनीय और अत्यन्त मनमोहक थी। उस शिविका के मध्य श्रेष्ठ रत्न राशि से सुसज्जित पादपीठ से युक्त महामूल्यवान एक सिंहासन बनाया गया। तत्पश्चात् जहां भगवान महावीर थे, वहां शिविका लाई गयी। शिविका स्थित सिंहासन पर भगवान् महावीर, जो बेले की तपश्चर्या से युक्त शुभ लेश्याओं से विशुद्ध थे, उनको बिठलाया। इस प्रकार हेमन्त ऋतु के प्रथम मास और प्रथम पक्ष (मृगसर कृष्णा दशमी) के दिन प्रथम प्रहर व्यतीत होने पर सुव्रत दिन, विजय मुहूर्त में भगवान शिविका में विराजे।

भगवान के शिविका में विराजने पर उनके दोनों ओर दो इन्द्र– शक्रेन्द्र एवं ईशानेन्द्र मणि–रत्नादि से चित्रित दण्डे वाले चंवर भगवान पर डुलाने लगे।

जाते हैं और निवेदन करते हैं– विज्ञवरों! आपके कथनानुसार गृहवास में रहकर मैंने दो वर्ष व्यतीत कर दिये हैं। अब मैं आपसे अनुज्ञा प्राप्त कर संयम ग्रहण करना चाहता हूं।

नन्दीवर्धन, सजल नयनों से निहारते हुए– अब तो अनुज्ञा देनी ही होगी। कुमार वर्धमान! इच्छा नहीं होते हुए भी वचनबद्ध होने से तुम्हारी दीक्षा की तैयारी करवाता हूं।

कुमार वर्धमान लौट जाते हैं। नन्दीवर्धन दीक्षा की तैयारी करवा रहे हैं।

इधर सम्पूर्ण देवलोक में भगवान् के अभिनिष्क्रमण को लेकर हलचल मच गयी है। भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिक देव–देवियां अपनी–अपनी ऋद्धि और परिवारसहित तिर्यक लोक में असंख्य द्वीप–समुद्रों का उल्लंघन करते हुए क्षत्रियकुण्ड में आकर अपने विमानों से उतर रहे हैं। स्वयं देवराज इन्द्र– शक्रेन्द्र भी अपनी ऋद्धि और परिवारसहित विमान से उतरते हैं। उतर कर क्षत्रियकुण्ड के एकान्त स्थान में जाते हैं। वहां जाकर वैक्रिय समुद्‌घात करते हैं। वैक्रिय समुद्‌घात करके शक्रेन्द्र ने एक मणिरत्न–चित्रित, शुभ, मनोहर, विशाल देवच्छंदक – भगवान के लिये विशिष्ट स्थान–का निर्माण किया। निर्माण करके उसके मध्य में पादपीठ सहित भव्य सिंहासन की विकुर्वणा (रचना) की। सिंहासन का निर्माण करने के बाद जहां कुमार वर्धमान थे, वहां आया। वहां आकर भगवान की तीन बार आदक्षिणा–प्रदक्षिणा की। तत्पश्चात् वन्दन–नमस्कार किया। वन्दन–नमस्कार करके भगवान् महावीर को उस देवच्छन्दक स्थान पर लाया। तत्पश्चात् भगवान् को सिंहासन पर बिठाया। सिंहासन पर बिठाकर भगवान् के शरीर पर शतपाक, सहस्रपाक तेल की मालिश की। सुगन्धित तेलों का उबटन करके निर्मल जल से भगवान् को स्नान करवाया। स्नान करवाकर एक लाख के मूल्य वाले वस्त्र को तीन पट लपेटकर शरीर पर सरस गोशीर्ष चन्दनं का लेप किया। तत्पश्चात् अत्यन्त बारीक, श्वेत, स्वर्णतार परिमंडित, बेशकीमती वस्त्र युगल को पहनाया। तत्पश्चात् हार, अर्द्धहार एवं वक्षस्थल पर सुन्दर आभूषण, एकावली, लटकती मालाएं, कटिसूत्र, मुकुट एवं रत्नों की

मालाओं से भगवान् के शरीर को अलंकृत किया। तत्पश्चात् ग्रंथिम, बेष्टिम, पूरिम और संघातिम, चार प्रकार की पुष्पमालाओं से कल्पवृक्ष की तरह प्रभु के शरीर को विभूषित किया।

भगवान को सुसज्जित करने के पश्चात् शक्रेन्द्र ने पुनः वैक्रिय समुद्घात किया। वैक्रिय समुद्घात करके तत्काल चन्द्रप्रभा नामक एक विराट सहस्रवाहिनी शिविका का निर्माण किया। उस शिविका पर ईहामृग, वृषभ, अश्व, नर, मगर, पक्षिगण, बन्दर, हाथी, रुरु, सरभ, चमरी गाय, शार्दूल सिंह आदि अनेक पशु–पक्षियों के चित्र एवं अनेक वनलताओं के चित्र अंकित थे। पशु–पक्षियों के अतिरिक्त अनेक विद्याधरों के जोड़े भी यंत्रयोग से अंकित किये गये थे। सूर्य से भी अत्यन्त देदीप्यमान वह शिविका मोती–मुक्ताजाल, लम्बी लटकती मौक्तिक मालाओं से सुशोभित थी। अनेक मणियों, घण्टाओं एवं पताकाओं से परिमण्डित शुभ, सुन्दर, कमनीय, दर्शनीय और अत्यन्त मनमोहक थी। उस शिविका के मध्य श्रेष्ठ रत्न राशि से सुसज्जित पादपीठ से युक्त महामूल्यवान एक सिंहासन बनाया गया। तत्पश्चात् जहां भगवान महावीर थे, वहां शिविका लाई गयी। शिविका स्थित सिंहासन पर भगवान् महावीर, जो बेले की तपश्चर्या से युक्त शुभ लेश्याओं से विशुद्ध थे, उनको बिठलाया। इस प्रकार हेमन्त ऋतु के प्रथम मास और प्रथम पक्ष (मृगसर कृष्णा दशमी) के दिन प्रथम प्रहर व्यतीत होने पर सुव्रत दिन, विजय मुहूर्त में भगवान शिविका में विराजे।

भगवान के शिविका में विराजने पर उनके दोनों ओर दो इन्द्र– शक्रेन्द्र एवं ईशानेन्द्र मणि–रत्नादि से चित्रित डंडे वाले चंवर भगवान पर डुलाने लगे।

सर्वप्रथम मनुष्यों ने हर्षवश शिविका उठाई। तत्पश्चात् सुर, असुर, गरुड़ और नगेन्द्र आदि देव शिविका उठाकर चलने लगे। शिविका को पूर्व दिशा की ओर से वैमानिक देव उठाकर चलते हैं, दक्षिण दिशा की ओर से असुरकुमार उठाते हैं। पश्चिम दिशा की ओर से गरुड़देव तथा उत्तर दिशा की ओर से नागकुमार देव उठाकर चलते हैं।[6] यह दृश्य बड़ा अभिराम था। उस पालकी के पीछे देव और मनुष्यों के झुण्ड–के–झुण्ड चल रहे थे। देवसमूह भी हर्षोल्लासपूर्वक कार्य कर

रहे थे। कई देव शंख बजा रहे थे। कई चक्र धारण कर शिविका के आगे चल रहे थे। कई हल धारण किये चल रहे थे। कई मधुर वाणी बोलते हुए चल रहे थे। इन सभी से घिरे हुए भगवान को पालकी में विराजे देखकर भगवान् के कुल के वृद्धजन इष्ट शब्दों से भगवान् का अभिनन्दन करते, हुए भगवान् की स्तुति करते हुए, इस प्रकार कहते हैं– हे नन्द! आपकी जय हो! विजय हो! हे भद्र! आपकी जय हो! जय हो! आपका कल्याण हो! इन्द्रियजयी बन श्रमणत्व का पालन करो। शुक्ल ध्यान ध्याता बनकर, अष्टकर्म जीतकर, कैवल्य ज्योति का वरण करो। परीषह सेना को पराजित कर मुक्ति का वरण करो। अनेक वर्षों तक उत्तम चारित्र का पालन कर निर्विघ्न यात्रा करो। हे क्षत्रिय! तुम्हारी जय हो! जय हो! इस प्रकार कहकर लोग जय–जयकार करने लगे।

हजारों–हजार लोग भगवान की प्रशंसा करते हुए, उनकी यश–गाथा गाते हुए चल रहे थे। क्षत्रियकुण्ड की छतों पर, पथ पर, खिड़कियों से, झरोखों से, अनेक लोग भगवान् को देखने के लिये उत्सुक हो खड़े थे। ज्योंही भगवान् दिखते, उन्हें प्रणाम करते हुए अपने को गौरवान्वित मान रहे थे। प्रभु भी दाहिने हाथ से हजारों नर–नारियों के प्रणाम को स्वीकार कर रहे थे। कोई वाद्य बजा रहे थे, कोई नाटक कर रहे थे, कोई शंखनाद कर रहे थे। इसी प्रकार ढोल, भेरी, झालर, खरमुखी, हुडुक्क, दुन्दुभि आदि वाद्यों के मधुर निनाद के साथ भगवान् कुण्डलपुर के बीचोबीच निकलते हैं और ज्ञातवनखण्ड उद्यान में उत्तम अशोक वृक्ष के पास पहुंचते हैं। वहीं पालकी नीचे रखते हैं। भगवान् पालकी से नीचे उतरते हैं। उतरकर हार, पुष्पमाला, अंगूठियां आदि अलंकार स्वयमेव उतारते हैं। तत्काल वैश्रमण देव घुटने टेककर भगवान के चरणों में झुकता है तथा भक्तिपूर्वक उन सभी आभूषणों को हंसलक्षण सदृश श्वेत वर्ण वाले वस्त्र में ग्रहण करता है।

तत्पश्चात् भगवान् पंचमुष्टि लोच करते हैं।[9] शक्रेन्द्र उन बालों को हीरे के थाल में ग्रहण करता है। तदनन्तर भगवान आपकी अनुमति है, यों कहकर उन केशों को क्षीरसमुद्र में प्रवाहित कर देता है।

भगवान एक मुट्ठी से दाढ़ी का और चार मुट्ठी से सिर का लोच

करते हैं।[10] तत्पश्चात् बेले की तपश्चर्या से उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र आते ही एक देवदूष्य वस्त्र लेकर, अकेले ही मुण्डित होकर सिद्धों एवं संयतियों को नमस्कार करके सम्पूर्ण सावद्य योगों का तीन करण, तीन योग से त्यागकर, अकेले ही मुंडित होकर आगार का परित्याग कर अणगार धर्म को स्वीकार करते हैं।[11] सामायिक चारित्र ग्रहण करते ही भगवान को मनःपर्यायज्ञान प्राप्त हो जाता है। उसी समय भगवान यह प्रतिज्ञा ग्रहण करते हैं कि जब तक मुझे कैवल्यज्ञान नहीं हो जाये, तब तक–

1. शरीर की शुश्रूषा (सार–सम्हाल) नहीं करूंगा।

2. देव, मानव और तिर्यंच सम्बन्धी उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करूंगा।

3. मन में क्षमाभाव रखूंगा।[12]

इस प्रकार की प्रतिज्ञा ग्रहण कर भगवान् वहां से कूमारग्राम की ओर प्रस्थान करते हैं। जन–समूह एकटक से टक–टकी लगाकर जाते हुए भगवान् को देखता है। जब प्रभु दृष्टि से ओझल हो जाते हैं तो दर्शकों के नेत्रों से आसुंओं की झड़ियां बहने लगती हैं। सजल नेत्रों से लोग अपने–अपने घरों की ओर प्रस्थान करने हेतु उद्यत बनते हैं।

संदर्भः दीक्षा अध्ययन अध्याय 10

1. स्थानांग सूत्र; वही; स्थान 3
2. Uttaradhyayana Sutra; K.C. Lalwani; Lesson-23
3. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही; पृ. 27
4. आवश्यक सूत्र; पूर्वभाग; श्री भद्रबाहुकृत निर्युक्ति चूर्णि, श्री जिनदासगणि महत्तर कृत चूर्णि युक्त; प्रका. श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी जैन श्वेताम्बर संस्था, रतलाम; सन् 1928; पृ. 242
5. (क) आवश्यक सूत्र; पूर्वभाग; श्री भद्रबाहुकृत निर्युक्ति चूर्णि, श्री जिनदासगणि महत्तर कृत चूर्णि युक्त; वही; पृ. 249
   (ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; पृ.27
6. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; पृ.27
7. आचारांग; द्वितीय श्रुत स्कन्ध; वही; अध्ययन 15
8. (क) आचारांग; वही; अध्ययन 15

(ख) आवश्यक सूत्र; पूर्वभाग; श्री भद्रबाहुकृत निर्युक्ति चूर्णि, श्री जिनदासगणि महत्तर कृत चूर्णि युक्त; वही; पृ. 256–60

9. (क) आचारांग; वही; अध्ययन 15
(ख) आवश्यक सूत्र; पूर्वभाग; श्री भद्रबाहुकृत निर्युक्ति चूर्णि, श्री जिनदासगणि महत्तर कृत चूर्णि युक्त; वही; पृ. 260–67

10. कल्पसूत्र; श्री देवेन्द्रमुनिजी म. सा.; वही; पृ. 153

11. (क) आवश्यक सूत्र; पूर्वभाग; श्री भद्रबाहुकृत निर्युक्ति चूर्णि, श्री जिनदासगणि महत्तर कृत चूर्णि युक्त; वही; पृ. 264–68
(ख) आचारांग; द्वितीय श्रुत स्कन्ध; वही; अध्ययन 15

12. आचारांग; वही; अध्ययन 15

साधनाकाल का प्रथम वर्ष – एकादशम् अध्याय

राजमहलों के राजसी सुखों में पलने वाले सुकुमाल देही, जिनको देखने के लिए सहस्त्रों नेत्र निरन्तर उत्सुक रहते थे, जिनकी वाणी सुनने के लिए कान तत्परशील रहते थे, जो सबके नयन सितारे थे, वे राजकुमार वर्धमान अब 'महावीर स्वामी' बन गये, मुनि हो गये। राजकुमार भिक्षुक के कंटकाकीर्ण पथ पर चलने लगे।

वर्धमान तो भिक्षुक बन गये किन्तु यशोदा का सुकुमाल हृदय तो स्वामी के लिए बेचैन हो रहा है, चिन्तन की गहराइयों में डूबा भावतरंगों को प्रवाहित कर रहा है। प्रासाद के एकान्त में मलिनवदना यशोदा डूबी है, राजकुमार वर्धमान के परीषहों की धारा में। अहा! हा! क्या होता होगा। स्वामी! वे तो चले गये.......... सब–कुछ त्याग दिया. .... लेकिन............ मैं................ विरक्त न बन पाई। उनका वह सुकोमल शरीर.................. कैसे सहन कर पायेगा सर्दी–गरमी! ओह! उनको वहां कैसा भोजन मिलेगा? कौन खयाल रखेगा कि भोजन किया या नहीं? पानी पीया या नहीं? भोजन करने के लिए पात्र भी नहीं..... .... कितनी कठोर चर्या! अब कहां गरम भोजन! ठण्डा, बासी जो मिलेगा वही खाना होगा। शरीर पर भी अल्प वस्त्र हैं। डांस–मच्छर कितने परेशान करेंगे। एक डांस भी काट डाले तो कई देर खुजाल आती रहती है। वहां कौन पंखा झलेगा? भ्रमर, कीट, मच्छरादिकृत भीषण उपसर्गों को कैसे सहन करेंगे? कहां–कहां जायेंगे?

आत्मजागरण के क्षणों में शरीर का व्युत्सर्ग कर स्वयं को खोज रहे हैं। ऐसे प्रशान्त वातावरण में प्रभु के गात्र से चन्दनादि सुगन्धित द्रव्य की भीनी–भीनी महक, वायुमण्डल में प्रसरित वातावरण को मनमोहक बना रही है। भगवान् के श्वास की सौम्य सुगन्ध वातावरण को सुगन्धित गन्ध–वाटिका बना रही है। उस सुगंधित वातावरण से आकृष्ट होकर भ्रमर, पतंगे, कीट आदि प्रभु के शरीर के चारों तरफ गुनगुनाहट करते हुए मंडरा रहे हैं और पास आकर डंक लगा रहे हैं। उनके सुडौल शरीर पर घाव कर रहे हैं। प्रभु समभाव से सहन कर रहे हैं। उसी एकान्त वातावरण में प्रभु के आकर्षक मुख, रूप–लावण्य से

आकृष्ट बनी युवतियां प्रभु से काम–भोगों की याचना कर रही हैं लेकिन प्रभु अनुकूल परीषह को समभावपूर्वक सहन करते हैं। महापुरुष भीतर से बाहर की यात्रा करने में पुरुषार्थ नहीं करते। वे तो अपनी शक्ति का सदुपयोग आत्मजागरण में करते हैं।

कंटकाकीर्ण, ऊबड़–खाबड़ मार्ग, जिन पर कई नुकीले कंकर, पत्थर, कांटे! उनके वे सुकामल पांव! अहो! बिना जूते कैसे दर्द सहन कर पायेंगे? कहां उन्हें ठहरने का स्थान मिलेगा? कौन परिचर्या करेगा? मार्ग में कौन साथ चलेगा? हा! अर्द्धांगिनी बनकर भी मैं अभागिनी बन गयी। कुछ भी सेवा न कर पाई! ऐसा चिन्तन करते–करते यशोदा के अविरल अश्रुधारा बहने लगती है।

यशोदा महलों में बैठी वीर प्रभु के ध्यान में निमग्न है और भगवान् महावीर क्षत्रियकुण्ड से विहार कर के प्रहर दिन अवशेष रहते कूर्मारग्राम[1] पधार गये, जिसका वर्तमान नाम कामन छपरा है[2]। वहां बेले की तपश्चर्या में एक वृक्ष के नीचे जाकर खड़े हो गये। हाथ ऊपर करके स्थाणु की तरह अवस्थित रहकर प्रतिमा धारण कर ली[3]। बाहर से भीतर की यात्रा प्रारम्भ है। संयम–विपरीत वातावरण में भी अपने शुभ अध्यवसायों में रमण करते हुए लीन बने रहते हैं। उसी आत्मसाध ना में संलग्नता के समय में एक ग्वाला अपने बैलों को लेकर वहां पहुंचता है। आस–पास में घास देखकर बैल वहां चरने लगे। ग्वाला चिन्तन करता है कि बैल यहां चर रहे हैं और मुझे समीपवर्ती ग्राम में गायों को दूहने जाना है। तब यह व्यक्ति, जो वृक्ष के नीचे खड़ा है, इसे बैलों की निगरानी का कार्य सम्हलाकर मैं गाय दूहकर पुनः आ जाऊँगा तब बैलों को लौटा ले जाऊँगा। यह चिन्तनकर ग्वाला भगवान से कहता है– अरे भाई! ये मेरे बैल यहां घास चर रहे हैं, तुम इनका खयाल रखना। मैं समीपवर्ती गांव में जाकर, गाय दूहकर पुनः आता हूं, तब बैलों को ले जाऊँगा। ध्यानस्थ प्रभु कुछ भी न बोले तब ग्वाले ने मौन को स्वीकृति मानकर वहां से प्रस्थान कर दिया।

प्रभु तो अपनी आत्मसाधना में तल्लीन थे। अपने प्रशस्त अध्यवसायों से अशुभ कर्मों के वृन्द निर्जरित करने वीर्यरत थे। ग्वाला गायें दोहनकर पुनः लौटा। देखा, भगवान अकेले खड़े हैं, बैल नहीं हैं।

पूछा – भाई! मैं तुम्हें मेरे बैलों की निगरानी सौंपके गया था। बैल कहां चले गये? क्या तुमने ध्यान नहीं रखा? भगवान मौन रहे। ग्वाले को कोई प्रत्युत्तर नहीं मिला तो सोचा– इनके भरोसे बैठे रहना ठीक नहीं। यह बोले, नहीं बोले, मुझे बैल ढूंढना चाहिए। थका–हारा वह ग्वाला बैल ढूंढने गया। पूर्व–पश्चिम, उत्तर–दक्षिण सभी दिशाओं में खोजने लगा लेकिन पूरी रात ढूंढने पर भी बैल नहीं मिले। आवेश का पारा निरन्तर वृद्धिंगत हो रहा था। सोचने लगा कि मेरे बैल चारों दिशाओं में नहीं मिले। हो–न–हो, उस व्यक्ति ने ही चुराये होंगे जिसको मैं सम्हलाकर आया था। जाता हूं उसके पास। वह ग्वाला आवेशयुक्त होकर, क्रोध में नेत्र लाल करके, फड़कते होंठों से, जहां प्रभु महावीर ध्यानस्थ थे, वहां आया। आते ही देखता है, ओह! मेरा अनुमान कितना सही निकला। ये बैल यहां चर रहे हैं। इसी व्यक्ति ने रात्रि में बैल छिपा दिये थे। इसे क्या मालूम था कि मैं अभी आऊँगा। लेकिन सच्चाई प्रकट होकर रहती है। इस व्यक्ति को चोरी की सजा देनी चाहिए ताकि भविष्य में यह चोरी नहीं करे। ऐसा सोचकर वह ग्वाला प्रभु महावीर की ओर बैल बांधने की रस्सी लेकर उन्हें मारने दौड़ता है।[4]

संयोगतः उसी समय शक्रेन्द अवधिज्ञान से उपयोग लगाकर प्रभु की साधुचर्या का अवलोकन करते हैं। अवलोकन करते ही वे हतप्रभ रह जाते हैं। अहो! एक ग्वाला प्रभु को मारने जा रहा है। वे तुरन्त प्रभु के पास उपस्थित होते हैं। ग्वाला प्रभु को मारने के लिए रज्जुसहित हाथ उठाता है। लेकिन शक्रेन्द्र के प्रभाव से हाथ ऊपर का ऊपर ही रह जाता है और शक्रेन्द्र उसे ललकारते हैं – धिक्कार है तुझे! शर्म नहीं आती! नहीं जानता ये कौन हैं? राजा सिद्धार्थ के पुत्र राजकुमार महावीर हैं[5]। हट यहां से, कभी ऐसा कार्य मत करना। ग्वाला सुनकर मौन रहता है। वह वहां से चला जाता है। शक्रेन्द्र प्रभु के पास आते हैं। तीन बार आदक्षिणा–प्रदक्षिणा करके प्रभु चरणों में निवेदन करते हैं – भगवन्! संयमीय जीवन–सूर्य का प्रथम प्रभात! प्रथम प्रभात का प्रारम्भ ही उपसर्ग से हुआ है। भंते! आपके साधनाकाल के बारह वर्षों में घोरातिघोर उपसर्ग आने वाले हैं। अतः आपके उन

उपसर्गों के निवारण हेतु मैं बारह वर्ष तक आपके साथ निरन्तर रहना चाहता हूं। भगवान मुस्कराते हुए मधुर गिरा से सम्बोधित करते कहते हैं– शक्रेन्द्र! पूर्वसंचित कर्मों को समभावपूर्वक भोगने एवं निर्जरित करने में स्वयं का पुरुषार्थ कामयाब है। प्राप्त उपसर्ग को समभावपूर्वक सहन करके ही मैं कर्म–विमुक्ति की ओर प्रयाण कर पाऊँगा और स्व–पुरुषार्थ से कैवल्यज्योति को प्राप्त करूंगा[6]। मैं क्या, प्रत्येक तीर्थंकर महापुरुष बिना किसी सहायता के स्वयं के पुरुषार्थ से ही कैवल्यज्योति का आविर्भाव किया करते हैं। अतः आपको यहां रहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

भगवान द्वारा ऐसा कहा जाने पर भी शक्रेन्द्र का मन नहीं माना। बार–बार यही चिन्तन चलता रहा कि प्रभु को बहुत कष्ट आने वाले हैं, अतः अकेला कैसे छोड़ूं? तब चिन्तन करके शक्रेन्द्र ने भगवान महावीर की मौसी के लड़के को, जो बाल तपस्वी होकर सिद्धार्थ नाम व्यन्तर देव बना, उसे भगवान की सेवा में नियुक्त किया और शक्रेन्द्र स्वयं लौट गये[7]। प्रभु कायोत्सर्ग में निमग्न हुए।

संयमीयचर्या का निर्दोष निर्वहन करते हुए भगवान महावीर दूसरे दिन वहां से विहार करके कोल्लाक सन्निवेश पधार गये। बेले का पारणा था। पारणे हेतु प्रभु महावीर भी कोल्लाक सन्निवेश में भिक्षार्थ पधारे और घूमते हुए बहुल नामक ब्राह्मण के यहां पर पधार गये। वहां प्रासुक खीर बनी हुई थी। उसने भगवान को प्रासुक खीर बहरा कर अपने घर पर खीर से पारणा करवाया[8]। देवों ने पांच दिव्य बरसाये। साढ़े बारह क्रोड़ सोनैया की वर्षा हुई। देवों द्वारा अहो दानम्! अहो दानम्! की उद्घोषणा हुई।[9]

तदनन्तर कोल्लाक सन्निवेश से विहार कर भगवान मोराक सन्निवेश पधारे। वहां 'दूदूज्जंतक' नामक आश्रम में कुलपति महाराज सिद्धार्थ का मित्र था। वह भगवान् महावीर को पहिचानता था। उसने जैसे ही भगवान को आते देखा, वह उनके सामने स्वागतार्थ पहुंचा। उसने भगवान् का स्वागत किया। आवश्यक चूर्णि में ऐसा उल्लेख मिलता है कि कुलपति के स्वागत करने पर भगवान ने भी पूर्वाभ्यास के कारण उससे मिलने हेतु वांहें पसारीं[10] लेकिन यह ठीक नहीं

लगता। प्रभु ऐसा करें यह संभव नहीं। उस कुलपित ने प्रभु से निवेदन किया– प्रभो! पधारिये मेरे आश्रम में। भगवान महावीर उसकी प्रार्थना स्वीकार कर आश्रम में पधारे। एक रात्रि वहां विश्राम किया। पुनः लौटने लगे तब उस कुलपति ने निवेदन किया, भगवन्! यह आपका ही घर है, आप वर्षावास करने यहां पुनः पधारना। प्रभु मौन रहे और मोराक सन्निवेश से विहार कर ग्रामानुग्राम विचरण करने लगे। इस प्रथम विचरण में ही अनेक परीषह सहन करने पड़े।

शीत ऋतु का प्रथम विहार और अनेक परीषह प्रभु के समक्ष उपस्थित हुए। भयंकर शीत, गात्र पर एक देवदूष्य वस्त्र, लेकिन प्रभु प्रतिज्ञा कर चुके थे कि इससे शरीर आच्छादित नहीं करूंगा। भयंकर शीत–लहरें रोंगटे खड़ी करने वाली थीं [illegible] में भी ठण्ड का अनुभव होता है, ऐसी [illegible] प्रभु शीत परीषह सहन कर रहे थे। [illegible] किया गया गोशीर्ष चन्दनादि का [illegible] चतुर्दिशा में प्रसरित हो रही थी, [illegible] भगवान के शरीर पर मंडराते और [illegible] थे। प्रभु उन तीक्ष्ण डंकों को [illegible] को हटाते नहीं थे। जहां एक [illegible] मन में हलचल मच जाती है [illegible] कीट–पतंग मंडराते हुए उन्हें [illegible] रहते। चार माह से अधिक [illegible] कर्म–निर्जरा का स्तुत्य [illegible]

असंग बनकर [illegible] थे। त्राटक ध्यान के [illegible] रहते थे। वे एक–[illegible] करते हुए ध्यान करते [illegible] थीं जिन्हें देखकर [illegible] चिल्लाते हुए [illegible]

था। भोगियों के बीच भी महायोगी बने प्रभु का कमनीय गात्र, आकर्षक मुखमण्डल देखकर अनेक नवयुवतियां कामेच्छा से आकृष्ट बनकर एकान्त में ध्यानस्थ खड़े प्रभु के समीप आकर उनसे काम–याचना करती थीं पर भगवान! वे.......... तो भोग के रोग का अतिक्रमण कर चुके थे। मधुर वाणी में काम–याचना करने वाली उन युवतियों के भावों की उपेक्षा कर मौन रहकर आत्मसाधना में तल्लीन रहते थे।

गृहस्थ के मकान में ठहरने पर प्रभु से कोई वार्तालाप करने को तत्पर होता तो भी वे मौन रहते थे। यदि कोई नहीं बोलने पर रुष्ट होता तो भगवान विहार कर अन्यत्र पधार जाते थे लेकिन व्यर्थ बातों में अपना एक भी क्षण नहीं गंवाते थे।[13]

आत्मज्योति प्रज्ज्वलित करने में तत्पर प्रभु सत्कार व असत्कार की अवस्था में समभाव रखकर विचरण कर रहे थे। मार्ग में कोई प्रभु का अभिवादन करता, तो कोई डंडे आदि से मारता, क्रूर बनकर बालों को खींचता या अंग–प्रत्यंगों को भंग करता, लेकिन प्रभु दोनों ही स्थितियों में समभाव रखकर हर्ष–शोक से विलग बनकर चल रहे थे। कोई मर्मभेदी वाक्बाणों से प्रभु को हताहत करने का प्रयास करता तो प्रभु आत्मतल्लीनता में तत्पर उन शब्दों से अपने–आपको जोड़ने का प्रयास नहीं करते। फलतः वे वाक्बाण निष्फल हो जाते।

विहारचर्या में भी परजीव–रक्षण की भावना प्रबल बनी रहती थी। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के किसी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट न हो, उनके प्राणों का अतिपात न हो, इसका पूर्ण खयाल रखकर ही भगवान विचरण करते थे। हिंसा कर्मबन्ध का प्रमुख कारण है। यह एक ऐसा शस्त्र है जिससे अनन्त जन्म–मरण की प्रक्रिया चलती रहती है। स्वयं की हिंसा सब जीवों को सर्वदा दुःखदाई लगती है। अतः इस हिंसारूपी शस्त्र का प्रभु ने सर्वथा त्याग कर दिया था।

झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि कर्म–आगमन के मुख्य स्रोत हैं– जानकर भगवान इनका त्याग कर ही विहरण करते थे। खान–पान में अहिंसा विशुद्धि का भगवान बड़ा ही विवेक रखते थे। जो भोजन जीवों की हिंसा करके साधु के निमित्त से बनाया है, ऐसे हिंसाजनित भोजन को कर्म–बन्धन का कारण जानकर प्रभु कतई ग्रहण नहीं करते

थे[14]। वे भोजन हाथों में ही करते थे। आवश्यक चूर्णि में ऐसा उल्लेख मिलता है कि प्रथम पारणे में प्रभु ने गृहस्थ के पात्र में भोजन किया[15] लेकिन यह संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि तीर्थंकर भगवान पूर्ण यतना और विवेक से ही कार्य करते हैं। भयंकर शीत में भी प्रभु ने वस्त्र से तन ढकने का प्रयास नहीं किया। विहार करते हुए शरीर में कभी खुजली आदि आती तो वे शरीर की ममता–रहित होकर कभी भी शरीर को खुजलाते नहीं थे। यदि कदाचित् आंख में तिनका या रजकण गिर जाता तो उसे बिना निकाले समभावपूर्वक वेदना सहन करते थे।

महलों की भूमि में पलने वाले, जिन्होंने गृहस्थावस्था में ऊबड़–खाबड़ भूमि पर कभी गमनागमन नहीं किया, वे प्रभु कैसे–कैसे विकट स्थानों में विकट परीषह सहकर कर्म–बन्धन से मुक्ति की ओर प्रयाण कर रहे हैं। कई बार विहार करने के पश्चात् उनको मकान भी मिलना कठिन होता था तब भगवान शून्य खण्डहरों में ही रात्रि–विश्राम के लिए ठहर जाते। कई बार प्याउओं में, दूकानों में, लुहारशाला में, सुनारशाला में, मंचों में, प्रभु यामा व्यतीत करते थे। कभी कहीं भी स्थान न मिलने पर श्मशान भूमि में, वृक्षादि के नीचे ठहर जाते थे। उन शून्य स्थानों पर अनेक उपसर्ग प्रभु को सहन करने पड़ते थे। कभी सर्प तीक्ष्ण डंकों से डसते थे, कभी नेवले शरीर को काटते थे। कभी गिद्ध मांस नोचते थे, कभी अन्य वन्य जीव शरीर को असह्य वेदना पहुंचाते थे, परन्तु परीषहजयी प्रभु महावीर कभी भी उपसर्गों से विचलित नहीं होते थे।

शून्य गृहादि में ध्यानस्थ प्रभु को देखकर कोतवाल आदि चोर या व्यभिचारी समझकर कई बार प्रभु के पास आते, उनसे प्रश्न करते कि आप कौन हैं? कहां से आये हैं? लेकिन भगवान मौन रहते थे। वे कोतवाल आदि उन्हें प्रताडित करते, अपशब्द इत्यादि बोलते थे पर प्रभु प्रत्युत्तर नहीं देते हुए समभाव–पूर्वक साधना करते थे।[16]

कभी भगवान बगीचे आदि में साधना करते और कोई पूछता कि तुम कौन? प्रभु उत्तर देते– मैं भिक्षुक हूं। तब उन्हें कहते, चले जाओ यहां से। यह श्रवणकर समभावी प्रभु शीघ्र ही वहां से विहार कर देते।

इस प्रकार भीषण उपसर्गों को प्रथम आठ महीनों में निरन्तर सहन करते हुए भगवन प्रथम वर्षावास करने के लिए मोराक सन्निवेश में पधारे।[17] मोराक पधारने पर कुलपति ने भगवान का स्वागत किया और वर्षावास करने हेतु एक पर्णकुटि प्रदान की।

वातानुकूलित (ऋतु अनुकूल) महलों में रहने वाले राजकुमार वर्धमान अब प्रभु महावीर बनकर एक झोंपड़ी में प्रथम वर्षावास हेतु पधार गये हैं। कुलपति से आज्ञा प्राप्त कर प्रभु उसी पर्णकुटी में ध्यानस्थ होकर आत्मावलोकन कर रहे थे। वर्षा ऋतु का समय था लेकिन प्रकृति ने अपना रुतबा बदल रखा था। वर्षा की कमी से घासादि सूख रहे थे। पशु आदि को पर्याप्त चारा नहीं मिलने के कारण भूख से व्याकुल पशु इधर–उधर घूम रहे थे। जहां भी कहीं थोड़ा–सा खाने को मिलता, पशु झट वहीं लपक कर चले जाते और खाने लग जाते थे। आश्रम में रहने वाली गायों का भी यही हाल था। क्षुधा से पीड़ित गायें जैसे ही आश्रम की अन्य कुटिया की घास खातीं, तापस लोग उन्हें भगा देते। भूख से व्याकुल गायें भी इधर–उधर जाती हुई, जहां भगवान ठहरे थे उसी पर्णकुटी के पास पहुंचीं। वहीं घास खाने लगीं। भगवान तो परम दयालु थे, अनुकम्पा से उनका हृदय करुणार्द्र बना हुआ था। क्षुधा शांत करती हुई गायों को रोकने की मन में भी भावना नहीं हुई। परिणामस्वरूप गायें पर्णकुटी खाने लगीं और उसे क्षत–विक्षत कर दिया।

अन्य तापसों ने प्रभु की इस चर्या को देखा तो हतप्रभ रह गये। वे आपस में बातें करने लगे– कुलपित ने कैसे आलसी कुमार को यहां रखा है। वो अपने पर्णकुटी की रक्षा भी नहीं कर सकता तब अन्यों की रक्षा की बात ही क्या? चलो कुलपति से जाकर सारी बात निवेदन करते हैं। सभी कुलपति के पास जाते हैं और गायों द्वारा पर्णकुटि खाने की बात कहते हैं। कुलपति को मन में क्रोध आता है। चिन्तन करते हैं, ऐसा आलस्य किस काम का? ऐसे ही यदि गायों द्वारा पर्णकुटी खाई जाती रही तो न जाने कितने कुटीर एक वर्षावास में बनाने पड़ जायेंगे। अतः कुमार को उपालम्भ देना ही ठीक है। यों चिन्तन कर कुलपति प्रभु के पास पहुंचते हैं, उन्हें ध्यानस्थ देखकर कहते हैं–

कुमार! पर्णकुटी पशु खा रहे हैं, तुमने ध्यान नहीं दिया? अपने घोंसले की रक्षा तो पक्षी भी करते हैं।[18] फिर तुम.......... इस पर्णकुटी की रक्षा नहीं करोगे तो क्या होगा? बोलो कुमार............ जब कुलपति के ऐसा कहने पर प्रभु कुछ नहीं बोले तो कुलपति चले गये।

कुलपति के जाने पर प्रभु चिन्तन करते हैं– ओह! मेरे कारण कुलपति को और तापसों को पीड़ा हो रही है, सन्ताप हो रहा है, तब ऐसे स्थान पर रहने से क्या लाभ? क्यों मैं स्वयं के लिए दूसरों का कष्टकारक बनूं। यद्यपि चातुर्मास लग चुका है। पन्द्रह दिन व्यतीत हो गये हैं तथापि शय्यादाता को कष्ट पहुंचा कर यहां रहने का औचित्य नहीं है। अतः मुझे यहां से विहार कर देना चाहिए। ऐसा अनुचिन्तन कर प्रभु ने वहां से विहार कर दिया[19]। यह एक भवितव्यता योग था कि प्रथम चातुर्मास में ही भगवान को विहार करना पड़ा। यद्यपि स्थविरकल्पियों को चार महीने एक ही स्थान पर रहने की अनुज्ञा दी है तथापि प्रभु तो कल्पातीत थे, उन पर कल्प की कोई मर्यादा लागू नहीं होती[20]। शास्त्र में उल्लेख है कि केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, 14 पूर्वधर, 10 पूर्वधर, ये कल्पातीत होते हैं। अपने ज्ञान में जैसा देखते हैं, वैसा करते हैं परन्तु अनिवार्य रूप से इन पर कल्प की कोई मर्यादा लागू नहीं होती। मध्य के बाईस तीर्थंकरों के साधु और जिनकल्पी साधु चातुर्मास के प्रथम 50 दिनों तक विहार करते हैं लेकिन चातुर्मास के शेष 70 दिनों तक एक स्थान पर रहते हैं। वे 70 दिनों में विहार नहीं करते।[21]

भगवान ने स्व–चिन्तन से निर्णय लिया कि मुझे अब यहां नहीं रहना है अतएव पन्द्रह दिन व्यतीत होने पर वहां से विहार कर दिया। उस समय प्रभु ने पांच प्रतिज्ञाएं धारण कीं–

1. अप्रीतिकर स्थान में नहीं रहूंगा।
2. सदा ध्यान में रहूंगा।
3. (प्रायः) मौन रहूंगा।
4. हाथ में ही भोजन करूंगा।
5. गृहस्थों का विनय नहीं करूंगा।[22]

यद्यपि इन प्रतिज्ञाओं को धारण करने के पूर्व भी प्रभु ने कभी

गृहस्थ के पात्र में भोजन नहीं किया, ऐसा आचारांग सूत्र के मूल पाठ में उल्लेख है तथापि आचार्य मलयगिरी ने ऐसा स्वीकार किया है कि भगवान् ने प्रथम पारणे में गृहस्थ के पात्र में आहार किया। उसके पश्चात्, यह प्रतिज्ञा ग्रहण करने के बाद नहीं किया। मलयगिरी का यह सिद्धान्त शास्त्रसम्मत नहीं है क्योंकि भगवान इस प्रकार का अपवाद सेवन करते ही क्यों? यह टीकाकार की अपनी भ्रान्त मान्यता है।

इन पंचाभिग्रह को धारण कर प्रभु मोराक सन्निवेश से विहार कर संध्या गोधूलि वेला में अस्थिग्राम पधारे। अस्थिग्राम में शूलपाणि यक्ष का एक यक्षायतन था। वहां शेष वर्षावास बिताने हेतु ग्रामवासियों से यक्षायतन की याचना की। तब लोगों ने कहा– इसमें रहने वाला शूलपाणि यक्ष रात्रि में किसी भी व्यक्ति को जीवित नहीं छोड़ता। तब आप कैसे रह पायेंगे? फिर भी प्रभु ने कहा– मैं यहीं रहना चाहता हूं। तब लोगों ने आज्ञा तो प्रदान कर दी परन्तु सभी के दिलों में भय था कि यक्ष इस संन्यासी को समाप्त कर देगा। तब वहां के लोग शूलपाणि यक्ष की रोमांचकारी कथा सुनाते हुए प्रभु से कहने लगे– महात्मन्! अभी आपको शूलपाणि के बारे में कुछ पता नहीं है। हम इसकी कहानी सुनाते हैं। प्राचीन काल में यह वर्द्धमान नामक शहर था। यहां वेगवती नामक एक नदी थी। वर्षा की अल्पता से नदी का पानी सूखता चला गया और नदी के दोनों किनारों पर कीचड़ हो गया। एक बार धनदेव नामक एक व्यापारी पांच सौ गाड़े माल के भरकर लाया लेकिन वे गाड़े कीचड़ से पार कैसे पहुंचे? सभी बैल इतने समर्थ नहीं थे कि वे गाड़े पार पहुंचा सकें। उस व्यापारी के पास एक धोरी वृषभ था। उस वृषभ ने पांच सौ गाड़े कीचड़ से पार करा दिये। यद्यपि उस बैल ने मालिक की सहायता कर दी लेकिन खुद का शरीर जबाब दे चुका था। अस्थिपंजर ढीले पड़ गये। एक कदम भी चलना भारी था। श्वास भर रहा था। मुंह से रुधिर निकलने लगा और वह बैल वहीं पर गिर पड़ा। तव व्यापारी धनदेव ने चिन्तन किया कि मेरी अथक सेवा करने वाला यह वैल अव एक कदम भी चलने में समर्थ नहीं है। इसने तो अपना उत्तरदायित्व श्रेष्ठ रीति से निभाया है। अव मेरी वारी है, लेकिन इस

उत्तरदायित्व का मैं कैसे निर्वहन करूं? इसे यहां से ले जाने में मैं स्वयं सक्षम नहीं हूं। तब क्या करना चाहिए? चिन्तन करते हुए एक उपाय ध्यान में आया। उसने ग्राम के प्रमुख व्यक्तियों को बुलाया और कहा, मेरा यह वृषभ मेरी धरोहर है, लेकिन इस स्थिति में इसको मैं अपने साथ ले जाने में समर्थ नहीं हूं। आप लोगों को मैं प्रचुर धन देता हूं। आप इसके चारे–पानी की व्यवस्था का ध्यान रखना, कमी मत रखना। तब ग्राम के प्रमुख व्यक्तियों ने कहा, ठीक है। धनदेव ने उन्हें बहुत–सारी सम्पत्ति प्रदान की। फिर वृषभ को प्यार से सहला कर कहता है, वृषभ! तुमने मुझ पर बहुत उपकार किया है, लेकिन मैं अभी तुम्हें ले जाने में सक्षम नहीं हूं। तुम्हारे जैसा स्वामिभक्त सेवक मुझे कहां मिल पायेगा। ओह........ यों कहते–कहते धनदेव के नयनों से आंसू छलक गये और वह साश्रु नयनों से वृषभ से विदा लेकर रवाना हो गया।

ग्रामवासियों ने चिन्तन किया कि बैल तो मरने ही वाला है फिर क्यों चारे, पानी के लिए व्यर्थ पैसा गंवाया जावे। जो धन मिला है धनदेव से, उसका तो हम ही उपयोग कर लेंगे। इस प्रकार निर्दयता से युक्त होकर उन्होंने वृषभ को चारा तो दूर, पानी भी नहीं पिलाया। इधर वृषभ अत्यधिक परिश्रम से बहुत अधिक थका हुआ था। उसे भूख और प्यास सताने लगी। उसका शरीर अस्थि और चर्म का ढांचा मात्र रह गया। क्षुत्पिपासा व्याकुल होकर उसने चिन्तन किया, ओह! इस ग्राम के लोग कितने निर्दयी, क्रूर, पापिष्ठ और अधर्मी हैं। इनके मन में जरा भी करुणा नहीं है। मेरी दयनीय स्थिति देखकर इनके मन में जरा भी दया नहीं आई। दया करना तो दूर रहा, लेकिन जो चारे–पानी के पैसे मालिक दे गया था उसकी व्यवस्था भी इन्होंने नहीं की। इस प्रकार उसे ग्रामवासियों पर अत्यधिक क्रोध आने लगा। उसी क्रोध में अकाम निर्जरा कर मरण प्राप्त कर वह शूलपाणि नामक व्यन्तर देव बना। देवलोक में जन्म लेते ही तीन अज्ञान पैदा हुए। विभंगज्ञान से अपने पूर्वभव का वृत्तान्त जानकर उसे वहां के ग्रामवासियों पर भयंकर क्रोध आया और उसी क्रोध के वशीभूत होकर उसने ग्राम में महामारी फैलाई। ग्राम में इतनी जबरदस्त महामारी फैली कि उसकी चपेट में

आकर धड़ाधड़ लोग मरने लगे। इतने लोग मर गये कि उनकी अस्थियों का ढेर हो गया। गांव में उथल–पुथल मच गयी। भयाक्रान्त होकर लोग गांव छोड़कर अन्यत्र जाने लगे, लेकिन वहां भी महामारी ने उनका पीछा नहीं छोड़ा। तब भय से भक्तियुत् बनकर सभी ने चिन्तन किया कि ऐसा लगता है हमारे गांव में कोई दैवी प्रकोप हुआ है। अतः सभी को मिलकर उस देव को प्रसन्न करना चाहिए। इसी चिन्तनानुसार लोग एकत्रित हुए और हाथ जोड़कर आकाश की तरफ मुख करके कहने लगे– हे देवों! असुरों! राक्षसों! किन्नरों! प्रमादवश हमारी कोई गलती हो सकती है। आप तो महान हैं, आप हमारे अपराध को क्षमा कर दीजिए।

गांव वालों के इस उपक्रम को देखकर शूलपाणि यक्ष व्योमस्थित होकर बोला, ओह! अब गलती की क्षमा मांग रहे हो। जब मैं भूख–प्यास से व्याकुल बैल के रूप में तड़फ रहा था, मालिक ने मेरे चारे–पानी के लिए पैसे भी दे दिये थे तब तुम उन पैसों को हड़प गये। जरा–सी भी करुणा नहीं आई! ऐसे क्रूर लोगों को ऐसी ही सजा मिलनी चाहिए। गांव वाले यक्ष की बात सुनकर अवाक् रह गये। अपने क्रूर कृत्य के प्रति पश्चात्ताप करते हुए बोले, हे देव! हमसे भयंकर अपराध हुआ है। अब तो आप जो कहें वह प्रायश्चित्त कर सकते हैं। शूलपाणि ने कहा, बस यही प्रायश्चित्त है, महामारी से मरते रहो। खुद की जान बचाने के लिए कितनी तत्परता और तुम्हारे कारण मेरी जान गयी उसका कोई अफसोस तक नहीं। तब लोगों ने कहा– यद्यपि हमारा अपराध भयंकर है तथापि आप तो परम दयालु हैं। हमें और कोई मार्ग बतलाइये, हम आपकी सेवा में निरन्तर तत्पर रहेंगे।

तब शूलपाणि ने कहा– यद्यपि तुम्हारा यह जघन्य कृत्य माफ करने योग्य नहीं है तथापि मैं तुम्हें तभी माफ कर सकता हूं जब मरे हुए लोगों की अस्थियों का संचय करके उन पर मेरा देवालय बनाओ। वहां मेरी पूजा होनी चाहिए। तब यहां के ग्रामीणजनों ने तुरन्त इस वात को स्वीकार किया। अस्थि–संचय करके मन्दिर बनवाया। इन्द्रशर्मा नामक एक ब्राह्मण को यक्ष की पूजा के लिए पुजारी के रूप में रखा। अस्थियों पर मन्दिर वनने से, इस ग्राम की रक्षा होने से, इसका नाम

अस्थिग्राम रखा है[23]। आज भी उस शूलपाणि यक्ष का इतना प्रभाव है कि रात्रि में जो भी व्यक्ति इस मन्दिर में सोता है, उसे वह मार डालता है। इसी कारण पुजारी भी शाम को अपने घर लौट आता है। हे देवार्य आप यहां रात्रि में कैसे रहोगे? वह शूलपाणि आपको जिन्दा नहीं छोड़ेगा।

प्रभु ने ग्रामवासियों से सारी वार्ता सुनी पर वे मौन रहे, क्योंकि वे तो सब–कुछ जानते थे। जब सब–कुछ कहने पर भी प्रभु मौन रहे तो ग्रामवासी वहां से लौट गये। कुछ समय पश्चात् पुजारी इन्द्रशर्मा वहां पर आया। उसने भगवान को ध्यानस्थ देखा तो उसने भी वहां पर रात्रि में रुकने का निषेध किया, लेकिन प्रभु ने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया तो पुजारी लौट गया।

सुनसान मन्दिर में एकाकी महावीर ध्यानस्थ खड़े हैं। निरन्तर अन्तर में गमन हो रहा है। आत्मिक खोज में अपना सारा पुरुषार्थ लगा रहे हैं। स्वयं को स्वयं द्वारा पाने का यह परम प्रयास है जिसमें सहज ही प्राप्त उपसर्गों को झेलने की तत्परता है। भयरहित अभय की साधना चल रही है। सारे सम्बन्धों का परित्याग कर मात्र आत्मिक सम्बन्ध जोड़ने में ही संलग्न हैं। रात्रि का वातावरण नीरव होता जा रहा है। पशु, पक्षी और मानव जागरण से निद्रा की दिशा में प्रयाण कर रहे हैं। वहीं भगवान निरन्तर जागरण में लीन हैं। घन्टों पर घन्टे बीत रहे हैं। यामा अपने पूर्ण यौवन की ओर अपने चरण बढा रही है, वहीं परीषह–जयी महावीर अडोल बने हुए स्वयं को निहार रहे हैं।

यामिनी का समय और नीरव वातावरण में शूलपाणि का आगमन। शूलपाणि ने देखा– ओह! आज यह मृत्यु को चाहने वाला मेरे इस निवास स्थान पर आ गया। लोगों ने मना किया, पुजारी ने मना किया फिर भी नहीं माना। इसका अहंकार अभी चूर–चूर करता हूं। ऐसा चिन्तन कर उस व्यन्तर देव ने भयंकर अट्टहास किया। पूरे नगर में भय का वातावरण व्याप्त हो गया। लोग मन में चिन्तन करने लगे, ओह! लगता है संन्यासी को यक्ष ने मार दिया, लेकिन किसकी हिम्मत जो वहां जाकर अवलोकन करे। यक्ष द्वारा भयंकर अट्टहास करने पर भी प्रभु निष्कम्प बने रहे। तब शूलपाणि ने देखा, अभी तक इसका

अहंकार मिटा नहीं। अब दूसरा प्रयास करता हूं। ऐसा चिन्तन कर विशाल हाथी का रूप बनाया। तीक्ष्ण दांतों से प्रभु के शरीर को काटा, अपने पांव तले प्रभु को रौंदा, लेकिन भगवान ने उफ तक नहीं किया। तत्पश्चात् यक्ष ने आकाश को छूने वाले विशाल पिशाच का रूप बनाया। तीक्ष्ण नखों और दांतों से प्रभु के पूरे शरीर को नोच डाला। तब भी भगवान ध्यानस्थ रहे। इतने उपसर्ग देने पर भी यक्ष का मन द्रवित नहीं हुआ। उसने क्रूरता से भयंकर विषैले उग्र दाढ़ों वाले सर्प का रूप बनाया और प्रभु के शरीर से लिपट गया। तीक्ष्ण दाढ़ों से शरीर काटने लगा पर त्रिशलातनय महावीर समभावपूर्वक उसे भी सहन कर गये। तब यक्ष की क्रूरता और बढ़ी, चिन्तन किया कि उपसर्ग देने से तो इस संन्यासी को कोई विचलन पैदा नहीं होता। इसे तो अब मृत्यु के द्वार पर पहुंचा देना चाहिए। यह सोचकर उस निर्दयी यक्ष ने अपनी शक्ति से भगवान के शरीर में आंख, कान, नाक, सिर, दांत, नख और पीठ इन सात स्थानों पर भयंकर वेदना उत्पन्न की[24]। हेमचन्द्राचार्य के अनुसार शिर, नेत्र, मूत्राशय, नासिका, दांत, पीठ और नख– इन सात स्थानों में भयंकर वेदना उत्पन्न की[25]। ऐसी दारुण वेदना, जिसके स्मरण मात्र से सिहरन पैदा हो जाती है, कंपकंपी छूट जाती है और एक वेदना के पैदा होने पर भी प्राणी छटपटाहट करता हुआ भयंकर वेदना को अनुभव कर मरण को प्राप्त कर लेता है, वहां सात–सात अंगों में भीषण वेदना, असह्य पीड़ा, फिर भी आत्मजयी प्रभु वीर घोर समभाव धारण किये हैं। पीड़ा में भी प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं। ऐसे महान पराक्रमी महावीर की शक्ति को देखकर शूलपाणि अवाक् रह गया। ओह! मैं इतना क्रूर बनकर निरन्तर इस संन्यासी को कष्ट पहुंचा रहा हूं पर ये तो परम वीर बनकर तितिक्षा की पराकाष्ठा पर भी सफल बने हुए हैं। कौन हैं ये परम सहिष्णु! जिन्होंने ऐसी भीषण वेदना में उफ तक नहीं किया। मैं वेदना उत्पन्न करते–करते थक गया पर ये नहीं थके। ऐसा चिन्तन कर प्रभु के पास आकर चरणों में निवेदन किया– धन्य है आपकी तितिक्षा, मेरा अपराध क्षमा कीजिए। तभी प्रभु–सेवामें उपस्थित रहने वाला सिद्धार्थ देव आया और शूलपाणि से कहा, अरे! शूलपाणि! तूंने यह क्या किया? ये सामान्य साधक तो नहीं!

ये सिद्धार्थनन्दन चरम तीर्थंकर महावीर हैं। तुमने इनको अपरिमित कष्ट पहुंचाया है। अब यदि शक्रेन्द्र को ज्ञात होगा तो तुम्हें बहुत दण्ड देगा। यह श्रवण कर शूलपाणि और घबराया और चरणों में गिरकर पुनः–पुनः क्षमायाचना करने लगा। क्षमायाचना कर अन्तर्धान हो गया[26]।

अस्थिग्राम की प्रथम रात्रि, प्रथम चातुर्मास और चातुर्मास का प्रथम मास जिसमें प्रभु महावीर को घोर उपसर्ग का सामना करना पड़ा। जब शूलपाणि उपसर्ग देकर लौटा तब तक रात्रि का अन्तिम प्रहर भी व्यतीत हो रहा था। भगवान का शरीर रात्रिभर उपसर्ग सहन करने के कारण क्लान्त वन रहा था। उस समय प्रभु को एक मुहूर्त के लिए खड़े–खड़े ही नींद आ गयी। उस निद्रावस्था में प्रभु ने दस स्वप्न देखे। वे स्वप्न इस प्रकार थे–

1. एक भयंकर ताड़–पिशाच प्रभु के सामने उपस्थित है और भगवान उसे मार रहे हैं।
2. एक श्वेत पुंस्कोकिल, जो अत्यन्त उज्ज्वल दीख रही है।
3. एक रंग–बिरंगी कोयल, जो अत्यन्त सुन्दर दीख रही है।
4. प्रभु के सम्मुख दो रत्नमालाएं उपस्थित हैं।
5. श्वेत गायों का समूह सामने आ रहा है।
6. विकसित पद्मसरोवर स्वच्छ तरंगायित जल से व्याप्त है।
7. एक विशाल समुद्र, जिसमें लहरों पर लहरें उठ रही हैं। प्रभु अपने शक्तिशाली भुजवल से तैरकर पार कर रहे हैं।
8. उज्ज्वल आलोक से आलोकित सूर्य सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशमान बना रहा है।
9. प्रभु अपनी उज्ज्वल आंतों से मानुषोत्तर पर्वत को आवेष्टित कर रहे हैं।
10. प्रभु कनकमण्डित सुमेरु पर आरोहण कर रहे हैं।[27]

स्वप्न–दर्शन के पश्चात् आंख खुली तब तक सवेरा हो चुका था।

इधर ग्रामवासियों ने रात्रि में हुए यक्ष के भीषण अट्टहास से अनुमान लगाया कि वह संन्यासी तो मृत्यु को प्राप्त हो चुका होगा। सभी को वृत्तान्त जानने की जिज्ञासा बनी हुई थी लेकिन पुजारी आये

तभी वहां जाना होगा। ऐसा सोचकर सभी लोग पुजारी इन्द्रशर्मा का इन्तजार कर रहे थे। गांव में रहने वाला उत्पल नैमित्तिक, जो पहले पार्श्व–परम्परा का साधु था, लेकिन कर्मोदय से श्रमणत्व छोड़कर गृहस्थ बन गया, उसे भी जब प्रभु के यक्षायतन में ठहरने का वृत्तान्त ज्ञात हुआ तब वह भी इन्तजार करने लगा कि कब इन्द्रशर्मा आये और कब मन्दिर जाऊँ? थोड़ी देर बाद इन्द्रशर्मा उपस्थित हुआ। उसके आने पर उत्पल नैमित्तिक और ग्रामवासी मन्दिर में पहुंचे। वहां का दृश्य देखकर सब अचम्भित रह गये कि भगवान महावीर जीवित हैं और यक्ष ने उनकी अर्चा की है जिसकी दिव्य गन्ध सम्पूर्ण वातावरण में प्रसरित है। वे सभी लोग यह देखकर बड़े हर्षित होते हैं और उत्कृष्ट सिंहनाद से प्रभु का अभिवादन करते हुए कहते हैं, देवार्य! आपने देव को भी उपशांत कर दिया। आपकी महिमा अपरम्पार है। आप अजात शत्रु हैं। आप धन्य हैं, जो परीषहजयी ही नहीं, कालजयी बन गये हैं। इस प्रकार पुनः–पुनः गुणकीर्तन कर सभी लौट जाते हैं।

सबके जाने के पश्चात् उत्पल नैमित्तिक भगवान को वन्दन–नमस्कार करके इस प्रकार कहता है– स्वामिन् आपने अन्तिम रात्रि में दस स्वप्न देखे हैं। यद्यपि आप तो उनका फल जानते ही हैं तब भी मैं आपके समक्ष निमित्तबल से ज्ञात दस में से नौ स्वप्नों का फल बतलाता हूं। वे सही हैं या मिथ्या, आप बतला दीजिए। ऐसा कहकर वह उत्पल नैमित्तिक भगवान को दस स्वप्नों के बारे में इस प्रकार बतलाता है–

1. ताड़–पिशाच को पछाड़ने से आप भविष्य में मोहकर्म को नष्ट करेंगे।
2. श्वेत पुंस्कोकिल देखने से आप शुक्ल ध्यान में रमण करेंगे।
3. रंग–बिरंगे पुंस्कोकिल देखने से ज्ञान के रंगों से अनुरंजित द्वादशांग की प्ररूपणा करेंगे।
4. दो रत्नमालाएं देखने का अर्थ मैं जान नहीं पाया।
5. श्वेत गायों का समूह देखने से चतुर्विध संघ आपकी सेवा–समर्चा में तत्पर रहेगा।
6. प्रफुल्लित पद्मसरोवर देखने से भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष

और वैमानिक देव सेवा में उपस्थित रहेंगे।

7. लहरों से संकुल महासागर को भुजाओं द्वारा तैरने से संसार–सागर पार करेंगे।

8. जाज्वल्यमान आलोक प्रसरित कर भास्कर को देखने से आप केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त करेंगे।

9. वैडूर्यमणि–सम आंतों से मानुषोत्तर पर्वत को वेष्टित करने से आपकी कीर्तिपताका मानुषोत्तर पर्वतपर्यन्त दिग्–दिगन्त में फैलेगी।

10. सुमेरु पर आरूढ़ होने से आप समवसरण में सिंहासन पर विराजकर धर्मतीर्थ की संस्थापना करेंगे।

स्वप्न फलितार्थ बतलाकर उत्पल नैमित्तिक ने कहा, प्रभो! नौ स्वप्नों का यह अर्थ जाना है, लेकिन चतुर्थ स्वप्न का फलित मुझे ज्ञात नहीं हो रहा है। आपश्री चतुर्थ स्वप्न का फलितार्थ कहने की कृपा करावें। तब करुणासागर भगवान् ने चतुर्थ स्वप्न का अर्थ बतलाते हुए कहा कि उत्पल! चतुर्थ स्वप्न में दो रत्नमालाएं देखने का यह तात्पर्य है कि मैं आगार (श्रावक) और अणगार (साधु) इन उभय धर्मो की प्ररूपणा करूंगा। इस प्रकार स्वप्न फलितार्थ श्रवण कर भगवान के अतिशय को दृष्टिगत कर, विस्मय से अभिभूत होकर स्वयं उत्पल घर की ओर लौट गया और प्रभु ध्यान में लीन हुए। उन्हें इस चातुर्मास में इस यक्ष–उपसर्ग के बाद अन्य कोई उपसर्ग नहीं आया। वे शान्त–प्रशान्त बनकर साधना करने लगे। इस प्रकार अवशेष चातुर्मास अर्धमासक्षपण की तपस्या करते हुए व्यतीत किया[28]।

चातुर्मास परिपूर्ण होने के पश्चात् जैसे ही भगवान् अस्थिकग्राम से विहार करने लगे उसी समय शूलपाणि यक्ष उपस्थित हो प्रभु चरणों में अवनत बना और चरण–वन्दन कर निवेदन किया– भगवन्! आप अपने सुख को गौण करके मात्र मुझ पर दया करके मेरा जीवन सुधारने के लिए यहां पधारे, परन्तु मेरे जैसा कोई पापी नहीं। मैंने आपको कितना कष्ट पहुंचाया और आप जैसा कोई दयावान स्वामी नहीं जो मुझ जैसे पर इतना उपकार किया। आप नहीं आते तो मेरा क्या होता? आपने मुझे दुःखों की अनन्त यात्रा से बचा दिया। इस

प्रकार कहकर भावपूर्वक प्रणाम किया और भावविभोर हो पुनः लौट गया। तदनन्तर प्रभु ने मोराक सन्निवेश की तरफ विहार किया[29]।

संदर्भ : साधनाकाल का प्रथम वर्ष अध्याय 11

दीक्षा के समय प्रभु ने जो देवदूष्य वस्त्र धारण किया था उस सम्बन्ध में विभिन्न धारणाएं सम्मुख आती हैं। आचारांग सूत्र एवं कल्प सूत्र के मूल पाठ में देवदूष्य वस्त्र प्रभु ने ब्राह्मण को दिया, ऐसा उल्लेख नहीं है। परन्तु आवश्यक चूर्णि, आवश्यक वृत्ति, चउपन्नमहापुरुष चरियं, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र और कल्प सूत्र की टीकाओं में ऐसा उल्लेख है कि जब दीक्षा लेकर प्रभु क्षत्रियकुण्ड से विहार कर कूर्मारग्राम पधार रहे थे तब मार्ग में राजा सिद्धार्थ का मित्र सोम नामक वृद्ध ब्राह्मण मिला। उसने प्रभु से निवेदन किया– भगवन्! आप अनन्त करुणानिधान हैं। मैं असहाय दीन–हीन–दरिद्र ब्राह्मण हूं। मेरे पास खाने को अन्न नहीं, पहनने को वस्त्र नहीं और रहने को मकान नहीं है। प्रभो! जिस समय आपने निरन्तर एक वर्ष तक दान दिया उस समय मैं धन कमाने की आशा से परदेश गया था। लेकिन कुछ भी कमा नहीं पाया और हताश एवं निराश होकर लौट आया। घर आने पर पत्नी ने दुत्कारते हुए कहा– अरे! यहां पर इतने दिन सोने की वर्षा हो रही थी तब आप कहां गये। अब भी कुछ नहीं बिगड़ा, अब भी चलो, जाओ वे करुणा निधान महावीर आप को अवश्यमेव कुछ देंगे। बस, भगवन! इसी आशा से आपके पास आया हूं। तब प्रभु वीर ने कहा– भद्र! इस समय मैं अकिंचन भिक्षु हूं।

तब ब्राह्मण ने कहा– क्या कल्पवृक्ष के समीप आकर भी मेरी मनोवांछा पूर्ण नहीं होगी? यह कहते–कहते उसकी आंखें छलछला गयीं। अविरल अश्रुधारा बहने लगी और प्रभु के चरणों में लिपट गया। तभी भगवान ने करुणा से अभिभूत होकर देवदूष्य चीवर का अर्ध भाग ब्राह्मण को दे दिया।

अत्यन्त हर्षित होता हुआ वह ब्राह्मण उस चीवर को ले गया। अपनी ब्राह्मणी को दिखाया। ब्राह्मणी भी अत्यन्त प्रमुदित हुई। ब्राह्मण ने उस वस्त्र के छोर को ठीक करने के लिए रफूगर को दिया। रफूगर ने उस चीवर को देखा और उसकी चमक–दमक देखकर आश्चर्यचकित हो गया। तब ब्राह्मण से पूछा कि तुमने यह कहां से प्राप्त किया है? ब्राह्मण ने सारी बात यथावत् सुना दी। तब रफूगर ने कहा कि तुम पुनः भगवान् महावीर के

पीछे–पीछे घूमो। वह अर्धवस्त्र भी कहीं पर गिरेगा ही, तव तुम उसे उठा लाना और इस पूर्णवस्त्र को मैं अच्छे–से जोड़ दूंगा। तव तुम उसे नन्दीवर्धन को वेच देना।

रफूगर की इस वात को सुनकर वह दरिद्र व्राह्मण प्रभु महावीर के पास पहुंचा और पीछे–पीछे घूमने लगा। तदनन्तर एक वर्ष और एक मास के पश्चात् जव प्रभु सुवर्ण वालुका के तट पर पधारे तव उनका वह अर्ध देवदूष्य वस्त्र कांटों में उलझ गया। प्रभु ने उसको वहीं वोसिरा दिया। तव वह वृद्ध व्राह्मण उस वस्त्र को लेकर उसी वुनकर के पास गया। उसने दोनों खण्डों को वहुत अच्छी तरह जोड़ दिया। तव उस व्राह्मण ने नन्दीवर्धन को वह वस्त्र एक लाख दीनार में वेच दिया और जीवनभर के लिए अत्यन्त सुखी वन गया।

(क) आवश्यक, मलयगिरि, पृ. 266
(ख) आवश्यक चूर्णि, पृ. 268
(ग) देवाणुप्पिया! परिचत्तसयलसंगो हं संपयं, तुमं च दारिद्दोवद्दुओ। ता इमस्स मज्झंऽसावसत्तवाससस्स, अद्धं घेत्तूण गच्छसु त्ति।
चउपन्नमहापुरिसचरियं, पृ. 273, आचार्य शीलांक
(घ) त्रिषष्टि श्लाका पुरुषचारित्र; पृ. 30–43
(ङ) महावीर चरियं; गुणचन्द्र; पृ. 143–44
(च) महावीर चरियं; गुणचन्द्र; पृ. 863–64
(छ) आवश्यक हरिभद्रीय वृत्ति; पृ. 187

1. (क) विशेषावश्यक भाष्य; 1982
(ख) आवश्यक मलयगिरि वृ.; पृ. 266
(ग) त्रिषष्टि श्लाका पुरुषचारित्र; सर्ग 10; पृ. 31, पुस्तक 7
2. वीर विहार मीमांसा; विजयेन्द्र सूरि; पृ. 23
3. (क) आव. निर्युक्ति अवचूर्णि हरि; वृत्ति 273
(ख) आव. मलयगिरि पृ. 267
(ग) त्रिषष्टि श्लाका पुरुषचारित्र; पुस्तक 7; पर्व 10; पृ. 31
4. (क) आवश्यक निर्युक्ति अवचूर्णि; हारिभद्रीय; पृ. 273
(ख) आवश्यक मलयगिरि, पृ. 267
5. आवश्यक मलयगिरी, पृ. 267
6. (क) आवश्यक मलयगिरि; पृ. 267
(ख) आवश्यक चूर्णि, जिनदास गणि महत्तर कृत; पृ. 270

7. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास गणि महत्तर कृत; पृ. 270
तंमि अंतरे सिद्धत्यो सामिस्स मातुत्थितापुत्तो बालतवोकम्मेणं वाणमंतरो जावेल्लओ, सो आगतो, ... ताहे
सक्केण सिद्धत्यो भणितो–एस तव णीयल्लओ पुणोय मम वयणं, सामिस्स जो वरं मारणंतियं उवसग्गं करेति त़ं वारेहि, एवमस्तुतेण पडिसुतं, सक्को पडिगतो।
(ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 267
8. (क) आवश्यक चूर्णि, जिनदास; पृ. 270
(ख) समवायांग
(ग) विशेषावश्यक भाष्य; 1893
(घ) त्रिषष्टि शलाका पुस्तक 7; पर्व 10; पृ. 32
यहां यह ज्ञातव्य है कि सभी तीर्थंकरों ने बेले की तपश्चर्यापूर्वक दीक्षा ली। ऋषभदेव भगवान् ने एक वर्ष पश्चात् गन्ने के रस से पारणा किया और शेष 23 तीर्थंकरों ने खीर से पारणा किया जैसा कि समवायांग में कहा है :–
"संवच्छरेण मिक्खा, खोयलद्धाउसभेण लोगणाहेण सेसेहि वीयदिवसे लद्धाओ पढम–मिक्खाओ, उसभस्स पढममिक्खा खोयरसो आसि लोगणाहगस्स, सेसाणं परभण्णं अयियरस सोवमं आसी।"
9. दिव्य का तात्पर्य है देवों द्वारा किया गया। पांच दिव्य इस प्रकार हैं–
1. वसुधारा अर्थात् सुवर्ण वृष्टि। देवों द्वारा साढे बारह करोड़ सौनेया की वर्षा को यहां वसुधारा कहा है।
2. पंचवर्ण (कृष्ण, नील, पीत, श्वेत और रक्त) वाले पुष्पों की वर्षा। ये पुष्प वैक्रियलब्धिजन्य होते हैं। इसलिए ये अचित ही होते हैं।
3. चेलोत्क्षेप– चेल–वस्त्र, उत्क्षेप–फेंकना। अर्थात् वस्त्रों को आकाश में फेंकना।
4. देवदुन्दुभि– हर्षान्वित देवदुन्दुभि बजाना।
5. अहोदान– आश्चर्य उत्पन्न करने वाला दान। अहोदान की संज्ञा देना।
उदधृत– विपाकसूत्र; श्री ज्ञानमुनिजी; जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लुधियाना; वि. सं. 2010; प्रथमावृत्ति; पृ. 635

10. (क) सामिणा पुव्वपयोगेण वाहिया पसारिया; आव. मलय.; पृ. 268
(ख) पितृमित्रं कुलपतिस्तत्र नाथमुपस्थितः।
पूर्वाभ्यासात् स्वामिनापि तस्मिन् बाहुः प्रसारितः।। त्रिषष्टि 10/3/50
(ग) पुव्वनेहेण सामिं दट्ठूण सागयंति भणिऊण संमुहमुवट्ठिओ भयवयावि पुव्वपओगेण चेव वाहा पसारिया। महावीर चरियं (गुणचन्द्र), 5/146

11. आचारांग; प्रथम श्रुत स्कन्ध; नवम अध्ययन; प्रथम उद्देशक
1. अहासुत्तं वदिस्सामि, जहा से समणे भगवं उट्ठाय।
संखाए तंसि हेमंते, अहुणा पव्वइए रीइत्था।
2. णो चेविमेण वत्थेण, पिहिस्सामि तंसि हेमंते।
से पारए आवकहाए, एतं खु अणुधम्मियं तस्स।
चत्तारि साहिए मासे वहवे पाणजाइया आगम्म।
अभिरुज्झ कायं विहरिंसु, आरुसियाणं तत्थ हिंसिंसु।
(ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 267

12. (क) आचारांग; 1/9/1
(ख) जैन धर्म का मौलिक इतिहास; प्रथम भाग; पृ. 572–73

13. (क) आचारांग; 1/9/1
(ख) जैन धर्म का मौलिक इतिहास; प्रथम भाग; पृ. 572–73

14. आचारांग; 1/9/1

15. (क) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 268
(ख) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 271

16. (क) आचारांग; 1/9/1
(ख) जैन धर्म का मौलिक इतिहास; प्रथम भाग; पृ. 572–73

17. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 271
(ख) त्रिषष्टि श्लाका पु. चा.; पुस्तक 7, पर्व 10; पृ. 33

18. आवश्यक चूर्णि, जिनदास; पृ. 271

19. त्रिषष्टि श्लाका पु. चा.; पुस्तक 7; पर्व 10, पृ. 34

20. सद्धर्म मण्डन

21. समवायांग

22. (क) आवश्यक चूर्णि; मलयगिरि
(ख) आवश्यक चूर्णि, जिनदास, पृ. 271
(ग) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि, पृ. 268

23. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 272–273
(ख) आवश्यक चूर्णि; मलयगिरि; पृ. 268–69
24. आवश्यक चूर्णि; मलयगिरि; पृ. 270
25. त्रिषष्टि शलाका पु. चा.; पुस्तक 7; पर्व; 10 पृ. 37
26. (क) आवश्यक चूर्णि; मलयगिरि; पृ. 270
(ख) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 274
27. (क) आवश्यक चूर्णि; मलयगिरि; पृ. 270
(ख) त्रिषष्टि शलाका पु. चा.; पुस्तक 7; पर्व 10; पृ. 38–39
28. (क) आवश्यक चूर्णि; मलयगिरि; पृ. 270
(ख) त्रिषष्टि शलाका पु. चा.; पुस्तक 7; पर्व 10; पृ. 38–39
29. त्रिषष्टि शलाका पु. चा.; पुस्तक 7; पर्व 10; पृ. 39–40

साधनाकाल का द्वितीय वर्ष – द्वादश अध्याय

संयम चर्या का प्रथम वर्ष व्यतीत हो गया है। भगवान् वर्षावास पूर्ण करके मोराक सन्निवेश पधार गये। वहां उद्यान में प्रतिमा धारण करके साधना में तल्लीन बन गये हैं। चहुं ओर शांति का साम्राज्य है। प्रदूषण की स्वल्प गंध भी नहीं है। ग्रामवासियों का कृषिप्रधान जीवन है। वे कृषि द्वारा ही अपना कार्य चलाते हैं। आज की भागमभाग और यांत्रिक जीवन जैसा वहां का तनावग्रस्त जीवन नहीं है। सीधे–सरल मोराकवासियों के मन में जब भविष्यफल जानने की इच्छा होती तो वे अच्छंदक नामक ज्योतिषी के यहां चले जाते और उससे भविष्यफल जानकर सन्तुष्टि का अनुभव करते।

उस अच्छंदक का वर्चस्व देखकर एक दिन व्यन्तर देव सिद्धार्थ ने सोचा कि गुप्तपाप सेवन करने वाले अच्छंदक का भी इस ग्राम में इतना वर्चस्व है। इसके पापों को अब उजागर करने का समय आ गया है। मैं देवार्य की शरण लेकर इसके पापों को उजागर कर सकता हूं। ऐसा करने पर यह पापों का परित्याग भी कर देगा और देवार्य के त्याग की महिमा भी फैल जायेगी। इसी जिज्ञासा से एक दिन वह देव प्रभु के शरीर में प्रविष्ट हुआ। उस समय एक ग्वाला जा रहा था, देव ने उसे बुलाया और कहा, "अरे ग्वाल! तुम अभी घर से सौवीर' सहित अंगकूर' का भोजन करके आये हो और अभी बैलों के रक्षण हेतु जा रहे हो। तुमने यहां आते हुए मार्ग में एक सर्प देखा है। आज रात्रि में तुझे एक स्वप्न भी आया था। उसमें तुम बहुत रोये हो। क्या मेरा यह कथन सत्य है?" ग्वाले ने कहा, "हां सत्य है।" तब देव ने ग्वाले को विश्वास जमाने के लिए और भी बहुत–सारी बातें कहीं। उन सब सत्य बातों को श्रवण कर ग्वाला विस्मयान्वित हो गया। ग्राम में जाकर ग्रामवासियों से कहा, "हमारे ग्राम के बाहर त्रिकालज्ञ देवार्य पधारे हैं। वे भूत, भविष्य की बातों को सत्य–सत्य बतलाते हैं और पैसा भी कुछ नहीं लेते। तुम्हें चलना है तो जल्दी चलो। ऐसा अवसर पुनः आने वाला नहीं है।" यह श्रवण कर सारे ग्रामवासी अक्षत पुष्पादि लेकर देवाधिदेव प्रभु महावीर के पास आये। उसी समय पुनः सिद्धार्थ देव भगवान के

शरीर में प्रवेश करता है और समागत लोगों से पूछता है, "क्या तुम मेरा अतिशय देखने आये हो?" सभी ने स्वीकारात्मक उत्तर दिया– "हां।" तब सिद्धार्थ देव ने उनके भूत–भविष्य की घटनाओं का अक्षरशः सत्य कथन किया, जिसे श्रवण कर लोग बड़े आनन्दित हुए, प्रभु की महिमा का गान किया और वन्दन कर लौट गये। अब प्रतिदिन सैकड़ों की भीड़ वहां आती। सिद्धार्थ उन्हें उत्तर देता और वे सन्तुष्ट होकर पुनः लौट जाते। यह सिलसिला कई दिनों तक चलता रहा।

एक दिन ग्राम के लोगों ने सिद्धार्थ से कहा– "देवार्य! हमारे गांव में भी अच्छंदक नामक एक ज्योतिषी है। वह भी आपकी तरह भूत–भविष्य का ज्ञाता है। आपकी दृष्टि में वह कैसा है।" तब सिद्धार्थ ने कहा, "वह तो कुछ भी नहीं जानता। मात्र आप जैसे भोले प्राणियों को ठगकर आजीविका चलाता है।" यह सुनकर ग्रामवासियों ने अच्छंदक से आकर कहा, "अरे अच्छंदक तूं तो भूत–भविष्य की बातों को सत्य रूप से नहीं जानता। ये सारी बातें तो नगर के बाहर पधारे हुए देवार्य जानते हैं।" तब अच्छंदक अपनी प्रतिष्ठा को धूमिल जानकर बोला– "अरे! तुम सत्य बात जानते नहीं हो इसलिये उस देवार्य ने तुम्हारे सामने यह सब मनगढन्त कहा। चलो, मैं तुम्हारे साथ चलता हूं। मेरे सामने कहे तब जानूं।" यह कहकर क्रोधाभिभूत अच्छंदक लोगों के साथ में, जहां प्रभु ध्यान कर रहे थे वहां चला आया और एक घास का तृण दोनों हाथों में पकड़ कर देवार्य से बोला– "बताओ, मैं इस तृण को छेद पाऊंगा या नहीं?" इस प्रश्न के पीछे अच्छंदक की यह माया छिपी थी कि यदि वह देवार्य कह देगा छेद पाऊंगा तो मैं नहीं छेदूंगा और यदि यह कहेगा नहीं छेदोगे तो जरूर छेदूंगा। लेकिन सिद्धार्थ देव अवधिज्ञानी था। उसने कहा कि तुम तृण को नहीं छेद पाओगे। तब अच्छंदक अंगुली को तैयार कर तृण छेदने में तत्पर हुआ। उसी समय शक्रेन्द्र अपनी सभा में उपयोग कर रहे हैं। देखते ही अचम्भित रह गये। ओह! गजब हो रहा है। एक सामान्य ज्योतिषी प्रभु की वाणी मिथ्या करने का प्रयास कर रहा है। तभी शक्रेन्द्र ने अच्छंदक की दसों अंगुलियों को वज्र से छेद डाला। तृण से छेदित अंगुलियों से वह आर्तध्यान को प्राप्त हुआ। सब लोग उसे देख हंसने लगे। अच्छंदक पागल

की तरह वहां से चला गया।

अच्छंदक लौट गया है। ग्रामवासी सिद्धार्थ के अतिशय से चमत्कृत हैं। वे सिद्धार्थ से अच्छंदक के बारे में और भी कुछ जानना चाहते हैं और पूछते हैं– "देवार्य अच्छंदक झूठ तो बोलता ही है, क्या और भी कोई बुरी आदत है?" तब सिद्धार्थ ने कहा– "ग्रामवासियों! यह अच्छंदक चोर भी है।" तब लोगों ने पूछा, "इसने किसके यहां कब चोरी की?" तब सिद्धार्थ ने कहा, "आपके गांव में वीरघोष नामक सेवक है।" उसी समय वीरघोष खड़ा हो गया और बोला, "मैं वीरघोष हूं।[3] कहिए आप क्या कहना चाहते हैं?" तब सिद्धार्थ ने कहा, "पहले दशपल[4] प्रमाण वाला एक बर्तन तेरे घर से चोरी हुआ था?" वीरघोष ने कहा, "हां।" तब सिद्धार्थ ने कहा, "वह बर्तन अच्छंदक ने चोरी किया है। उसने तुम्हारे घर से पीछे पूर्व दिशा में सरगवन का वृक्ष है, उसके नीचे एक हाथ खोदकर छिपाया है। वह वहीं पर है।" यह सुनकर सभी आश्चर्यचकित होते हुए बोले– "चलो वीरघोष, तुम्हारा बर्तन लेने के लिए चलते हैं।" तब वीरघोष ग्राम्य जनता सहित वहां गया, जगह खोदी। वहां उसका पात्र मिला, घर लाया और लोग कोलाहल करते पुनः सिद्धार्थ के पास आये और कहा, "देवार्य, तुम्हारा कथन अक्षरशः सत्य है। क्या तुम अच्छंदक के बारे में और भी कुछ जानते हो?" तब सिद्धार्थ ने कहा, "और सुनो। तुम्हारे गांव में इन्द्रशर्मा नामक ब्राह्मण है?" तब लोगों ने कहा, "हां है।" सिद्धार्थ ने कहा, "उसे यहां बुलाओ।" लोगों ने इन्द्रशर्मा को बुलाया। इन्द्रशर्मा उपस्थित हुआ। पूछा, "भन्ते! क्या आज्ञा है?" सिद्धार्थ ने कहा, "तुम्हारा एक मेंढा (भेड) कहीं खोया है?" इन्द्रशर्मा ने विस्मय से कहा, "हां।" तब सिद्धार्थ ने कहा, "तुम्हारा वह भेड अच्छंदक मारकर खा गया और उसकी हड्डियां बोर के वृक्ष के नीचे दक्षिण दिशा में गाड दी हैं।" ग्रामवासी हा-हाकार करने लगे और उन हड्डियों को देखने गये। वहां जाकर देखा तो अस्थियां गडी हुई थी।

अब और भी कौतुक से जानने की जिज्ञासा से लोग वहां आये और सिद्धार्थ से पूछा, "क्या इस ढोंगी के बारे में आप और भी कुछ जानते हैं?" तब सिद्धार्थ ने कहा, "अच्छंदक ढोंगी का और भी दुश्चरित्र

जानता हूं, पर अब नहीं कहूंगा।" तब लोगों ने सिद्धार्थ से कहने के लिए अत्यधिक आग्रह किया। सिद्धार्थ ने कहा, "मैं तो नहीं कहूंगा। तुम लोगों को जानना है तो उसकी स्त्री से पूछो।" तब लोग यह जानने के लिए उस अच्छंदक के घर की तरफ रवाना हुए। उसी दिन अच्छंदक ने अपनी स्त्री को बहुत पीटा। तब उसे गुस्सा आया और नेत्रों से अश्रु बरसाते हुए चिन्तन किया कि मेरा पति दुष्ट है तभी तिनके से इनकी अंगुलियां छिद गईं। पूरे गांव में इनका तिरस्कार हो रहा है। अब लोग मेरे पास पूछने के लिए आयेंगे तो मैं इनका दुष्चरित्र कह डालूंगी। इधर लोग अच्छंदक के घर पहुंचे और उसके दुष्चरित्र के बारे में पूछा, तो सकोप पत्नी ने बताया कि यह दुष्ट है। कर्म से चंडाल है। अपनी बहिन के साथ विषय–सुख भोगता है और कभी मेरी ओर देखता भी नहीं है। यह श्रवण कर जनता अच्छंदक को "पापी! पापी! धिक्कार है! धिक्कार है!" करती हुई लौट गयी।

अब अच्छंदक के पापों का भण्डाफोड़ हो गया है। उसके लिए आजीविका चलाना दुष्कर हो गया। जिस भी घर में भिक्षा के लिए जाता, लोग उसे धिक्कार–धिक्कार कहते और बोलते, "दुष्ट हट जा, तेरा मुंह देखना भी पाप है।" ऐसा कहकर निकाल देते और उसे कुछ भी भिक्षा नहीं देते। तब अच्छंदक ने देखा कि उस संन्यासी के आने से मेरा जीवन बरबाद हो रहा है। उसके रहते हुए मुझे भिक्षा नहीं मिल सकती। अतः उसको यहां से हटाने का प्रयास करना चाहिए।

यह सोचकर अच्छंदक एक बार एकान्त में वीर प्रभु के पास गया और नम्र निवेदना की, "हे भगवन्! आप यहां से अन्यत्र पधारो क्योंकि आप तो पूज्य हैं। अतः आप तो अन्यत्र भी पूजे जायेंगे लेकिन मैं तो यहीं के लोगों को जानता हूं। अन्य जगह तो कोई मेरा नाम भी नहीं जानते। शृगाल का शौर्य तो गुफा में ही है, उसके वाहर नहीं। मैंने आपका अविनय किया, उसका फल ही मुझे प्राप्त हुआ है। अव आप मेरे पर कृपा करके दूसरे स्थान पर पधारो ताकि पुनः मैं अपनी आजीविका जुटा सकूं।" अच्छंदक के इन वचनों को सुनकर, मुझे अप्रीतिकर स्थानों में नहीं ठहरना, इस अपने अभिग्रह के अनुसार प्रभु ने वहां से उत्तर वाचाला नाम के सन्निवेश की तरफ विहार कर दिया।[5]

वाचाला ग्राम दो विभागों में विभाजित था। उत्तर वाचाला और दक्षिण वाचाला। इसका कारण यह था कि वाचाला के बीच में सुवर्णकूला और रूपकूला नामक दो नदियां बहती थीं। प्रभु दक्षिण वाचाला से उत्तर वाचाला में सुवर्णकूला के तट की ओर जा रहे थे। वहां सुवर्णकूला के तट पर प्रभु का देवदूष्य वस्त्र कांटों में उलझ गया।[6] प्रभु ने मुडकर देखा कि कहीं वस्त्र अयोग्य स्थंडिल भूमि में तो नहीं गिरा। लेकिन देखा कि वह योग्य भूमि में ही गिरा है। कांटों में वस्त्र गिरने से शिष्यों को वस्त्र सुलभता से मिलेंगे, यह जानकर प्रभु ने वस्त्र को वहीं वोसिरा दिया और वे आगे बढ़ते गये।[7]

प्रभु महावीर वायुवेग से निरन्तर विहार करते हुए मार्ग को पार कर रहे थे। वे दक्षिण वाचाला से उत्तर वाचाला की ओर जा रहे थे। दक्षिण वाचाला से उत्तर वाचाला जाने के दो मार्ग थे। एक मार्ग सीधा था लेकिन सीधा होने पर भी विकट, भयावह और संकटापन्न था। दूसरा मार्ग टेढ़ा मार्ग था लेकिन वह भयमुक्त मार्ग था[8]। इन दोनों मार्गों में से प्रभु महावीर, जो उपसर्ग–परीषहों को आमंत्रण देकर झेलने का साहस करते थे, उन्होंने कंटककीर्ण पथ का चयन किया और कनखल आश्रम[9] की तरफ अपने कदम गतिमान किये।

वायु की तरह अप्रतिबद्ध विहारी प्रभु महावीर जब कनखल आश्रम की ओर प्रस्थान करते हैं तो मार्ग में उन्हें एक ग्वाला मिलता है। ग्वाला प्रभु को कनखल की ओर जाते हुए देखकर चिन्तित हो उठता है, सोचता है, ओह! ये संन्यासी इस मार्ग से जा रहे है। शायद इन्हें आगे आने वाले कष्टों का पता नहीं। यदि यह इस मार्ग से जायेंगे तब पता नहीं, इनके प्राण पंखेरू भी रहेंगे या नहीं? अतः मैं इन्हें इस मार्ग में आने वाले कष्टों की जानकारी दे देता हूं। ऐसा चिन्तन कर वह ग्वाला प्रभु के पास जाता है और निवेदन करता है– 'देवार्य! आप

भी नहीं है, इसलिए आप इधर मत पधारिये[10]।" ग्वाले की बात श्रवण करके भी प्रभु मौन रहे क्योंकि वे जानते थे कि दृष्टिविष कौन है? वे अपने ज्ञान में देख रहे थे कि वह दृष्टिविष अभव्य नहीं अपितु भव्य जीव है।[11] वह सर्प पूर्वजन्म में तपस्वी साधक था। एक बार वह पारणे के लिए उपाश्रय से बाहर गया। उसके पैर के नीचे एक मेंढ़की आ गयी। एक छोटा साधु उनके साथ था। तपस्वी साधक को पता नहीं चला कि उसके पैर के नीचे कुछ आया है। लेकिन क्षुल्लक साधु का ध्यान चला गया। उसने तपस्वी साधक को ध्यान दिलाया कि, "देखिए गुरुदेव, आपके पैर के नीचे मेंढ़की आकर मर गयी है।" तपस्वी साधु को क्रोध आया। सोचा, मेरे पैर के नीचे मरी भी नहीं और उल्टा मुझे कह रहा है। तब तपस्वी साधु ने एक और मेंढ़की मरी हुई थी, उसकी ओर क्षुल्लक का ध्यानाकर्षण करते हुए व्यंग्यात्मक भाषा में कहा, "देखो, यह मेंढ़की मैंने मारी है?" क्षुल्लक साधु तपस्वी साधक को क्रोधाविष्ट देखकर मौन रहा। सोचा, गुरुदेव प्रतिक्रमण के समय जब आलोचना करेंगे तब इसके पश्चात् स्वयं ही प्रायश्चित्त ग्रहण कर लेंगे। लेकिन उन तपस्वी साधु ने सायंकाल उसकी आलोचना नहीं की, तब क्षुल्लक साधु ने सोचा कि ये आलोचना करना भूल गये हैं, तो मैं इनको याद दिला देता हूं। यह सोचकर उस क्षुल्लक साधु ने तपस्वी साधु से कहा, "आर्य! क्या आप मेंढ़की की आलोचना करना भूल गये?" उसे श्रवण कर तपस्वी साधु के क्रोध कषाय का उदय हुआ और क्रोधावेश में वह उस क्षुल्लक साधु को मारने दौड़े। बीच में खम्भा दिखाई न देने से खंभे से टकराये और मस्तक पर चोट लगने से वहीं मृत्यु को प्राप्त हो गये।

वह साधक जीवन की विराधना करने से ज्योतिष्क देव में उत्पन्न हुआ[12]। वहां से आयुष्य पूर्णकर कनकखल (कनखल) नामक स्थान में पांच सौ तपस्वियों के कुलपति की कुलपत्नी से कौशिक नामक पुत्र रूप में पैदा हुआ। वहां दूसरे तापस भी कौशिक गोत्र वाले थे। यह कौशिक धीरे–धीरे बड़ा होने लगा। इसका स्वभाव क्रोधी होने से उसे वहां के तापस चंडकौशिक कहने लगे[13]। चण्डकौशिक के पिता कुलपतिजी मृत्यु को प्राप्त हुए तब चण्डकौशिक आश्रम का कुलपति

बन गया। उसका अपने वनखण्ड पर अत्यधिक ममत्व था। इसलिए दिन–रात वनखण्ड में चक्कर लगाता रहता था। किसी को भी उस वनखण्ड में से फल, पुष्प, पत्र आदि लेने नहीं देता था। कदाचित कोई वन में से सडा–गला फल–फूल, पत्ता ग्रहण करता तो उसको लाठी या ढेले से मारता था। यहां तक कि स्वयं के आश्रम में रहने वाले तापसों को भी फलादि ग्रहण नहीं करने देता था। तब वे तापस व्यथित होकर आश्रम से इधर–उधर भाग गये और चण्डकौशिक ही अब उस वाटिका का मालिक बन गया।

एक दिन चण्डकौशिक वाटिका के काम से बाहर चला गया। उसी समय श्वेताम्बिका नगरी से कितने ही राजकुमार शीघ्र आये और चण्डकौशिक के उस वनखण्ड को नष्ट–भ्रष्ट करने लगे। जब चण्डकौशिक कार्य सम्पन्न कर पुनः लौटा तो एक ग्वाले ने कहा, "चण्डकौशिक! अभी तुम नहीं थे तो तुम्हारे अभाव में तुम्हारे वनखण्ड को कोई नष्ट–भ्रष्ट कर रहा था।" यह श्रवण करते ही वह क्रोध से आग–बबूला होकर तीक्ष्ण धारवाला कुल्हाड़ा लेकर दौडा आया। उसे वेग से आता देखकर कोई राजकुमार बाज पक्षी की तरह, कोई अन्य पक्षियों की तरह बडे वेग से वहां से भाग गये और कौशिक वेग से दौडता हुआ एक खड्डे में गिर पडा और स्वयं द्वारा फेंके उस तीक्ष्ण कुल्हाडे से मस्तक विदीर्ण हो गया और अपने कर्मविपाक से मृत्यु को प्राप्त कर इसी वन में दृष्टिविष सर्प बन गया"। वह तीव्रानुबन्धी क्रोध भवान्तर में भी साथ जाता है।" इस नियम से यहां भी वह प्रचण्ड क्रोधी बन गया था। वह भी अपने उस आश्रम की भूमि में किसी को घुसने तक नहीं देता था।

बढ़ते–बढ़ते ज्यों ही प्रभु ने जीर्ण अरण्य में प्रवेश किया, त्यों ही जीर्ण–शीर्ण शुष्क वृक्ष, जो चण्डकौशिक की विषैली दृष्टि से मुरझा गये थे, वे हरे–भरे होने लगे। चारों ओर का वातावरण मनमोहक बन गया। प्रभु वहां आकर यज्ञ मण्डप में रुके और नेत्रों को स्थिर करके कायोत्सर्ग करके खड़े रहे। प्रभु वहां पधारे उससे कुछ समय पूर्व ही वह दृष्टिविष सर्प मुंह से लपलपाती जीभ बाहर निकालकर क्रोध से नेत्र लाल कर उस अरण्य का स्वामी बना हुआ बांबी से बाहर निकलकर घूमने निकला[16]। वह घूमता हुआ, जहां प्रभु महावीर ध्यानस्थ खड़े थे, वहां पहुंच गया। जैसे ही भगवान को दूर से देखा, चिन्तन किया, ओह! मेरे स्थान पर यह मरने को उद्यत कौन आया है और आकर खड़ा भी हो गया है। अभी इसको ठिकाने लगाता हूं। अभी भस्म कर दूंगा तो सारा खेल खतम हो जायेगा। ऐसा चिन्तन कर क्रोध से आगबबूला बनकर अपने फन फैलाकर भयंकर विष छोड़ता हुआ दृष्टि से प्रभु को निहारने लगा जैसे प्रज्वलित उल्कापिण्ड आकाश से गिरता है, वैसे ही विषैली दृष्टि से प्रभु पर विष फेंकता है लेकिन परम धैर्यशाली प्रभु उसे समभाव से सहन करते हुए तनिक भी विचलित नहीं होते हैं। तब चण्डकौशिक ने चिन्तन किया कि इस दृष्टि से तो इस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ अब और सूर्य जैसी प्रचण्ड दृष्टि इस पर डालूंगा तो यह अभी झुलस जायेगा, ऐसा चिन्तन कर प्रचण्ड विषैली दृष्टि प्रभु पर डाली लेकिन अतिशयधारी महावीर ने उस ज्वाला को जलधारा मान कर सहन कर लिया।

चण्डकौशिक ने देखा, दृष्टि का इस पर कोई प्रभाव नहीं। अब तो ऐसा तीक्ष्ण डंक मारता हूं कि यह हाय–हाय करता हुआ यहीं मरण को प्राप्त हो जायेगा। ऐसा चिन्तन कर प्रभु के डंक लगाया तो गाय के दूध जैसी रुधिर धारा निकली। दूसरी, तीसरी बार डंक लगाया तो वही श्वेत रुधिर धारा[17]। सोचा, जहां भी डंक लगा रहा हूं जहर फैलता नहीं अपितु श्वेत रक्त निकल रहा है, यह क्या है? बार–बार डंक लगाने पर भी जब जहर नहीं फैला अपितु श्वेत रुधिर निकला तो आश्चर्यचकित होकर, बड़ा ही संतप्त होकर प्रभु को देखने लगा। प्रभु के सौम्य मुखमण्डल को देखकर स्तब्ध हो गया[18] तो भगवान् ने कहा,

"रे चण्डकौशिक! बुज्झ! बुज्झ!" अरे चण्डकौशिक जागो-जागो, क्यों नहीं जागते।" तो भगवान के ये वचन श्रवण कर वह चिन्तन करने लगा, अरे! यह क्या कह रहा है? चण्डकौंशिक जागो-जागो, क्यों नहीं जागते? मैं चण्डकौंशिक कब था? यों चिन्तन करता अतीत में चला गया और जातिस्मरण ज्ञान हो गया[20]। तब प्रभु की तीन बार प्रदक्षिणा की। तदनन्तर मन में अनशन स्वीकारने (संथारा करने) का निर्णय किया। प्रभु ने अपनी सौम्य दृष्टि से उसको निहारा। तत्पश्चात् सर्व क्रिया से रहित होकर सोचा, यदि मेरा मुंह बांबी से बाहर रहेगा तो मेरी विषमय दृष्टि किसी पर पडेगी इससे किसी प्राणी का प्राणनाश हो सकता है। इसलिए अपने मुंह को बिल में (राख में) छिपा लिया[21] और समता धारण कर आत्म चिन्तन में लीन बन गया। आहारादि का परित्याग कर आजीवन अनशन कर पश्चात्ताप की ज्वाला में जलने लगा।

सर्प आत्मचिन्तन में लीन था। भगवान् ने देखा कि जब तक इसका मरणकाल नहीं आता है तब तक मुझे यहीं रुकना चाहिए ताकि इसे आत्मशांति होगी। यही सोचकर प्रभु महावीर वहीं पर ध्यानस्थ बनकर खड़े रहे[22]। प्रभु को निरुपद्रव जानकर ग्वाले आदि आश्चर्यचकित होकर शीघ्र ही वहां आये और देखा कि सभी प्राणियों को पीड़ित करने वाले सर्प को पत्थरों से मारा तो भी समभावी नाग निश्चल रहा तब वे ग्वाले प्रभु के समीप आये। उसके शरीर को लाठियों से स्पर्श किया लेकिन उसका समभाव-रमण नहीं टूटा।[23] तब ग्वालों ने सारी वार्ता लोगों से कही।

लोग वहां उसे देखने के लिए आने लगे। ग्वालों की बहुत-सारी स्त्रियां उस मार्ग से घी बेचने के लिए जाने लगी। वे स्त्रियां जाती हुई उस सर्प के शरीर पर भक्ति से घी लगाती थी। उस घी की सुगन्ध से तीक्ष्ण मुख वाली चींटियां उसके शरीर पर चढ़ने लगी। वे सैंकड़ों चींटियां एक साथ काट रही हैं तीव्र वेदना उत्पन्न हो रही है, लेकिन जबरदस्त समभाव। एक दृष्टि से प्राणियों को जलाकर राख [illegible] समभाव की [illegible] साधना कर रहा है। प्रभु के [illegible] में [illegible] परिवर्तन [illegible] है। कितना

गजब का परिवर्तन कि चींटियों पर क्रोध आना दूर, लेकिन उसके विपरीत चिन्तन कर रहा है कि यदि मैं जरा–सा भी हिलूंगा तो कीड़ियां मेरे शरीर के नीचे आकर दब जायेंगी। बस, इसी अनुकम्पा से हिलना–डुलना बन्द कर दिया[24]। मन में करुणा का अजस्र स्रोत प्रवाहित करने वाला नाग निरन्तर उत्कृष्ट अध्यवसायों में रमण करता है और करुणासिन्धु भगवान अपनी करुणामय दृष्टि से उसका सिंचन कर रहे हैं।

संथारा ग्रहण किये एक पक्ष हुआ। वह चण्डकौशिक धर्म को प्राप्त कर अष्टम देवलोक का देव बना[25] और प्रभु महावीर चण्डकौशिक के मरणोपरान्त वहां से विहार कर उत्तर वाचाल पधार गये। प्रभु के अर्ध–मासक्षपण के पारणे का दिन था। पारणे के लिए स्वयं भिक्षाटन करने हेतु नागसेन नामक गृहस्थ के यहां पधारे। उस दिन नागसेन का पुत्र, जो चार वर्ष से परदेश में गया था, वहं घर पर आया था। उस पुत्र की खुशी में नागसेन ने जीमणवार का कार्यक्रम रखा। अनेक लोगों को आमंत्रित किया था। इधर भोजन बनकर तैयार हुआ और उधर करुणासागर भगवान् महावीर उसके उधर ही पधार रहे थे। इस से प्रभु को आता हुआ देखकर वह बड़ा ही हर्षित हुआ। भक्तिपूर्वक प्रभु को प्रतिलाभित करता है। सारा वायुमण्डल आकाश–निसृतः 'अहोदानं–अहोदानं' की ध्वनि से गुंजायमान होता है। देवगण स्वर्णनिष्कों के साथ–साथ पांच दिव्यों की वर्षा करते हैं[26]। प्रभु पारणा करके श्वेताम्बिका[27] की ओर प्रस्थान करते हैं।

श्वेताम्बिका में पदार्पण :– धर्मनायक प्रभु वीर पदाति विहार कर श्वेताम्बिका की ओर पधार रहे थे। गुप्तचरों ने श्वेताम्बिका के सम्राट परदेशी को सूचित किया– "राजन! श्रमण भगवान् महावीर पैदल विहार करते हुए वाचाला से श्वेताम्बिका पधार रहे हैं। धर्मनिष्ठ प्रभुभक्त राजा समाचार श्रवण कर बड़ा हर्षित होता है और नागरिक, मंत्री और अनेक राजाओं के परिवार सहित भगवान् के सन्मुख जाता है। प्रभु जब दृष्टिगत होते हैं तो भक्तिपूर्वक वन्दन करता है। प्रभु को अपने नगर में ले जाता है। वहां से प्रभु सुरभिपुर की ओर विहार करते हैं। वहां सुरभिपुर से थूणाक सन्निवेश में प्रभु को पधारना था लेकिन

दोनों के मध्य गंगा नदी प्रवहमान थी। उस गंगा को पार करने हेतु भगवान् नौका में विराजने के लिए नदी के पास पधारे।

नदी तट पर सिद्धदंत नाविक नौका लिए बैठा था। उसने प्रभु को अन्य मुसाफिरों के साथ अपनी नौका में बिठाया। सबके बैठने के बाद नाविक ने ज्योंही नौका खेना प्रारम्भ किया त्यों ही दाहिनी ओर बैठे उल्लू ने बोलना शुरू किया। तब उस नौका में यात्रा करने वाले खेमिल निमित्तज्ञ ने अन्य यात्रियों से कहा– "आज बड़ा अपशकुन हुआ है। यात्रा कुशलक्षेम से नहीं होगी। मारणान्तिक कष्ट आने वाला है लेकिन (प्रभु की तरफ इशारा करके कहा) यह जो महापुरुष बैठा है अपन सभी इसी की पुण्यवानी से बच जायेंगे।" वह ऐसा बोल ही रहा था कि पानी उछाल खाने लगा। कारण यह था कि वहां पर गंगा में सुदंष्ट्र नामक एक देव रहता था। उसने प्रभु को देखा और उसको प्रभु के साथ का पूर्वजन्म का वैर याद आ गया। वह देव चिन्तन करने लगा कि जब यह (संन्यासी) त्रिपृष्ठ वासुदेव था तब मैं सिंह था। मैं एक गुफा में रहता था। मैंने इसका कुछ भी अपराध नहीं किया। लेकिन इसने अपनी भुजाओं के पराक्रम के गर्व से मात्र कौतुक करने के लिए मुझे मार डाला। आज यह मुझे मिल गया है तो इसे मार डालना चाहिए। इसे कतई नहीं छोड़ना चाहिए। [illegible] क्रोध से विस्फारित नेत्र एवं फड़कते अधरोष्ठ [illegible] सुदंष्ट्र देव [illegible] में जाकर भयंकर ध्वनि करता है, "अरे तू [illegible]" ऐसा बोलकर वह संवर्तक नामक महावायु की विकुर्वणा करता है जिससे वृक्ष गिर जाते हैं। पर्वत [illegible] में उछलने लगा। नाव में पानी भर [illegible] [illegible]

[illegible]

पुत्री थी। दोनों ने परिग्रह की मर्यादा करली थी और गायादि पशु रखने के भी प्रत्याख्यान कर लिये थे। वे दोनों अहीरिनों से दूध, दही लेते थे। एक बार एक अहीरिन उत्तम दही बेचने के लिए वहां आई। साधुदासी ने उससे दही खरीदा और कहा कि, "तेरे घर पर जितना दही–दूध होता है उसको यहां हमको दे दिया कर और जितना चाहे उतना मूल्य ले लिया कर।" तबसे वह अहीरिन हमेशा उसे दूध–दही बेचा करती थी। स्त्रियां एक बार सम्पर्क से अपनत्व का बीज बो देती हैं। साधुदासी और अहीरिन के एक बार सम्पर्क से दोनों में मित्रता हो गयी। निरन्तर सम्पर्क से अग्रजा–अनुजा जैसा प्रेम स्थापित हो गया।

एक बार उस अहीरिन के घर विवाह का प्रसंग उपस्थित हुआ तब उसने सेठ जिनदास और सेठानी को विवाह में आने का निमन्त्रण दिया। लेकिन सेठानी ने कहा, "हम वणिक लोग तुम्हारे विवाह–प्रसंग पर तो उपस्थित नहीं हो सकते क्योंकि अहीर जाति के यहां पर हम खाना खाने नहीं जाते लेकिन तुम्हारे विवाह में काम आने योग्य सारी वस्तुएं, वस्त्र, अलंकार, धान्य आदि मैं दे देती हूं जिससे तुम्हारा कार्य ठीक हो जायेगा। यह कहकर उस सेठानी ने विवाहयोग्य सारा सामान दिया। वह ग्वालिन उस सामान को पाकर बहुत प्रसन्न होती है और विवाहकार्य अच्छी तरह सम्पन्न हो जाता है। सारे ग्वाले उसकी भूरि–भूरि प्रशंसा करते हैं। तब वह अहीरिन और उसका पति सोचता है कि सेठ–सेठानी को हमारी ओर से कुछ पुरस्कार देना चाहिए। लेकिन क्या दें? हमारे पास ज्यादा कुछ नहीं है। बस, तीन वर्ष के कम्बल और सम्बल नामक दो बछड़े हैं। वे श्वेतवर्ण वाले बड़े ही सुन्दर हैं, उन्हीं को देना चाहिए। यही विचार कर वे दोनों कम्बल और सम्बल को लेकर सेठ के घर जाते हैं और उनसे कहते हैं, "ये दो खूबसूरत बछड़े आपके लिए हम लाये हैं।" सेठ–सेठानी दोनों ने मना कर दिया लेकिन वे अहीर–अहीरिन नहीं माने और जबरदस्ती उनके यहां बांध ।कर चल दिये।

जिनदास श्रेष्ठि धर्मसंकट में पड़ गया कि क्या करूं? यदि इन बछड़ों को खुला छोड़ता हूं तो कोई इनको अपने हल में जोतकर बहुत दुःखी कर सकता है और यदि इन्हें पालन करूं तो मेरे बिना इनकी

देखरेख कौन करेगा? इसलिए अच्छा यही है कि इनकी देखरेख मैं ही करूं। इस प्रकार नन्हे–मुन्ने वृषभों पर अनुकम्पा करके वह जिनदास प्रासुक घास और पानी से उनका पालन–पोषण करने लगा। जब अष्टमी, चतुर्दशी आती तो सेठ तो उपवास करके पौषध व्रत लेता और ये बैल भी धर्म की वाणी सुनें, एतदर्थ पौषध में उन धार्मिक पुस्तकों का वाचन करता था। इस प्रकार धर्म श्रवण करते–करते उन बैलों के शुभ परिणाम उत्पन्न हो गये। अब तो वे इतने धार्मिक हो गये कि जिस दिन सेठ उपवास करता, उस दिन वे बछडे भी उपवास करते। उनके मुख के सामने घास पडी रहती तो भी उसे ग्रहण नहीं करते। तब सेठ ने सोचा, अहो! ये बछडे भी त्यागी बन गये हैं। इतने दिन तक तो मैं उन पर दया करके उनका पालन करता था लेकिन अब ये मेरे स्वधर्मी बन गये हैं अतः इनका पूर्णतया ध्यान रखना है। यह चिन्तन कर वह सेठ प्रतिदिन उनका विशेष बहुमान करने लगा। सेठ के यहां वे बछडे निरन्तर पोषित होने लगे।

गिर रहे हैं। श्वास बहुत तेज आ रहा है। चमड़ी में से खून निकल रहा है। इन प्राणप्रिय बछड़ों की ऐसी दशा! कौन ले गया इन्हें? सेठ बड़ा व्याकुल हो गया। इधर–उधर पूछने लगा। तब सेठ के परिचित व्यक्ति ने बतलाया कि इन्हें तुम्हारा मित्र उत्सव में ले गया था। इन्हें वहां बहुत दौड़ाया, जिस कारण इनकी ऐसी दशा बनी। सेठ यह बात श्रवण कर बड़ा खेदित हुआ। मन ग्लानि से भर गया कि देखो, अपने मनोरंजन के लिए कितना कष्ट इनको दिया। बाहर में भ्रमित व्यक्ति दूसरों के दुःख को नहीं जान सकता। कैसी निर्दयता कि पुनः इनकी सम्हाल भी नहीं ली।

सेठ करुण दृष्टि से उन बछड़ों को देख रहा था। उनके सामने वे पूले रखे, पर खाना तो दूर, वे उन पूलों को देखना भी पसन्द नहीं कर रहे थे। तब सेठ पौष्टिक अन्न से परिपूर्ण थाल लाता है और उन बछड़ों के सामने रखता है, पर उन्होंने उसकी ओर भी नहीं देखा। तब सेठ ने देखा कि अब इनको आहार–पानी इष्ट नहीं है। इन्हें मारणान्तिक कष्ट हो रहा है। ऐसे समय में इनकों चारों आहार का त्याग करना उचित है। अतः सेठ ने उनको चौविहार संथारा पचक्खा दिया और सब कार्य छोड़कर उनको नमस्कार महामंत्र सुनाने लगा। नमस्कार महामंत्र के साथ–साथ भव स्थिति आदि का भी बोध कराया।

वे दो बछड़े इन सब बातों को सुनकर आत्मचिन्तन में लीन बने, समाधिमरण को प्राप्त कर कम्बल और सम्बल नामक देव बने[29]। इन दोनों देवों ने जब अवधिज्ञान से जाना कि प्रभु पर उपसर्ग आया है। सुदंष्ट्र देव प्रभु को पीड़ित कर रहा है तब ये दोनों तुरन्त वहां से आये। एक तो सुदंष्ट्र से युद्ध करता है और दूसरा अपने हाथ पर नाव उठाकर गंगा नदी के किनारे रख देता है। यद्यपि सुदंष्ट्र देव कम्बल और सम्बल देव की अपेक्षा अधिक ऋद्धि वाला था लेकिन उसकी आयु समाप्त होने वाली थी इसलिए उसकी ऋद्धि कम हो गयी और कम्बल, सम्बल ने उसको जीत लिया। वह सुदंष्ट्र हारकर वहां से भाग गया तब कम्बल और सम्बल प्रभु के पास आये। उन्होंने सुगन्धित सुमनों एवं गन्धोदक की वर्षा की। तदनन्तर हर्षपूर्वक प्रभु को नमस्कार करके वहां से चल दिये।

नौका किनारे लग चुकी थी। लोग अब भयरहित होकर नौका से उतर रहे थे और बोलते जा रहे थे कि "धन्य है इन महापुरुष को। इन महापुरुष के प्रभाव से आज हम बच गये। प्रभु भी नौका से उतरे। ईर्यापथिकी आलोचना की और थूणाक सन्निवेश की ओर चलने लगे"।

गंगा तट की उस आर्द्र–कोमल रेती पर पांव रखते हुए प्रभु के सुन्दराकार पैरों की आकृति हूबहू उतर गयी। एक सामुद्रिक लक्षणशास्त्र का ज्ञाता पुष्य नामक व्यक्ति उधर से निकला। उसने प्रभु के पांवों के निशान देखे। देखकर अचम्भित रह गया। ये निशान तो चक्रवर्ती सम्राट के पांव के हैं। तो क्या चक्रवर्ती यहां से अकेले नंगे पांव गये हैं? क्या उनके साथ कोई नहीं है? उनको राज्य ऋद्धि नहीं मिली अथवा किसी ने उनके साथ धोखा कर लिया? ऐसे महापुरुष की इस समय में मुझे सेवा करनी चाहिए ताकि प्रसन्न होकर वे मुझे कुछ देंगे"। ऐसा मन मे चिन्तन करता हुआ वह पुष्य नैमित्तिक वहां से प्रभु के कदम–चिह्नों के साथ–साथ चलता जाता है।

गिर रहे हैं। श्वास बहुत तेज आ रहा है। चमड़ी में से खून निकल रहा है। इन प्राणप्रिय बछड़ों की ऐसी दशा! कौन ले गया इन्हें? सेठ बड़ा व्याकुल हो गया। इधर–उधर पूछने लगा। तब सेठ के परिचित व्यक्ति ने बतलाया कि इन्हें तुम्हारा मित्र उत्सव में ले गया था। इन्हें वहां बहुत दौड़ाया, जिस कारण इनकी ऐसी दशा बनी। सेठ यह बात श्रवण कर बड़ा खेदित हुआ। मन ग्लानि से भर गया कि देखो, अपने मनोरंजन के लिए कितना कष्ट इनको दिया। बाहर में भ्रमित व्यक्ति दूसरों के दुःख को नहीं जान सकता। कैसी निर्दयता कि पुनः इनकी सम्हाल भी नहीं ली।

सेठ करुण दृष्टि से उन बछड़ों को देख रहा था। उनके सामने वे पूले रखे, पर खाना तो दूर, वे उन पूलों को देखना भी पसन्द नहीं कर रहे थे। तब सेठ पौष्टिक अन्न से परिपूर्ण थाल लाता है और उन बछड़ों के सामने रखता है, पर उन्होंने उसकी ओर भी नहीं देखा। तब सेठ ने देखा कि अब इनको आहार–पानी इष्ट नहीं है। इन्हें मारणान्तिक कष्ट हो रहा है। ऐसे समय में इनकों चारों आहार का त्याग करना उचित है। अतः सेठ ने उनको चौविहार संथारा पचक्खा दिया और सब कार्य छोड़कर उनको नमस्कार महामंत्र सुनाने लगा। नमस्कार महामंत्र के साथ–साथ भव स्थिति आदि का भी बोध कराया।

वे दो बछड़े इन सब बातों को सुनकर आत्मचिन्तन में लीन बने, समाधिमरण को प्राप्त कर कम्बल और सम्बल नामक देव बने[29]। इन दोनों देवों ने जब अवधिज्ञान से जाना कि प्रभु पर उपसर्ग आया है। सुदंष्ट्र देव प्रभु को पीड़ित कर रहा है तब ये दोनों तुरन्त वहां से आये। एक तो सुदंष्ट्र से युद्ध करता है और दूसरा अपने हाथ पर नाव उठाकर गंगा नदी के किनारे रख देता है। यद्यपि सुदंष्ट्र देव कम्बल और सम्बल देव की अपेक्षा अधिक ऋद्धि वाला था लेकिन उसकी आयु समाप्त होने वाली थी इसलिए उसकी ऋद्धि कम हो गयी और कम्बल, सम्बल ने उसको जीत लिया। वह सुदंष्ट्र हारकर वहां से भाग गया तब कम्बल और सम्बल प्रभु के पास आये। उन्होंने सुगन्धित सुमनों एवं गन्धोदक की वर्षा की। तदनन्तर हर्षपूर्वक प्रभु को नमस्कार करके वहां से चल दिये।

नौका किनारे लग चुकी थी। लोग अब भयरहित होकर नौका से उतर रहे थे और बोलते जा रहे थे कि "धन्य है इन महापुरुष को। इन महापुरुष के प्रभाव से आज हम बच गये। प्रभु भी नौका से उतरे। ईर्यापथिकी आलोचना की और थूणाक सन्निवेश की ओर चलने लगे[30]।

गंगा तट की उस आर्द्र–कोमल रेती पर पांव रखते हुए प्रभु के सुन्दराकार पैरों की आकृति हूबहू उतर गयी। एक सामुद्रिक लक्षणशास्त्र का ज्ञाता पुष्य नामक व्यक्ति उधर से निकला। उसने प्रभु के पांवों के निशान देखे। देखकर अचम्भित रह गया। ये निशान तो चक्रवर्ती सम्राट के पांव के हैं। तो क्या चक्रवर्ती यहां से अकेले नंगे पांव गये हैं? क्या उनके साथ कोई नहीं है? उनको राज्य ऋद्धि नहीं मिली अथवा किसी ने उनके साथ धोखा कर लिया? ऐसे महापुरुष की इस समय में मुझे सेवा करनी चाहिए ताकि प्रसन्न होकर वे मुझे कुछ देंगे[31]। ऐसा मन में चिन्तन करता हुआ वह पुष्य नैमित्तिक वहां से प्रभु के कदम–चिह्नों के साथ–साथ चलता जाता है।

चलते–चलते स्थूणा नामक गांव के पास अशोकवृक्ष तक पहुंच जाता है। वहां वे चरणचिह्न समाप्त होते हैं और देखता है कि एक भिक्षु वहां खड़ा है जिसके सिर पर मुकुट का चिह्न है। वक्ष पर श्रीवत्स का लांछन है। भुजा पर चक्रादि के चिह्न हैं। हाथ शेष नाग जैसे लम्बे हैं। नाभि दक्षिणावर्ती और विस्तीर्ण है। ऐसे लक्षणों को दृष्टिगत कर सोचता है, इसके शरीर पर भी चक्रवर्ती के लक्षण हैं, परन्तु यह चक्रवर्ती नहीं है। तब मेरा समस्त परिश्रम व्यर्थ चला गया। यह सामुद्रिक शास्त्र प्रामाणिक नहीं है। किसी अनाप्त पुरुष द्वारा बनाया गया है। जैसे मृग मरुभूमि में जल के लिए दौड़ता है लेकिन जल नहीं मिलता वैसे ही इस शास्त्रानुसार मैं यहां दौड़ा आया परन्तु कोई सार नहीं निकला। ऐसे शास्त्रों को धिक्कार है। ऐसा चिन्तन करता हुआ वह पुष्य बड़ा खेदित हो रहा था।

इधर शक्रेन्द्र देवलोक में बैठे थे। वह देख रहे थे कि इस समय चरम तीर्थंकर भगवान् कहां हैं? वे अपने अवधिज्ञान से देखते हैं तो प्रभु और उनके पास खड़े पुष्य की सारी बात जान लेते हैं। तुरन्त वहां से, जहां भगवान महावीर थे, वहां आते हैं। प्रभु को वन्दन करते

हैं और पुष्य से कहते हैं, "अरे मूर्ख! तूं क्यों शास्त्रों की निंदा करता है। शास्त्र में असत्य कुछ भी नहीं लिखा है। तूं प्रभु के बाह्य लक्षणों को देख रहा है, अन्तर को नहीं। इनके श्वास में कमल जैसी सुगन्ध आ रही है। इनका रुधिर मधुर और उज्ज्वल है। इनका शरीर मैल तथा पसीने से रहित है। ये धर्मतीर्थ के चक्रवर्ती, तिरण–तारण की जहाज, विश्व को अभयदान देने वाले हैं। ये राजा सिद्धार्थ के पुत्र राज्य–ऋद्धि को छोड़कर अणगार बने हैं। हम चौसठ इन्द्र इनकी सेवा में तत्पर रहते हैं। इनके दर्शन निष्फल नहीं जाते। अतः मैं तुम्हें इच्छित फल देता हूं।" यों कहकर इन्द्र ने उसको मनोवांछित पुरस्कार दिया। वह पुष्य नैमित्तिक अपने को धन्य मानता हुआ वहां से चला गया[32] और शक्रेन्द्र भी प्रभु को वन्दन करके लौट गये।

महाप्रभु महावीर कायोत्सर्ग पूर्ण होने पर कायोत्सर्ग पार कर वहां से विहार कर गये। विहार करते हुए अनुक्रम से राजगृह नगर पधारे। वहां नगर के बाहर नालन्दा नामक भूमिभाग था। उसमें किसी बुनकर की तन्तुशाला थी। प्रभु उस तन्तुशाला में पधारे और वहीं पर वर्षावास करने का निश्चय किया।

द्वितीय चातुर्मास : नालन्दी पाड़ा में :– बुंनकर की तन्तुशाला में प्रभु चातुर्मासार्थ पधार गये हैं। शाला के एक भाग में प्रभु मासक्षपण की तपस्या का प्रत्याख्यान करके खड़े हैं। कायोत्सर्ग में लीन आत्मसाधना का अनूठा उपक्रम चल रहा है। उस समय में मंखलि नामक कोई मंख (चित्रपट) दिखाकर आजीविका करने वाला था। वह अपनी भद्रा भार्या को साथ लेकर ही आजीविका करता था। एकदा वे दोनों सरवण नामक गांव में आये। वहां भद्रा को प्रसव पीड़ा हुई जिससे वे दोनों बहुत गायों वाली गोशाला में चले गये। वहीं पर भद्रा ने एक पुत्र को जन्म दिया। गोशाला में पैदा होने से उस पुत्र का नाम गोशालक रखा गया। वह गोशालक धीरे–धीरे बड़ा हुआ। वह भी अपने पिता की तरह आजीविका चलाने लगा। वह गोशालक गांव–गांव में चित्रपट लेकर घूमता और आजीविका चलाता था। उसका स्वभाव प्रारम्भ से ही कलह करने का था। वह माता–पिता से झगड़ा करके चित्रपट लेकर घर से निकल गया। घूमता–घामता राजगृह में नालन्दीपाड़ा में आया जहां

भगवान् महावीर द्वितीय चातुर्मासार्थ विराजमान थे।

वह गोशालक भी जहां बुनकर की तन्तुशाला थी, जहां प्रभु विराजमान थे, वहां आया और एक कोने में वहीं रहने लगा।

इधर प्रभु को एक माह व्यतीत हो गया। कायोत्सर्ग करते हुए लगातार एक महीने से भगवान् ध्यानस्थ बने थे। न आहार ग्रहण किया, न पानी। अब आवश्यकता महसूस हुई आहार की। प्रभु ने कायोत्सर्ग पाला और मासक्षपण के पारणे हेतु पधारे। नालन्दीपाड़ा में आहार हेतु भ्रमण करते हुए प्रभु विजय सेठ के घर पर पधारे। सेठ प्रभु को देखकर बड़ा हर्षित होता है। भक्तिपूर्वक प्रभु को प्रासुक आहार–पानी से प्रतिलाभित करता है। आकाश में अहोदानं–अहोदानं की ध्वनि होती है। पांच दिव्यों की देव वर्षा करते हैं। भगवान पारणा करके पुनः तन्तुशाला में पधार जाते हैं।

गोशालक भगवान की इस प्रकार की महिमा को देखता है। सोचता है कि यह मुनि सामान्य मुनि नहीं। इसको जिस सेठ ने आहारादि दिया उसके यहां पर इतनी ऋद्धि हो गयी तब इनके साथ रहने पर तो मुझे कितना लाभ होगा! इसलिए मुझे भी चित्रपट से आजीविका छोड़कर इनका शिष्य बन जाना चाहिए। यह चिन्तन कर गोशालक भगवान् के पास आया और कहने लगा– महात्मन्! इतने दिनों तक मैं आपके अतिशय को जान नहीं पाया, अब मैं आपका शिष्य बनना चाहता हूं[33]। प्रभु मौन बने रहे और गोशालक ने मौन को स्वीकृति मानकर प्रभु का शिष्यत्व अंगीकार कर लिया। वह चित्रपट की आजीविका छोड़कर गोचरी करने लगा। प्रभु के दूसरे मासक्षपण का समय आ गया। भगवान ने दूसरा पारणा आनन्द नामक गृहस्थ के यहां पर किया। पारणा करके प्रभु पुनः कायोत्सर्ग में विराजमान हो गये और गोशालक अहर्निश प्रभु के पास रहने लगा।

तीसरा माह भी व्यतीत हुआ। प्रभु ने तृतीय मासक्षपण का पारणा सुनन्द नामक गृहस्थ के यहां पर सर्वकामगुण नामक आहार से किया। गोशालक भी भिक्षान्न से उदर–पोषण कर प्रभु की सेवा में रहने लगा।

वर्षावास अपनी पूर्ण समाप्ति पर आ गया। सुख–समाधिपूर्वक

पत्तं सिरसाणं भविस्सति?

आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 277

(क) आव. मलयगिरी; पृ. 272

8. (क) तत्थ दो पंथा – उज्जुगो वंकोय, जो सो उज्जुगो सो कणकखलमज्झेणं वच्चइ, वंको परिहरंतो सामी उज्जुगेण पहावितो।

आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 273

(ख) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 277–78

(ग)त्रिषष्टि शलाका पु. चा.; पुस्तक 7; पर्व 10; पृ. 43

9. कनखल का अपर नाम कनकखल है।
द्रष्टव्य आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 273

10. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 278
(ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 273
(ग) आवश्यक हरि; पृ. 195
(घ) महावीर चरियं; नेमिचन्द
(ङ) महावीर चरियं (गुण.); 5/159
(च) चउप्पन्न महापुरुष चरियं

11. त्रिषष्टि शलाका पु. चा.; पुस्तक 7; पर्व 10; पृ. [illegible]

12. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 278
(ख) त्रिषष्टि शलाका पु. चा.; पुस्तक 7; [illegible]

13. ततो चुतो कणगखले पंचण्हं तावससयाणं [illegible] आयातो, दारओ जातो, तत्थ से [illegible] समावेण अतीव चंडकोवो, तत्थ य [illegible] चंडकोसिओत्ति णामं कतं।
आवश्यक चूर्णि; जिनदास; [illegible]
आवश्यक वृत्ति, मलयगिरि; [illegible]

14. (क) आवश्यक चूर्णि; [illegible]
(ख) आवश्यक वृत्ति; [illegible]

15. त्रिषष्टि शलाका [illegible]
"कुकर्म विपाक [illegible]
आ वनमां [illegible]
पण [illegible]

16. थोडी [illegible]

जिह्वा ने बाहर काढतो अभिमान युक्त थईने फरवा निकल्यो
त्रिषष्टि शलाका पु. चा.; पुस्तक 7; पर्व 10; पृ. 45
देवेन्द्र मुनि की मान्यता है कि सर्प बांबी में था और वहां से निकला।
द्रष्टव्य– श्री देवेन्द्र मुनि, भगवान् महावीर एक अनुशीलन, प्रका. श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, प्रथम संस्करण, 1974 पृ. 310

17. (क) आव. चूर्णि; जिनदास; पृ. 278
(ख) आव. मलयगिरि; पृ. 273
(ग) आव. हरिभद्रीय; पृ. 196
(घ) महावीरचरियं; नेमिचन्द्र; 981

18. ताहे पलोएंतो अच्छति अमरिसेणं, तस्स तं रूवं पलोएं तस्स ताणि विसभरिताणि अच्छीणि विज्झाताणि, सामिणो कंतिं सोम्मतं च दट्ठूणं।
आव. चूर्णि; जिनदास; पृ. 279

19. (क) आव. चूर्णि; जिनदास; पृ. 278
(ख) महावीरचरियं; नेमिचन्द्र; 984

20. (क) आव. चूर्णि; जिनदास; पृ. 278
(ख) विशेषावश्यक भाष्य; 1902
(ग) महावीरचरियं; नेमिचन्द्र; 989

21. (क) ताहे तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिणं करेंतो मणसा भत्तं पच्चक्खाइ, तित्थगरो जाणइ ताहे सो विले तुंडं छोढूण ठितो
आव. मलयगिरि; पृ. 273
(ख) विष भयंकर ऐवी मारी दृष्टि कोईना ऊपर पण न पड़ो।'
ऐम धारी ने पोताना मस्तक ने राफडामां राखी।
त्रिपष्टि शलाका पु. चा.; पुस्तक 7; पर्व 10; पृ. 45

22. माऽहं रुट्ठो समाणो लोगं मारेहं, सामी तत्थ अणुकंपणट्ठाए अच्छति।
आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 279

23. तं सामीं दट्ठूण गोवालगवच्छवालगा अल्लियंति, रुक्खेहिं आवरेत्ता अप्पाणं पाहाणे खिवंति ण चलंति त्ति अल्लीणा, रुद्धेहिं घट्टितो तहवि ण फं दति, तेहिं लोगस्स सिट्ठं, ताहे लोगो आगंतुं सामिं वंदित्ता तंपि सप्पं वंदति महं च करेति।
आवश्यक चूर्णि, जिनदास; पृ. 279

24. त्रिपष्टि शलाका पु. चा.; पुस्तक 7; पर्व 10; पृ. 46

25. (क) आव. चूर्णि; जिनदास; पृ. 279
(ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 274
26. त्रिषष्टि शलाका पु. चा.; पुस्तक 7; पर्व 10; पृ. 46
27. बिहार में मोतीहारी से 35 मील पर है सीतामढ़ी। उन्हीं दिनों इसका नाम श्वेताम्बी अथवा श्वेताम्बिका था।
द्रष्टव्य– वर्द्धमान महावीर; लेखक श्री कृष्णदत्त भट्ट; प्रका. सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा; प्र. सं. 1975; पृ. 30
28. (क) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 274–75
(ख) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 280–81
(ग) विशेषावश्यक भाष्य; गाथा 1904, 1905, 1906
(घ) महावीर चरियं; गुणचन्द्र; 178
(ङ) निशीथ भाष्य; गाथा 4218; पृ. 366; तृतीय भाग
29. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 280–81
(ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 274–75
(ग) त्रिषष्टि शलाका पु. चा.; पुस्तक 7; पर्व 10; पृ. 48–50
30. पेच्छंति तित्थगरस्स उवसग्गं कीरमाणं, ताहे णेहिं चिंतियं अलाहि ता अन्नेण, सामिं मोएमो, आगया, एगेण नावा गहिया, एगो सुदाढेण समं जुज्झइ, सो महिड्ढिगो, तस्स पुण चवणकालो, इमे पुण अहुणोववन्नाया, सो तेहिं पराइतो, ताहे ते नागकुमारा तित्थयरस्स महिमं करेंति, सत्तं रूवं च गायंति, एवलोगोऽवि। ततो सामी उत्तिन्नो, तत्थ देवेहिं सुरहिगं धोदगवासं पुप्फवासं च वुट्ठं, तेऽवि पडिगया। आवश्यक, मलयगिरि; पृ. 275
31. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 282
(ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 275
(ग) विशेषावश्यक भाष्य; गा. 1907
32. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 282
(ख) भो पूस! किं विसन्नो अमुणन्तो लक्खणाण परमत्थं।
ऐसो तिहुयण–महिओ, अट्ठुत्तरलक्खणसहस्सो।
महावीर चरियं (नेमिचन्द्र), 1030
33. (क) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि, पृ. 275
(ख) आवश्यक चूर्णि; पृ. 282
(ग) महावीर चरियं (नेमिचन्द्र), 1036

(घ) महावीर चरियं (गुणचन्द्र); 6/183

34. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 282

(ख) आवंश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 276

(ग) आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति; पृ. 199

(ग) महावीर चरियं (नेमिचन्द्र); 1049

(घ) महावीर चरियं (गुणचन्द्र); 6/186

साधनाकाल का तृतीय वर्ष – त्रयोदश अध्याय

भगवान नालन्दीपाड़ा से कोल्लाक सन्निवेश पधार गये हैं। चतुर्थ मासक्षपण भी पूर्ण हो गया है। पारणे हेतु प्रभु भिक्षार्थ पधारे। उसी गांव में बहुल नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह दूसरे ब्राह्मणों का आदर करने के लिए उनको अपने घर भोजन करवाता था। प्रभु भिक्षा के लिए उस बहुल ब्राह्मण के यहां पधारे। उसने भक्तिभावपूर्वक घी–शक्कर सहित खीर प्रभु को बहराई। तब देवताओं ने अहोदान–अहोदान की ध्वनि गुंजायमान की और पांच दिव्यों की वर्षा की। प्रभु पारणा करके एक स्थान पर जाकर कायोत्सर्ग करने लगे[1]।

इधर गोशालक सायंकाल आया और लज्जा से चुपचाप आकर बैठ गया फिर देखा कि भगवान वहां नहीं हैं तब लोगों से पूछा कि प्रभु कहां गये? लेकिन किसी को पता नहीं था कि प्रभु कहां पधारे? अतः कोई भी भगवान के विहार की बात नहीं बता पाया। तब वह दीन बनकर खुद ही प्रभु को खोजने निकला। दिनभर भगवान को खोजा लेकिन कहीं पर भी उसे भगवान नहीं मिले। तब सोचा कि मैं फिर एकाकी रह गया हूं। ऐसा चिन्तन कर वहां से निकला। घूमता हुआ कोल्लाक ग्राम में आ गया[2]। वहां कोल्लाक ग्राम में लोगों के मुंह पर चर्चा थी कि बहुल ब्राह्मण धन्य है। उसने एक मुनि को दान दिया तो देवताओं ने उसके घर पांच दिव्यों की वर्षा की। गोशालक ने लोगों से यह वार्ता सुनी तो उसे यह बात समझते देर नहीं लगी कि यह दिव्य प्रभाव मेरे गुरु का है। वह आश्वस्त हो गया कि हो न हो गुरु यहीं पर हैं। उन्हें ढूंढना चाहिए। तब वह कोल्लाक सन्निवेश में प्रभु को ढूंढने लगा। पैनी दृष्टि से खोजने पर एक स्थानक में कायोत्सर्ग करते हुए प्रभु को देखा। प्रभु को देखते ही गोशालक उनके पास गया और प्रणाम करके निवेदन किया कि भगवन्! पहले मैं दीक्षा के योग्य नहीं था लेकिन अब स्त्री आदि सब से रहित होने के कारण दीक्षा देने योग्य हूं। आप मुझे शिष्य रूप में स्वीकारें। आपका अपूर्व वात्सल्य मुझे आकर्षित कर रहा है। आपके बिना मैं एक क्षण भी नहीं रह सकता। इसलिए मैं आज से आपका शिष्य हूं। प्रभु ने उसको शिष्य रूप में स्वीकार किया[3]।

तत्पश्चात् वह गोशालक प्रभु के समीप ही रहने लगा। भगवान गोशालक को साथ लेकर स्वर्णखल की तरफ विहार करते हैं। मार्ग में चलते हुए एक स्थान पर देखा कि ग्वाले खीर पका रहे थे। उन्हें देखकर गोशालक ने प्रभु से कहा कि मुझे बहुत भूख लगी है, यह जो खीर बन रही है इसे खाकर चलेंगे। तब सिद्धार्थ देव ने कहा– वह खीर तुम्हें मिलने वाली नहीं, यह खीर बनने से पहले हंडिया फूट जायेगी और खीर मिट्टी में मिल जायेगी। तब गोशालक ने भगवान के वचनों को मिथ्या सिद्ध करने के लिए प्रभु से कहा कि आप पधार जाओ, मैं तो यहीं रुका हूं। मैं खीर खाकर ही आऊँगा। भगवान विहार करके पधार गये।

गोशालक उन ग्वालों के पास गया और उनसे बोला कि मेरे गुरु ने कहा है कि खीर पकने से पहले तुम्हारी हंडिया फूट जायेगी। तब उन ग्वालों ने उस हंडिया को बांसों से बांध दिया। लेकिन उस हंडिया में चावल अधिक डाले हुए थे। अतः चावल फूलने से थोड़ी देर बाद वह हंडिया फूट गयी[4]। थोड़ी खीर, जो हंडिया में थी, उसे ग्वाले खा गये। गोशालक को कुछ भी नहीं मिला। तब उसने सोचा, जैसा होना होता है वही होता है। अतः नियतिवाद ही वास्तविक है।

गोशालक बिना खीर खाये जिधर प्रभु ने विहार किया उधर ही विहार करने लगा। भगवान विहार करके ब्राह्मणग्राम पहुंच चुके थे। उस गांव में मुख्य दो पाड़े थे। उन दोनों पाड़ों के मालिक दो भाई थे नन्द और उपनन्द। प्रभु के बेले के तप का पारणा था। पारणे के लिए प्रभु नन्द के पाड़े में गोचरी पधारे। उसने दही सहित क्रूर (करबा) बहराया। प्रभु ने पारणा किया। इधर गोशालक भी ब्राह्मणगांव में आया। क्षुधा तो लग ही रही थी। उसने देखा कि नन्द के पाड़े से उपनन्द का पाड़ा बड़ा है इसलिए वहां पर आदर सहित भिक्षा मिलेगी अतः मुझे वहीं जाना चाहिए। यह सोचकर वह उपनन्द के पाड़े में चला गया। उसे आया देखकर उपनन्द ने अपनी दासी से कहा कि इस संन्यासी को बासी चावल दे दो। तब दासी गोशालक को बासी भात देने के लिए उद्यत हुई। गोशालक को बासी भात रुचिकर नहीं थे अतः अरुचिकर होने से गोशालक उपनन्द का वचनों द्वारा तिरस्कार करने लगा। तब उपनन्द ने दासी से कहा– यदि यह अन्न नहीं लेता है तो

तुम ये बासी भात इसके सिर पर डाल दो। तब दासी ने वैसा ही किया जिससे गोशालक भयंकर क्रोधायमान हुआ। उस क्रोध में आगबबूला होकर बोला कि यदि मेरे गुरु का तप हो तो ये उपनन्द का घर जलकर राख हो जाये। प्रभु के नाम से दिया गया शाप कभी निष्फल नहीं होता ऐसा, चिन्तन कर समीपवर्ती व्यन्तर देवों ने उपनन्द का घर घास के पुंज की तरह जलाकर राख कर दिया। प्रभु ब्राह्मणकुण्ड से विहार कर चम्पानगरी पधारे। वहां चातुर्मासार्थ विराजे। दो मासक्षपण करने की प्रतिज्ञा ग्रहण कर कायोत्सर्ग करके ध्यानस्थ बन गये।

प्रभु आत्मचिन्तन में लीन उत्कटिक आसनादि से कायोत्सर्ग करते हुए शरीर से पूर्णतया निस्संग रहने लगे। अन्य कोई देव, मनुष्य, तिर्यंच के उपसर्गरहित यह चातुर्मास सानन्द सम्पन्न हुआ और दूसरे मासक्षपण का पारणा अर्थात् साठ दिन का पारणा कर गोशालक सहित कालाय नामक ग्राम में पधारे[5]।

संदर्भ: साधनाकाल का तृतीय वर्ष, अध्याय 13

1. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 283
   (ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 276
2. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 283
   (ख) आवश्यक मलयगिरि; पृ. 276
   (ग) विशेषावश्यक भाष्य; गा. 1909
3. त्रिषष्टि श्लाका पु. चा.; पुस्तक 7; पर्व 10; पृ. 54
   तेना आवा वचन सांभली जे के प्रभु वीतराग हता तोपण तेना भवने जाणी ने तेनी भव्यता ने माटे प्रभु ए तेनुं वचन स्वीकार्यु महापुरुषो कयां वत्सल नथी थता?
4. (क) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 276–77
   (ख) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 283
   (ग) विशेषावश्यक भाष्य; गा. 1909
   (घ) महावीर चरियं (नेमिचन्द्र); 1055–59
5. (क) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 277
   (ख) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ.
   (ग)त्रिषष्टि श्लाका पु. चा.; पुस्तक 7; पर्व 10, पृ. 55। यहां पर कालाय के स्थान पर कोल्लाक सन्निवेश लिखा है।

साधनाकाल का चतुर्थ वर्ष – चतुर्दश अध्याय

साधना के चतुर्थ वर्ष में प्रभु ने कालाय सन्निवेश में पधार कर एक रात्रि की प्रतिमा धारण की। तब गोशालक बन्दर की तरह चंचलता करता हुआ द्वार के आगे बैठा रहा।

कालाय ग्राम के स्वामी का सिंह नामक एक पुत्र था। वह यौवनोन्माद में ग्रस्त रतिप्रिय बन चुका था। जिस दिन भगवान महावीर उस खण्डहर में ध्यानस्थ खड़े थे उसी रात्रि में वह सिंहकुमार अपनी विद्युन्मति दासी के साथ रतिक्रीड़ा के निमित्त वहां बैठा हुआ था। वह रात्रि होने पर उच्च स्वर से बोला कि इस शून्यगृह में कोई साधु, ब्राह्मण अथवा मुसाफिर है तो बोलो ताकि हम अन्य स्थान पर चले जायें। प्रभु तो कायोत्सर्ग में स्थित थे, कुछ बोले नहीं। गोशालक भी मौन बना रहा। तब सिंहकुमार दासी के साथ क्रीड़ा करने लगा। तदनन्तर वह जब दासी के साथ बाहर निकलने लगा तो दुर्मति गोशालक, जो द्वार के पास बैठा था, उसने अपने हाथ से दासी के हाथ का संस्पर्श किया[1]। तब उस दासी ने सिंहकुमार से कहा– स्वामिन्! किसी पुरुष ने मेरा स्पर्श किया है। तब सिंहकुमार ने गोशालक से कहा– धूर्त! तूने छिपकर हमारा अनाचार देखा है। जब वह गोशालक कुछ भी नहीं बोला तो सिंहकुमार ने उसको बहुत पीटा और फिर वहां से चला गया। उसके जाने के बाद गोशालक ने प्रभु से कहा– भगवन्! आपकी सन्निधि में भी मुझे मार खानी पड़ी। तब सिद्धार्थ ने कहा कि तू हमारे जैसा आचरण क्यों नहीं करता। दरवाजे पर बैठकर चंचलता करता है तो फिर मार क्यों नहीं पड़ेगी? गोशालक ने यह सुनकर चुप्पी साध ली। शेष रात्रि शांतिपूर्वक व्यतीत हुई। प्रभात होने पर प्रभु ने वहां से विहार किया और विहार करके पत्रकाल पधार गये[2]। वहां भी शून्य गृह में एक रात्रि की प्रतिमा धारण कर कायोत्सर्ग में तल्लीन बन गये। इस बार गोशालक ने सोचा, दरवाजे पर नहीं बैठूंगा। क्योंकि वहां बैठने से फिर कोई मेरी पिटाई कर सकता हैं। इसलिए एक कोने में जाकर बैठ जाऊँ। यों सोचकर वह एक कोने में बैठ गया। रात्रि में उस ग्राम स्वामी का पुत्र स्कन्द भी दंतिला दासी के साथ रतिक्रीड़ा करने

के लिए वहां शून्यगृह में आया। उसने भी पूछा कि इस शून्यगृह में कोई ब्राह्मण, मुसाफिर या साधु तो नहीं है, यदि है तो हम अन्यत्र जा सकते हैं। जब कोई प्रत्युत्तर नहीं आया तब वह कुमार रतिक्रीड़ा में समासक्त हो गया। जब क्रीड़ा कर वहां से लौटने लगा तो गोशालक जोर–जोर से हंसने लगा तब स्कन्द पुनः आया और बोला कि यह हमारी गुप्त क्रीड़ा देखकर पिशाच की तरह कौन हंस रहा है? क्रोध से आवेष्टित स्कन्द ने आखिरकार गोशालक को पकड़ लिया और उसे बहुत पीटा। पीटकर स्कन्द तो चला गया तब गोशालक बोला– भगवान् आपके समाने मुझ निर्दोष को पीटा और आपने मेरी रक्षा नहीं की? तब सिद्धार्थ बोले– तूं अपनी ही भाषा पर नियन्त्रण नहीं होने से पीटा जाता है। गोशालक शांत हुआ। रात्रि व्यतीत हुई। प्रातःकाल प्रभु विहार करके कुमार सन्निवेश पधारे।

कुमार सन्निवेश में चम्पक रमणीय उद्यान में प्रतिमा धारणकर प्रभु विराजमान हुए[3]। उसी गांव में धन–धान्य की समृद्धि वाला एक कुपनय नामक कुम्हार रहता था। उसकी मदिरापान में बड़ी आसक्ति थी। उस समय उस कुम्हार की शाला में पार्श्वनाथ भगवान् की परम्परा के मुनि चन्द्र आचार्य, जो कि बहुश्रुत थे, वे अपने शिष्य वर्ग सहित पधारे। उन्होंने उत्कृष्ट संयम पालन की इच्छा से अपने शिष्य वर्धनसूरि को गच्छ का भार सौंपकर जिनकल्प की उत्कृष्ट साधना स्वीकार की। वे तप, सत्त्व, श्रुत, एकत्व और बल– ये पांच प्रकार की तुलना करने के लिए समाधिपूर्वक स्थित थे।

उधर गोशालक क्षुधा से व्याकुल हो गया। मध्याह्न के समय उसने प्रभु से कहा– भगवन्! भिक्षा लेने चलिए, मुझे भूख लग रही है। तब सिद्धार्थ ने कहा कि आज तो उपवास है। यह श्रवण कर भूख से व्याकुल गोशालक भिक्षा के लिए निकला। रास्ते में उसे रंग–बिरंगे वस्त्र धारण करने वाले, पात्रादि रखने वाले भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य मिले। तब कौतुहल से गोशालक ने पूछा– आप कौन? उन्होंने कहा हम पार्श्वनाथ भगवान् के शिष्य हैं। तब गौशालक ने कहा– तुम मिथ्या भाषण करते हो। तुम्हें धिक्कार है। तुम वस्त्रादिक ग्रंथि को धारण करते हो तो निर्ग्रन्थ कैसे हो सकते हो? केवल आजीविका के लिए ही

यह ढोंग रचा है। वस्तुतः निर्ग्रन्थ तो वस्त्ररहित और शरीर की आसक्तिरहित मेरे धर्माचार्य हैं[4]। तब भगवान को नहीं जानने से, गोशालक के इन वचनों को सुनकर वे पार्श्वनाथ भगवान के शिष्य बोले कि "जैसा तूं है वैसे ही तेरे धर्माचार्य भी स्वयं ग्रहीतलिंग होंगे।" तब गोशालक का पारा सातवें आसमान पर चढ गया और क्रोध में आगबबूला होकर कहने लगा– मेरे धर्माचार्य के प्रभाव से तुम्हारा उपाश्रय भस्मीभूत हो जाये लेकिन उपाश्रय जला नहीं। वह बार–बार यही उच्चारण करने लगा लेकिन जब बहुत बार कहने पर भी उपाश्रय नहीं जला तब उन साधुओं ने कहा कि तुम चाहे कितना ही श्राप दे दो, तुम्हारे श्राप से हमारा कुछ भी बिगड़ने वाला नहीं है। तब गोशालक खिन्न होकर भगवान के समीप आया और निवेदन किया– प्रभो! आज आपकी निन्दा करने वाले तपस्वी साधुओं को मैंने देखा। आपकी निन्दा करने पर मैंने उनको श्राप भी दिया कि यदि मेरे धर्माचार्य गुरु के तप–तेज का प्रभाव हो तो उपाश्रय जलकर राख हो जाये, लेकिन उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और न ही उपाश्रय जलकर राख हुआ। तब उसका क्या कारण है? तब सिद्धार्थ प्रभु के शरीर में प्रविष्ट होकर बोला कि वे प्रभु पार्श्वनाथ के शिष्य थे तब उपाश्रय जलकर राख कैसे होता? तब गोशालक मौन हो गया।

संध्या अपनी लालिमा बिखेरते हुए अपनी आभा से भूमण्डल को अलंकृत कर रही थी। पक्षीगण अपने–अपने घोंसलों की ओर लौट रहे थे। सूर्य अस्ताचल की ओर जाता हुआ अपनी किरणों को समेट रहा था। सभी अपने–अपने गन्तव्यों की ओर प्रस्थान कर रहे थे। उस समय प्रभु अपने कायोत्सर्ग में लीन थे। धीरे–धीरे यामिनी ने पदाधान किया। चहुं ओर कोलाहल शांत हो गया। उस बाह्य शांति में प्रभु आत्मशांति में तल्लीन थे। आनन्द की तरंगों में तरंगायित स्वयं से स्वयं को पाने के लिए कटिबद्ध थे।

ऐसे सौम्य वातावरण में जिनकल्पी कठोर साधना करने वाले मुनिचन्द्र मुनि पार्श्वापत्य साधुओं के उपाश्रय के बाहर दूसरी भावना भाते हुए प्रतिमा धारण करके स्थित थे[5]। उस समय कुपनय कुम्हार मदिरापान से उन्मत्त बनकर अपनी कुम्हारशाला के बाहर आया।

ध्यानस्थ मुनि को देखकर उन्मत्त बना हुआ सोचता है यह कोई चोर है। अतः मुनि के पास जाकर उनका गला रेत दिया। उस भीषण वेदना को मुनि समभावपूर्वक सहन करने लगे और उन्हें तत्काल अवधिज्ञान पैदा हो गया। वे मृत्यु को प्राप्त कर देवलोक गये। उस स्थान के समीपवर्ती व्यन्तर देवों ने उनके ऊपर पुष्पवृष्टि की।

इधर आकाश में देवों की श्रेणी का दिव्य प्रकाश देखकर गोशालक भगवान के पास आया और पूछा भगवन्! आकाश में अत्यन्त प्रकाश हो रहा है तो मुझे ऐसा अनुमान लगता है कि आपके शत्रुओं का उपाश्रय जलकर राख हो गया है। सिद्धार्थ ने कहा– अरे मूर्ख, यह ऐसा नहीं है। जिनकल्प का अभ्यास करने वाले मुनि मुनिचन्द्र अभी स्वयं शुक्ल ध्यान के शुभ प्रभाव से स्वर्ग में गये हैं। उनकी महिमा करने के लिए दिव्य उद्योतवाले देवता आये हैं। उनका यह दिव्य प्रकाश नभमण्डल को आलोकमय बना रहा है। उसी से तुझ अल्पज्ञ को अग्नि की भ्रांति हुई है। ऐसा श्रवण कर गोशालक के मन में कौतुक उत्पन्न हुआ। वह कुतूहलवश पुनः जहां मुनिचन्द्र मुनि का औदारिक पिण्ड (मृतक शरीर) था, वहां आया तब तक देवगण मुनि–महिमा का गुणगान कर स्वर्ग की ओर रवाना हो चुके थे। देवदर्शन हर किसी व्यक्ति को नहीं होते। प्रबल पुण्यवानी का उदय होने पर देवदर्शन मिलते हैं। इसी कारण गोशालक को देवदर्शन नहीं हुए। लेकिन वहां सुगन्धित जल एवं पुष्पवृष्टि को देखकर वह सन्तुष्टित हुआ।

तब कौतूहली प्रज्ञावाला गोशालक उपाश्रय में पार्श्वनाथ प्रभु के साधुओं के पास गया और कहने लगा– अरे! तुमने मात्र सिर मुंडित कराया है। तुम बड़े नादान शिष्य हो। दिन में तो इच्छानुसार भोजन करते हो और रात्रि में अजगर की तरह पड़े रहते हो। तुम इतना भी नहीं जानते कि तुम्हारे आचार्य की मृत्यु हो गयी। अरे! उत्तम कुल में जन्म लेने वाले तुम्हारे मन में गुरु के प्रति कोई स्थान नहीं? ये वाक्य श्रवणकर वे साधु उठे, उन्होंने सोचा, यह पिशाच की तरह कौन बोल रहा है? वे उपाश्रय के बाहर आये, अपने आचार्य को मृत पाकर बड़े खेदित हुए और आत्मनिंदा करने लगे कि ओह! आज हमारी इतनी सावधानी नहीं रही। हमने गुरुदेव की सार–सम्हाल नहीं ली और

किसी ने हमारे गुरु का प्राणहरण कर लिया। धिक्कार है हमें, हमने हमारा कर्तव्य नहीं निभाया। इस प्रकार वे थके मन से अपनी व्यथा कहने लगे। इधर गोशालक भी उनको अंटशंट बोलता हुआ उनका तिरस्कार करता हुआ प्रभु के समीप आ पहुंचा। तत्पश्चात् प्रभु वहां से विहार कर चोराक सन्निवेश पधारे[6]। वहां परचक्र के भय का जोरदार बोलबाला था।

आरक्षक लोग बड़े सजग रहते थे। वे इधर–उधर चोर को ढूंढ रहे थे कि हमारे राज्य में कहीं कोई चोर–उचक्का न घुस जाये। आरक्षक घूमते–घामते जहां प्रभु कायोत्सर्ग करके खड़े थे, वहां आये और पूछा कौन? प्रभु ने तो मौन धारण कर रखा था इसलिए कुछ भी नहीं बोले लेकिन गोशालक भी चुप रहा। तब आरक्षकों ने उन्हें चोर समझकर पकड़ लिया और उन्हें बांधकर कुएं में घड़े की तरह लटकाया, फिर निकाला, पुनः लटकाया। उस समय सोमा और जयंतिका साध्वियां, जो कि भगवान् पार्श्वनाथ की शिष्याएं थीं, निमित्त शास्त्र की ज्ञाता थीं, उनको ग्रामवासियों ने बताया कि अमुक लक्षण वाले दो पुरुषों को आरक्षकों ने पकड़ा है और घड़े की तरह कुएं में लटका रहे हैं, बाहर निकाल रहे हैं।

उन साध्वियों ने वृत्तान्त सुना। सुनकर विचार किया कि ये तो भगवान् महावीर होने चाहिएं। ऐसा चिन्तन करते ही तुरन्त वहां से रवाना हुई और जहां प्रभु को कुएं में लटका रखा था, वहां आई। आकर प्रभु को देखा और आरक्षकों से कहा अरे भाइयों! ये क्या कर रहे हो? ये सिद्धार्थ राजा के पुत्र भगवान महावीर हैं। ये चरम तीर्थंकर हैं। तुम यह क्या अनर्थ कर रहे हो? तब आरक्षक लोगों ने यह सुनते ही तुरन्त बन्धन खोले। प्रभु को मुक्त किया और बारम्बार क्षमायाचना करने लगे[7]। करुणासिन्धु भगवान क्षमा के साक्षात् अवतार थे। वे तो मुस्कराते हुए वहां से विहार कर गये।

कई दिनों तक विहार करने के पश्चात् भगवान चातुर्मासार्थ पृष्ठचम्पा पधार गये। पृष्ठचम्पा में प्रभु ने चार महीने आहार का परित्याग कर दिया। विविध प्रकार की प्रतिमा धारण करते हुए कर्मों के वृन्द के वृन्द नष्ट करते हुए प्रभु चार महीने निराहार चिन्तन में लीन रहे[8]।

संदर्भ: साधनाकाल का चतुर्थ वर्ष, अध्याय 14

1. (क) ताहे ताणि तत्थ अच्छित्ता विग्गताणि, णिंताण गोसालेणसा महिला छिक्का
आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 284
(ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 277
2. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 284
(ख) विशेषावश्यक भाष्य; गा. 1911
3. (क) आवश्यक मलयगिरि; पृ. 278
(ख) महावीर चरियं (गुणचन्द्र); 6/189
4. (क) सोऽपश्यत्पार्श्वशिष्यांस्तान् विचित्रवसनावृतान्।
पात्रादिधारिणः के नु यूयमित्यन्वयुक्तं च।
निर्ग्रन्थाः पार्श्वशिष्याः स्यो वयमित्यूचिरेऽथ ते।
गोशालोऽपि हसन्नूचे धिग्वो मिथ्याभिभाषिणः।।
कथं नु यूयं निर्ग्रन्था वस्त्रादिग्रन्थधारिणः?
केवलं जीविकाहेतोरियं पाखण्ड कल्पना।
वस्त्रादिसंगरहितो निरेपेक्षो वपुष्यपि।
धर्माचार्यो हि यादृङ्मे निर्ग्रन्थास्तादृशाः खलु।
त्रिषष्टि, 10/3/453–56
(ख) आवश्यक चूर्णि; पृ. 285
5. ते य जिणकप्पपरिकम्मं करेंति सीसं गच्छे उवेत्ता ते सत्तभावणाए अप्पाणं भावेंति "तवेण सत्तेण सुत्तेण एगतेण बलेण य तुलणा पंचहा वुत्ता जिणकप्पं पडिवज्जतो।" एताओ भावणाओ ते पुण सत्तभावणाए भावेंति। पढिमा उवसंगमि, वितिया वाहिं ततिया चतुकम्मी। सुन्नधरंमि चउत्थो तह पंचमिया मसाणंमि। सोय वितियाए भावेति।
आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 285
6. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 286
(ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 278
7. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 287
(ख) आवश्यक मलयगिरी; पृ. 278–79
(ग) विशेषावश्यक भाष्य; 1912
8. ततो भयवं पिट्ठिचंपं गतो, तत्थ वासारत्तं करेइ, तत्थ चाउम्मासियं खमणं करेंतो विचित्तं पडिमाइ करेइ।
आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 279

साधनाकाल का पंचम वर्ष – पंचदश अध्याय

पृष्ठचम्पा का चातुर्मास सम्पन्न कर प्रभु महावीर कृतमंगला नामक नगरी में पधारे। उस नगरी में दुरिद्रथेर नाम से पहिचाने जाने वाले आरम्भ परिग्रहधारी, स्त्री–संतान वाले कितने ही पाखंडी रहते थे। उनके निवास–स्थान (पाड़ा) के बीच में एक बड़ा देवालय था। उसमें कुलक्रम से प्राप्त देवताओं की प्रतिमाएं थीं। उसके एक कोने में स्तम्भ की तरह निष्कंप होकर प्रभु वीर कायोत्सर्ग कर रहे थे[1]।

माघ महीने की कड़कड़ाती सर्दी और अचेल प्रभु महावीर ध्यानस्थ खड़े हैं। भयंकर शीत लहरियां प्रभु के शरीर को संस्पर्शित कर रही हैं लेकिन भगवान अडोल बनकर परीषहजयी बन गये हैं। इधर उसी देवालय में उसी दिन रात्रि महोत्सव था। वे पाखंडी लोग अपने–अपने परिवार सहित वहां आये और नृत्य–गीत करते हुए जागरण करने लगे।

उनके नृत्यादि को देखकर गोशालक हंसने लगा और बोला कि ये पाखंडी कौन हैं जिनकी स्त्रियां मद्यपान करके निर्लज्ज होकर नाच रही हैं। तब उन पुरुषों को बहुत गुस्सा आया। उन्होंने जैसे घर में से कुत्ते को निकालते हैं वैसे गोशालक को गले से पकड़कर बाहर निकाल दिया। ठंड से ठिठुरता, दांतों को बिगाड़ता हुआ बाहर खड़ा रहा। फिर उस पर लोगों को दया आ गयी तो उसे अन्दर बुला लिया। थोड़ी देर में ठंड दूर हो गयी। पुनः वह पहले जैसा ही बोला। तब लोगों को गुस्सा आया। पुनः बाहर निकाल दिया। इस प्रकार क्रमशः तीन बार बाहर निकाला और तीन बार अन्दर बुलाया। तब चौथी बार अन्दर आने पर गोशालक बोला कि अरे अल्प बुद्धि वाले पाखंडियों, मुझे सच कहने पर क्यों क्रोध आता है? तुम्हें अपने दुश्चरित्र पर क्रोध नहीं आता? तब युवक लोग उसे मारने के लिए तैयार हुए लेकिन [illegible] ने उनको रोकते हुए कहा कि तुम इसे मत मारो क्योंकि यह इन [illegible] पिशाची या उन्मत्त है। तुम इसकी बात पर ध्यान ही [illegible] ऐसा बोलने, बोलने दो। तुम अपने वाद्ययन्त्रों को [illegible] आनन्दित बन जाओ। तब वे युवक अपने नृत्य–गायनों

में लीन बन गये। अवशेष रात्रि शांतिपूर्ण व्यतीत हुई।

ऊषा अपनी लालिमा को चहुंदिश में बिखेरती हुई आकाश में सिन्दूर भर रही थी। मरीचिमाली अपनी मरीचियों को बिखेरते हुए उदीयमान होने वाला था। पक्षियों के कलरव से दिशाएं गान कर रही थीं। पुष्पों पर अलियों की गुंजार अभिनव सृजन कर रही थी। लोग अलसाये नेत्रों से जागृत बनकर अपने कार्य के प्रति सजग बन रहे थे। मन्द–मन्द बयार वृक्षों को आन्दोलित कर रही थी। सूर्य उदयाचल पर आरूढ़ हुआ। पश्चिम में तृतीय लालिमा का विस्मयकारी दृश्य उपस्थित कर भास्कर उदित हुआ। प्रभु महावीर ने उदीयमान मरीचियों के साथ कायोत्सर्ग पाला। वीर प्रभु के चरण गतिमान हुए।

विहार कर भगवान श्रीवस्ती नगरी पधारे। वहां नगर के बाहर कायोत्सर्ग करके स्थित रहे[3]। आहार का समय जानकर गोशालक ने प्रभु से कहा– भगवन्! भिक्षा लेने चलो क्योंकि मनुष्य जन्म में भोजन सार रूप है। तब सिद्धार्थ ने कहा कि भद्र! हमारे उपवास है। गोशालक ने पूछा– हमें कैसा भोजन मिलेगा? सिद्धार्थ ने कहा– तुमको नरमांस की भिक्षा मिलेगी[4]। गोशालक ने कहा– जहां मांस की गन्ध होगी वहां जाऊँगा ही नहीं। ऐसा निश्चय करके वह श्रीवस्ती नगरी में भिक्षा लेने गया।

उस नगर में पितृ नामक एक सद्गृहस्थ था। उसके भद्रा नामक भार्या थी। उसे मृतक पुत्र ही पैदा होते थे। एक बार उसने शिवदत्त नामक नैमित्तिक को आदरसहित पूछा कि मेरी सन्तान कैसे जीवित रहेगी। नैमित्तिक ने कहा कि जब तेरे मरी हुई सन्तान पैदा हो तब उसके रुधिरयुक्त मांस की दूध, घी, मद्य की खीर बनाओ और ६ ट्रलयुक्त पैर वाले भिक्षुक को दे दो। उससे तुम्हारे जरूर सन्तान पैदा हो जायेगी। उस भिक्षुक के भोजन करने के बाद तत्काल मैं तुम्हारे घर का द्वार दूसरी दिशा में कर दूंगा जिससे उस भिक्षुक को बाद में पता भी चल जायेगा तो भी वह क्रोध से तुम्हारा घर जला नहीं पायेगा।

उस भद्रा ने नैमित्तिक की बात को स्वीकार कर लिया और मृत बालक हुआ, उसके रुधिर–मांस की खीर बनाई। साधु का इन्तजार करने लगी। इधर गोशालक घूमता हुआ संयोगवश वहां आया। उस

भद्रा ने बड़ी भक्ति से खीर बहराई जिसका उसने शुद्ध शाकाहार जानकर भोजन किया और प्रभु से आकर वार्ता कही। तब सिद्धार्थ ने कहा कि तूं नरमांस की खीर खाकर आया है। तब गोशालक ने अंगुली डालकर वमन किया उसमें बालक के नखादि छोटे–छोटे अवयव निकले। तब क्रोधित होकर गोशालक वहां से निकला। जहां स्त्री का घर था वहां आया, लेकिन द्वार अन्य दिशा में होने से वह घर नहीं मिला। तब उसने श्राप दिया कि यदि मेरे गुरु का तप–तेज हो तो यह सम्पूर्ण प्रदेश जल जाये। तब भगवान की सन्निधि में रहने वाले व्यन्तर देवों ने विचार किया कि प्रभु का महात्म्य अन्यथा नहीं होता, इसलिए उन्होंने सारे प्रदेश को जला दिया। भगवान रात्रि में वहीं रहे।

दूसरे दिन प्रभु वहां से विहार कर हरिद्रु नामक गांव में पधारे। वहां गांव के बाहर हरिद्रु वृक्ष के नीचे प्रतिमा धारण करके कायोत्सर्ग करने लगे। वह वृक्ष छायादार और विस्तृत था। ऐसा लग रहा था मानो उस वृक्ष ने पत्तों का छत्र धारण कर रखा है। ऐसे घने वृक्ष को देखकर एक सार्थ (व्यापारियों का समूह) जाता वहां हुआ रुका। रात्रि में भयंकर शीत का प्रकोप था। उस सार्थवालों ने अग्नि प्रज्वलित की और वहां तापने लगे। अग्नि के सहारे रात्रि व्यतीत कर सार्थ वहां से चल दिया लेकिन अग्नि शमित करना विस्मृत कर गये।

तब हवा से प्रेरित अग्नि निरन्तर फैलने लगी। उस समय गोशालक प्रभु के पास आया और कहा– "यह अग्नि नजदीक आ रही है, यहां से भाग जाओ।" ऐसा कहकर वह तो वहां से भाग गया लेकिन परीषहजयी प्रभु वीर अग्नि से कहां भयभीत होने वाले थे। वे अडोल बनकर वहीं स्थिर रहे। अग्नि प्रभु के चरणों के पास आई। उससे प्रभु के चरण श्याम हो गये लेकिन वह उन चरणों को प्रज्वलित नहीं कर पाई[5] क्योंकि अनपवर्तनीय आयुष्य उपक्रम करने पर भी कम नहीं होती[6]। अतएव तीर्थपति की ऊर्जा से अग्नि शमित हुई, तब प्रभु गोशालक सहित विहार करके लांगल ग्राम पधारे।

लांगल ग्राम के बाहर वासुदेव का मन्दिर था। वहां प्रतिमा धारण कर प्रभु कायोत्सर्ग में स्थित हो गये। उस मन्दिर के पास ग्राम के बालक क्रीडा कर रहे थे। गोशालक ने उन बालकों को भयभीत

करने के लिए प्रेत की तरह विकृत रूप बनाया और उन्हें भयभीत करने लगा। उसके विकृत रूप के भय से किसी का वस्त्र गिर गया, किसी की नाक टूट गयी, कोई चलता–चलता गिर पड़ा। इस प्रकार भयभीत होकर बालक ग्राम की तरफ भाग गये। बालकों ने अपने–अपने घरों पर जाकर सारा वृत्तान्त कहा। क्रोधाभिभूत हो उन बालकों के पिता आदि, जहां गोशालक था, वहां आये। उसका विकृत रूप देखा और उसको खूब पीटा। तदनन्तर वृद्ध पुरुष आये और कहा कि इसको मत मारो। यह देवार्य का सेवक जान पड़ता है। तब वृद्धजनों के कहने से उन व्यक्तियों ने गोशालक को छोड़ दिया और चले गये।

उनके जाने के पश्चात् गोशालक ने प्रभु से कहा– भगवन्! आपके रहते हुए लोग मेरी पिटाई करते हैं और आप देखते रहते हैं। यह उपेक्षा ठीक नहीं है। तब सिद्धार्थ बोले– तूं अपने स्वभाव से ही पीटा जाता है। उसमें कौन बचा सकता है? तत्पश्चात् कायोत्सर्ग पालकर वहां से विहार कर प्रभु आवर्त नामक ग्राम में पधारे।

उस आवर्त ग्राम में बलदेव का मन्दिर था। वहां प्रतिमा धारण कर प्रभु कायोत्सर्ग करने लगे। यहां भी कौतुकवश गोशालक बालकों को भयभीत करने लगा। तब उन बालकों के पितादि वहां आये और मदोन्मत्त सांड की तरह गोशालक की जमकर पिटाई की। पिटाई करके वे लोग पुनः लौट गये तब गोशालक फिर भयभीत करने लगा। तब बालकों ने पुनः आकर अपने पितादि से सारा वृत्तान्त कहा। तब उन लोगों ने सोचा कि इसकी पिटाई कर दी तब भी यह नहीं मानता है और न ही इसका मालिक कुछ कहता है इसलिए मर्यादानुसार इसके मालिक की पिटाई करनी चाहिए। ऐसी दुर्बुद्धि से वे प्रभु की पिटाई करने के लिए डण्डे लेकर वहां आये। उस समय वहां रहने वाला प्रभुभक्त कोई व्यन्तर देव बलदेव की प्रतिमा में घुसा और हल लेकर उन ग्रामवासियों को मारने गया। तब आशंका और विस्मय से सभी लोगों ने प्रभु के चरणों में प्रणाम कर क्षमायाचना की और वहां से चले गये[1]।

वहां से विहार कर प्रभु चोराक सन्निवेश नामक ग्राम में आये और एकान्त स्थान पर जाकर प्रतिमाधारण कर रहने लगे[2]। तब गोशालक ने प्रभु से पूछा– आप गोचरी जाओगे या नहीं? भगवान के

शरीर में प्रविष्ट सिद्धार्थ ने कहा– आज हमारे उपवास है। तब भूख से व्याकुल गोशालक अकेला ही भिक्षा के लिए गया। घूमता–घामता एक स्थान पर पहुंचा जहां गोठ के लिए खाना बन रहा था। वह बार–बार छुपकर देख रहा था कि रसोई तैयार हुई या नहीं। उस समय ग्राम में चोरों का विशेष भय था। लोग बड़े सतर्क थे। उन्होंने गोशालक को बार–बार छिपते हुए देखा तो सोचा कि यह चोर है। ऐसा सोचकर लोगों ने उसकी खूब पिटाई की। तब वह बड़ा कुपित हुआ और शाप दिया कि यदि मेरे धर्मगुरु का तप तेज है तो यह गोष्ठीमंडप जलकर राख हो जाये। इतना कहते ही प्रभुभक्त व्यन्तर देव आये और उन्होंने मण्डप जलाकर राख कर दिया।

प्रभु वहां से कायोत्सर्ग पालकर विहार करके कलंबुक नामक ग्राम में पधारे। उस ग्राम में मेघ और कालहस्ती नामक दो शैलपालक भाई रहते थे। उस समय कालहस्ती सेना लेकर चोरों को पकड़ने के लिए जा रहा था। उसने मार्ग में गोशालक सहित भगवान को आते हुए देखा तब उसने उनको ही चोर समझ लिया और प्रभु से पूछा– तुम कौन? मौनव्रतधारी भगवान कुछ भी नहीं बोले। गोशालक भी मौन धारण करता है। वह सोचता है कि देखूं क्या होता है? तब उन दोनों को बांधकर भाई मेघ को सौंपा। मेघ पहले राजा सिद्धार्थ के यहां पर नौकर था। उसने प्रभु वीर को पंहिचान लिया। तुरन्त बन्धन खोले और क्षमायाचना की[9]। प्रभु वहां से चल दिये।

प्रभु ने अवधिज्ञान से आत्मालोचन करते विचार किया कि अभी तक मेरे बहुत कर्मों की निर्जरा करना अवशेष है। यहां मेरे कर्म तोड़ने में सहायक लोग मुझे कष्ट देते हैं तो अन्य मुझे पहचान कर छुड़ा देते हैं। इसलिए अब भीषण कर्मों को काटने के लिए अनार्य देश में जाना चाहिए। ऐसा विचार कर भीषण उपसर्गों का आमन्त्रण स्वीकार कर प्रभु लाट देश की तरफ पधार गये[10]।

लाट देश अत्यन्त दुर्गम प्रदेश था। घने जंगलों से आवेष्टित झाड़ियों और पहाड़ियों से घिरा होने के कारण सामान्य साधक के लिए दुःसह था। लाट देश में ग्रीष्म का प्रबल प्रकोप रहता था। पत्थरों से टकरा कर आने वाली गरमी शरीर को झुलसाने वाली थी। भयंकर

गरमी के प्रकोप से समूचा प्रदेश अग्निमय–सा प्रतीत होता था। वहां की गरमी को सहन करना महादुर्लभ था। ग्रीष्म की अधिकता के साथ–साथ वहां शीत का भी प्राबल्य सदैव विद्यमान रहता था। भयंकर शीत के थपेड़ों से संत्रस्त वहां की सर्दी को सहन करना कठिन था। वर्षा ऋतु में वहां घासादि की बहुलता होने से दंश–मशक भी बहुत पैदा होते थे। वे ऐसे तीक्ष्ण डंक लगाते थे कि जैसे मानो कोई बिच्छू डंक लगा रहा है।

वहां के लोग बड़े ही कठोर और निर्दयी थे। वे करुणारहित, दूसरों को त्रास पहुंचाने का जघन्य कृत्य करके बड़े ही प्रसन्न होते थे। दान देने की प्रवृत्ति बहुत कम थी। मानव का मानव के प्रति स्नेहासिक्त व्यवहार नहीं था। रूक्ष स्वभाव वाले वहां के लोगों में अनुकम्पादि की अल्पता थी। वहां तिलादि की खेती नहीं होने से तेल का एवं गायों की स्वल्पता के कारण घृतादि का अभाव–सा ही था। वहां के निवासी रूक्ष आहार ही करते थे। लाट देश ऋद्धि–सम्पन्न भी नहीं था। सामान्य स्थिति वाले लोगों का ही वहां पर निवास था। वहां की भूमि भी बड़ी ऊबड़–खाबड़ थी। इस प्रकार अनेक आपदाओं के स्थान लाट देश में सन्त–महापुरुषों का जाना अशक्य था।

उसी लाट देश में कर्म–क्षय करने के लिए प्रभु महावीर पधार गये। अनेक प्रकार की नुकीली घास और तीक्ष्ण कांटों के स्पर्श से प्रभु के पैर बिंध जाते थे। ठण्डी–ठण्डी हवाएं सर–सर करती हुई गात्र में सिहरन पैदा करती थी। शीत की अधिकता से शरीर एकदम शून्य–सा बन जाता लेकिन देह पर ममत्त्वत्यागी प्रभु शरीर की परवाहरहित थे। शीत ऋतु में क्षुधा भी अधिक सताती है। उस समय सब गरम–गरम खाना ही पसंद करते हैं। लेकिन भगवान ठण्डा–बासी जो भी मिलता, समभाव से खाकर तपश्चर्या में लीन रहते थे।

गरमी भी उस प्रदेश में भयंकर थी। जब ग्रीष्म प्रारम्भ हुई तो डांस–मच्छरों का जबरदस्त प्रकोप था। अपने नुकीले तीक्ष्ण डंकों से वे डांस–मच्छर बार–बार प्रभु के गात्र के डंक लगाते थे। परन्तु महान वीर भगवान कभी भी उनसे खेद को प्राप्त नहीं होते थे।

ग्रीष्म ऋतु में गरम हवा के थपेड़े शरीर को तापित करते। चहुं

ओर ग्रीष्म की अधिकता से समूचा वायुमण्डल उष्ण हो जाता। उस समय भी प्रभु स्वेदरहित खेद को परे रखते थे। धूप से तापित जमीन पर, जहां एक कदम रखने पर भी ऐसा लगता था कि अंगारों पर चल रहे हैं, वहां भीषण तपी हुई भूमि पर समभाव से चलकर प्रभु गोचरी पधारते थे। ग्रीष्म परीषह को समभावपूर्वक सहन करने वाले भगवान तप में भी स्वयं को शांत रखते थे।

ऐसे दुर्गम लाट प्रदेश में भगवान शुभ्र भूमि और वज्र भूमि में पधारे, जहां रहने के स्थान बड़े ऊबड़–खाबड़ थे। वहां की कंकरीली जमीन पर चलना बड़ा ही कठिन था। वहां उस ऊँची–नीची भूमि में अत्यन्त कठोर आसन करके भगवान ने बहुत–से कर्मों का क्षय किया[11]।

वहां के अनार्य लोग, जब प्रभु वीर पधारते थे तो उन्हें देखकर उनका उपहास करते थे। वहां के कुत्ते तीक्ष्ण दांतों वाले, भीमकाय शरीर वाले थे। लोग उन कुत्तों को हू–हू करके बुलाते और वीर प्रभु को कुत्तों से कटवाते थे। वे लोग रूक्षभोजी होने से रूखे स्वभाव के थे। उनके क्रूर स्वभाव के कारण दूसरे श्रमणादि तो लाठी और नालिकादि लेकर ही वहां पर विचरण करते थे। लाठी लेकर चलने वाले उन श्रमणों को भी कुत्ते नोच डालते तब शस्त्ररहित विहार करने वाले प्रभु पर तो वे कुत्ते कितना जबरदस्त आक्रमण करते होंगे? यह सोचते ही मन में सिहरन पैदा हो जाती है।

लाट देश में कभी प्रभु को विहार करते हुए गांव भी नहीं मिलता तब प्रभु जंगल में ही कायोत्सर्ग करके खड़े रहते थे। जब वे जंगल से गांव की ओर पधारते तो ग्रामवासी गांव में घुसने से पहले ही रोक देते, दण्डादि से प्रहार करते और कहते– यहां से कहीं दूर चले जाओ।

कभी गांव से बाहर खड़े प्रभु को बहुत–से लोग डण्डे, मुक्के, भाले, शस्त्र, मिट्टी के ढेले और ठीकरे से मारते और मारो–मारो कहकर दूसरों को भी मारने के लिए प्रेरित करते थे। प्रभु जब–कभी गांव से बाहर ध्यानस्थ खड़े रहते तब लोग उन्हें ऊँचा उठाकर नीचा गिरा देते थे। लोग धक्का मारकर दूर धकेलते थे, कोई धूल फेंकते थे और कोई तो यहां तक जघन्य कृत्य कर डालते कि प्रभु के शरीर का मांस तक काट लेते लेकिन परीषह सहन करने के लिए कटिबद्ध, घोर कष्टों को

भी समभावपूर्वक सहन करने की प्रतिज्ञा वाले प्रभु इन भीषण उपसर्गों से तनिक भी विचलित नहीं होते।

जैसे शत्रु सेना को परास्त करने वाला महान योद्धा प्रबल सैन्य समूह में कवच पहन कर निर्भीक होकर चला जाता है एवं भीषण बाणों की परवाह न करते हुए भी शत्रुओं को परास्त करने में ही तत्पर रहता है, वैसे ही भगवान महावीर घोर उपसर्गों की परवाह न करते हुए कर्मशत्रुओं को निरन्तर परास्त कर रहे थे[12]। छः महीने तक इस प्रकार के असह्य कष्टों को सहन कर प्रभु अनार्य देश से निकल कर आर्य देश की तरफ पदाधान कर रहे थे।

भगवान विचरण करते हुए पूर्णकलश नामक अनार्य ग्राम के नजदीक पहंचे तो लाट[13] देश में जाने वाले दो चोरों ने प्रभु को सामने आता हुआ देखा। देखते ही चोरों ने चिन्तन किया, अरे यह नंग–धड़ंग मुंडित सिर वाला हमारे सामने आ रहा है। इसने बड़ा अपशकुन किया है। इसको मार देना चाहिए। ऐसा सोचकर शस्त्र द्वारा प्रभु को मारने के लिए उद्यत हुए। उसी समय शक्रेन्द्र वहां आया और भीषण वज्र का प्रहार उन चोरों पर किया जिससे वे मृत्यु को प्राप्त हुए। वहां से विहार कर भगवान भद्दिलपुर नगर पधारे। वहां चौमासी तप का प्रत्याख्यान कर प्रभु ने पंचम चातुर्मास किया। चातुर्मास पूर्ण होने पर चातुर्मासिक तप का नगर से बाहर पारणा कर वहां से विहार किया[14]।

संदर्भः साधनाकाल का पंचम वर्ष, अध्याय 15

1. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 287
   (ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 279
   (ग) विशेषावश्यक भाष्य, 1913
2. एस देवज्जगस्स कोऽवि पीढियावाहो छत्तधरो वा आसि। आवश्यक मलयगिरी, पृ. 279
3. (क) विशेषावश्यक भाष्य, 1914
   (ख) आवश्यक चूर्णि, जिनदास, पृ. 287
4. ताहे सिद्धत्थो भणति अज्ज तुमए माणुसमांसं खाइयव्वंति। आवश्यक चूर्णि, जिनदास, पृ. 287
5. (क) आवश्यक चूर्णि, जिनदास, पृ. 288

(ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 279–80

6. (क) प्रज्ञापना सूत्र/पद 6
(ख) अनपवर्तनीय आयु सोपक्रम और निरुपक्रम दोनों प्रकार की होती है। (तीव्र शस्त्र, तीव्र विष, तीव्र अग्नि आदि निमित्तों का प्राप्त होना उपक्रम है।) दूसरे शब्दों में इस अनपवर्तनीय आयु को अकाल–मृत्यु लाने वाले अध्यवसान आदि उक्त निमित्तों का सन्निधान होता भी है और नहीं भी होता है। उक्त निमित्तों का सन्निधान होने पर भी अनपवर्तनीय आयु नियतकाल से पहले समाप्त नहीं होती। अनन्तगड दशांग; तृतीय वर्ग।
युवाचार्यश्री मधुकरमुनिजी; प्र. सं. 1981; आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर; पृ. 84

7. (क) विशेषावश्यक भाष्य; 1915
(ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 281
(ग) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 289

8. (क) विशेषावश्यक भाष्य; 1916
(ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 281

9. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 289–90
(ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 281
(ग) आवश्यक हरिभद्रीया; पृ. 206

10. बहु कम्मं निज्जरेयव्वं लाठाविसयं वच्चामि, ते अणारिया तत्थ णिज्जरेमि, तत्थ भगवं अत्थारियदिट्ठंतं हिदए करति, ततो भगवं निग्गतो लाठाविसयं पविट्ठो। आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 290

11. अह दुच्चरलाठमचारी वज्जभूमिं च सुब्भभूमिं च।
पंतं सेज्जं सेविंसु आसणगाइं चेव पंताइं।।2।। आचारांग; 1/9/3

12. सूरो संगामसीसे वा संवुडे तत्थ से महावीरे।
पडिसेवमाणो फरुसाइं अचले भगवं रीयित्था। आचारांग; 1/9/3

13. ऐतिहासिक खोजों के आधार पर पता चला है कि वर्तमान में वीरभूमि, सिंहभूमि एवं मानभूम (धनबाद आदि) जिले तथा पश्चिम बंगाल के तमलूक, मिदनापुर, हुगली तथा बर्दवान जिले का हिस्सा लाटदेश माना जाता था। आचारांग; श्री मधुकरजी; प्रथम श्रुतस्कन्ध; 9/3; प्र. सं. 1980; पृ. 329

14. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 280–81
(ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 281

साधनाकाल का षष्टम वर्ष – षोडश अध्याय

पंचम चातुर्मास भद्दिलपुर नगर में सम्पन्न कर प्रभु महावीर कदलीग्राम के समीप पधारे। वहां लोग याचकों को अन्न दे रहे थे। यह देखकर गोशालक ने भगवान से कहा– यहां याचकों को अन्न मिल रहा है, चलो अपन भी लेने के लिए चलते हैं। तब सिद्धार्थ ने कहा– आज उपवास है। गोशालक वहां खाने चला गया। उसे अन्न दिया लेकिन उसकी भूख शांत नहीं हुई, तब एक अन्न से परिपूर्ण थाल उसके सामने रखा। गोशालक उसे खाने लगा। खाते–खाते इतना तृप्त हो गया कि एक कौर भी और लेने की गुंजाइश नहीं थी। पानी भी नहीं पीया जा रहा था। थाल में अभी भोजन बहुत बच गया। तब लोगों ने गोशालक से कहा– अरे, तुझे इतना भी पता नहीं कि तेरे पेट में कितना आता है? इतना भोजन अभी बचा दिया। इतना कहकर थाल उसके सिर पर फेंक दिया। फिर वह अपने पेट पर हाथ फेरता–फेरता अपने स्थान पर आ गया।

प्रभु वहां से विहार करके जम्बू खण्ड नामक गांव में पधारे। गोशालक सदाव्रत का भोजन प्राप्त करने की इच्छा से गांव में गया। वहां भोजन के साथ–साथ उसे तिरस्कार भी मिला[1]। प्रभु वहां से विहार कर तुम्बाक नामक गांव के पास पधारे। ग्राम के बाहर प्रतिमा धारण कर प्रभु कायोत्सर्ग में स्थित हो गये। गोशालक ने गांव में प्रवेश किया। उस ग्राम में भगवान पार्श्वनाथ के शिष्य आचार्यश्री नन्दिषेण अपने बहुशिष्य परिवार सहित पधारे। वे आचार्य गच्छ का भार दूसरों को देकर जिनकल्प धारण करने की इच्छा से प्रतिकर्म में निरत थे। उनको देखकर गोशालक ने उनकी हंसी उडाई और वे चुप रहे तो गोशालक प्रभु के पास आ गया।

इधर रात्रि में नन्दिषेण मुनि ग्राम के किसी चौक में ध्यान करने के लिए कायोत्सर्ग करके स्तम्भ की तरह स्थिर हो गये। अर्धरात्रि में गांव की देखभाल करने चौकीदार निकला। मुनि को देखकर चोर समझकर कई प्रश्न किये, उत्तर न देने पर उन्हें मार दिया। वे समभाव से मृत्यु प्राप्त कर देवलोक पधारे। वहां उन्हें अवधिज्ञान पैदा हुआ।

देवताओं ने उनकी महिमा गायी। इधर गोशालक ने जब सिद्धार्थ देव से जाना कि आचार्यश्री की मृत्यु हो गयी है तो पूर्ववत् जाकर उनके शिष्यों का तिरस्कार किया।

भगवान वहां से विहार करके कूपिका नामक ग्राम में आये। वहां प्रभु ध्यानस्थ बनकर संसाधना कर रहे थे तब वहां के आरक्षकों ने प्रभु से प्रश्न किये। भगवान ने कुछ उत्तर नहीं दिया और गोशालक भी मौन रहा। तब उन्होंने भ्रांतिवश प्रभु को गुप्तचर समझ लिया और उन्हें उपसर्ग देने लगे। ताड़ना–तर्जना करने लगे। सारे गांव में समाचार फैला कि शांत–प्रशान्त सौम्य रूप वाले एक देवार्य को आरक्षक गुप्तचर समझकर मार रहे हैं। उस समाचार को गांव में रहने वाली अगल्भा और विजया नाम की दो परिव्राजिकाओं ने सुना। वे परिव्राजिकाएं पहले भगवान पार्श्वनाथ की शिष्याएं थीं। चारित्र मोहनीय के उदय से चारित्र छोड़कर जीवन निर्वाह के लिए परिव्राजिकाएं बन गयीं। उन्होंने इस वृत्तान्त को जानकर सोचा कि ये आरक्षक कहीं भगवान महावीर को तो नहीं मार रहे हैं! यह सोचकर जहां आरक्षक थे वहां आईं। वहां भगवान को देखकर उनकी वन्दना की और आरक्षकों से कहा– अरे मूर्खों! तुम यह नहीं जानते कि ये सिद्धार्थ राजा के पुत्र श्रमण महावीर हैं। ये चरम तीर्थंकर हैं। तुम इनको जल्दी छोड़ दो। यदि शक्रेन्द्र को पता लग गया तो वह तुम्हें मार डालेगा। तब मृत्युभय से आरक्षकों ने प्रभु को बन्धनमुक्त किया और कृत अपराध की पुनः क्षमायाचना करने लगे।

वहां से विहार कर भगवान् विशालापुरी पधारे। आगे बढते ही गोशालक ने भगवान से कहा कि अब मैं आपके साथ नहीं चलूंगा क्योंकि आपके साथ रहने पर जब मुझे कोई मारता है तो आप मुझे नहीं बचाते। आपको तो पग–पग पर उपसर्ग आते हैं। आपके साथ रहने पर वे उपसर्ग मुझे भी अकारण झेलने पड़ते हैं[2]। जैसे अग्नि शुष्क घास के साथ गीली घास को भी जला देती है वैसे ही आपके साथ रहने से मुझे बहुत उपसर्ग झेलने पड़ते हैं। साथ ही, आप तो प्रतिदन भोजन करते नहीं। जिस दिन चाहिए, उसी दिन भोजन करते हो, तब मुझे कई बार आपके साथ भूखा रहना पड़ता है। आप तो मारने वाले या तारने वाले,

शत्रु या मित्र, सब पर समदृष्टि रखते हो। किसी का गलत करने पर भी प्रतिकार नहीं करते, तब आपकी सेवा में कौन रहना चाहेगा? सेवा करें, भूखे मरें, उपसर्ग सहें तिस पर कोई सहानुभूति नहीं इसलिए निष्फल आपकी सेवा में रहना नहीं चाहता। तब सिद्धार्थ बोले हमारी तो यही जीवनचर्या है। ऐसा सिद्धार्थ द्वारा बोलने पर गोशालक कहता है– फिर मैं जा रहा हूं। यों कहकर प्रभु से पृथक् मार्ग पर चल देता है।

प्रभु विशाला नगरी की ओर पधार रहे हैं और गोशालक एकाकी राजगृह नगर की ओर जा रहा है। रास्ते में जाते हुए गोशालक ने एक विशालकाय अरण्य में प्रवेश किया, जहां पर पांच सौ चोर रहते थे। वे चोर बड़े ही सजग रहते थे। इनमें से कुछ वृक्षों पर चढ़कर आने वाले को सुदूर से ही देख लेते थे। उन चोरों ने गोशालक को दूर से आते हुए देखा। तब उन्होंने अपने दूसरे साथियों से कहा कि देखो बिना पैसे वाला कोई नग्न पुरुष आ रहा है। तब वे दूसरे चोर बोले कि भले ही उसके पास कुछ नहीं है, तो भी उसे ऐसे ही नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि वह राजा का गुप्तचर भी हो सकता है इसलिए उसको पराजित करना ही उचित है। ऐसा चिन्तन कर गोशालक के पास आने पर उसे मामा–मामा कहकर उसको चारों तरफ से घेर लिया और उसके कंधे पर बैठकर उस पर सवार हो गये। और उसे चलाने लगे। जब वह चलता–चलता पूर्णरूपेण से थक गया, मात्र श्वास ही बाकी रह गया तब वे चोर उसे वहां छोड़कर चल दिये।

चोरों के जाने के बाद मात्र श्वास गिनने वाले गोशालक का अहंकार चूर–चूर हो गया। वह चिन्तन करने लगा–ओह! कैसी मेरी भ्रांति थी। मैंने तो सोचा था कि गुरुदेव से पृथक् विचरण कर सुख–शांति पूर्वक रहूंगा लेकिन यह क्या? प्रथम दिन ही भयंकर प्रताड़ना। वहां तो ऐसी विपत्ति आने पर इन्द्र भी रक्षा कर देता था लेकिन यहां............... यहां तो मेरा कोई नहीं है। वहां तो भगवान का अतिशय भी गजब का था, लेकिन अब किससे कहूं? किससे बोलूं? किससे पूछूं? कौन मुझे आने का मार्ग बतलाये? ऐसी विपत्ति में अकेले रहने से तो गुरुदेव के पास जाना ही श्रेयस्कर है। मुझे तो लौट जाना चाहिए। वस्तुत शिष्य वही है जो गुरु–चरणों में लौट जाये। गलती

का एहसास होने पर भी गुरु–चरणों में नहीं लौटने वाला पापी श्रमण होता है[4]। गुरु से पृथक् स्वच्छन्द विचरण जीवन को मोक्ष से विमुख बना देता है। गुरु की अवज्ञा करने वाला भव–भवान्तर तक भटकता रहता है[5]। जैसे पानी में घुली हुई नमक की डली को पानी से निकालना दुष्कर है वैसे ही गुरु से पृथक् हुए शिष्य को मोक्ष मिलना महादुर्लभ है[6]। इस भव में भी वह महादण्ड का भागीदार बनता है[7]। गोशालक तो एक दिन में ही घबरा कर सोचता है कि मुझे गुरुदेव के पास लौट जाना चाहिए। वह गोशालक प्रभु–दर्शन के लिए चल पड़ा। अरण्य पार किया और गुरुदेव को ढूंढने लगा।

प्रभु महावीर विहार कर विशालापुरी पधार गये। वहां कोई लुहार की शाला में आज्ञा लेकर प्रतिमा धारण कर कायोत्सर्ग करने लगे। उस शाला का स्वामी लुहार छः महीनों से रुजा–पीड़ित था। वह भगवान के पदार्पण से क्षणमात्र में निरोग हो गया। निरोग होने पर वह अपने स्वजनों सहित अपनी लुहारशाला में आया। आते ही उसने भगवान को देखा और चिन्तन किया कि इतने लम्बे अन्तराल के बाद आज मैं यहां आया हूं और आते ही मुझे इस पाखण्डी के दर्शन हुए। आज तो बड़ा अपशकुन हुआ है इसलिए इसको घण से मारकर समाप्त कर देता हूं। ऐसा चिन्तन करके घण उठाकर भगवान को मारने के लिए तत्पर हुआ। इधर शक्रेन्द्र ने अवधिज्ञान से भगवान् को देखा और देखते ही मुंह से निकला अरे! यह क्या? जिसका भला हो रहा है वह भी तीर्थपति को मारने में तत्पर है! शक्रेन्द्र तुरन्त वहां से आये और उनकी शक्ति से वह घण उसी लुहार पर गिरा। गिरते ही वह मृत्यु को प्राप्त हो गया। दूसरों को मारने वाला खुद मर जाता है[8]। जो दूसरों के लिए अंगारे बरसाता है, उसी को अंगारे की शय्या मिलती है। यही घटना उस लुहार के साथ घटित हुई।

प्रभु ने विशालापुरी से विहार किया और ग्रामक नामक गांव के समीप पदार्पण किया। वहां विभेलक नामक उद्यान में विभेलक यक्ष के मन्दिर में कायोत्सर्ग करके आत्मस्थ बन गये। विभेलक यक्ष पूर्व भव में समकित प्राप्त था। सम्यक्त्व से अपतित होने के कारण उसका चरम

तीर्थेश प्रभु पर अनुराग भाव जागृत हुआ। चिन्तन किया कि आज मेरा कैसा अहोभाग्य है कि मेरे स्थान पर तीर्थपति स्वयं पधारे हैं। ऐसे महान पुरुषों के दर्शन महान पुण्य से होते हैं। इनकी महिमा तो अकथ्य है। मैं इनका क्या स्वागत कर सकता हूं? फिर भी यत्किंचित् प्रयास करता हूं। ऐसा चिन्तन कर आनन्दविभोर हो वह यक्ष दिव्य पुष्प और विलेपनादि से प्रभु की पूजा करता है।

प्रभु वहां से विहार कर शालिशीर्ष पधारते हैं। शालिशीर्ष के उद्यान में प्रतिमा धारण कर कायोत्सर्ग में स्थित हो गये। उस समय माघ महिना था। वहां कटपूतना नामक एक व्यन्तरी देवी रहती थी। वह व्यन्तरी प्रभु के त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में विजयवती नामक पत्नी थी। उसे उस भव में जितना चाहिए, उतना अपने स्वामी द्वारा सम्मान नहीं मिला इस कारण पति–रोष से मृत्यु को प्राप्त कर वह उस भव में व्यन्तरी देवी हो गयी। प्रभु को देखते ही उसको पूर्वभव के वैर का स्मरण हो आया। वैर–परम्परा जन्म–जन्मान्तर तक चलती है। भगवान पार्श्वनाथ और कमठ का वैर भी अनेक भवों तक चलता रहा। यह महाघातक परम्परा है। उसी के कारण पूतना का वैर जागृत हुआ। उसने एक तापसी का रूप बनाया। सिर पर जटा, तन पर वल्कल वस्त्र धारण कर प्रभु के सम्मुख आई।

माघ ऋतु की वह भयंकर सर्दी, उसमें कटपूतना ने शीतल जल बरसाना प्रारम्भ किया। ऐसा शीतल जल, जिसके संस्पर्श मात्र से रोंगटे खडे हो जायें। ऐसी कंपकंपाने वाली शीतल जलधारा के साथ वह प्रभु के स्कन्धों पर खडी होकर शीतलहर चलाने लगी। शीतल पानी और ठंडी–ठंडी शीत लहरें उस शीत ऋतु में भयंकर कष्ट पैदा कर रही थीं। सम्पूर्ण रात्रि कटपूतना ने ऐसा शीत उपसर्ग दिया लेकिन त्रिशला–तनय प्रभु महावीर समभावपूर्वक सहन करते रहे और आत्मसाधना में लीन, धर्म–ध्यान में आरोहण करते रहे। इस प्रकार उपसर्ग सहन करने से भीषण कर्मों की निर्जरा करते हुए प्रभु का अवधिज्ञान विस्तृत हुआ। वे अवधिज्ञान से सम्पूर्ण लोक को जानने–देखने लगे। जब प्रभु देव भव से आये, तब जो अवधिज्ञान साथ में लाये, उससे वे एकादशांग सूत्रार्थ के धारण करने वाले बने लेकिन अब उनका अवधिज्ञानावरण

का क्षयोपशम विशेष होने से अवधिज्ञान विस्तृत बन गया[9]। कहा भी है, तिर्यंचों को मात्र अन्तगत अवधिज्ञान, मनुष्यों को अन्तगत एवं मध्यस्थ अवधिज्ञान तथा देव, नारक एवं तीर्थंकरों को मध्यस्थ अवधिज्ञान होता है[10]।

रात्रिभर रोष से व्याप्त चित्तवाली कटपूतना राक्षसी उपसर्ग दे–देकर विश्रांत हो गयी लेकिन परम सहिष्णु प्रभु उपसर्ग सहकर थके नहीं। उपसर्ग प्राप्ति के पहले भी वही मुस्कान और उपसर्ग समाप्ति के बाद भी वही मुस्कान। धैर्य की अप्रतिम प्रतिमा धारण किये प्रभु महावीर अपने आत्मचिंतन में तल्लीन थे। उनकी यह समता, सहिष्णुता, उत्तम तितिक्षा देखकर कटपूतना का हृदय द्रवीभूत हो गया। सोचा कि अहो! कहां रोष से संभृत मेरा मन और कहां घोर सहिष्णु प्रभु वीर! इतना जबरदस्त उपसर्ग दिया लेकिन वे धैर्यशाली, समता की साक्षात् मूर्ति बिलकुल विचलित नहीं हुए। धिक्कार है मुझे! मैंने इनको कितना कष्ट पहुंचाया है। अब मुझे क्षमायाचना कर लेनी चाहिए। इस प्रकार अत्यधिक पश्चात्ताप करती हुई प्रभु–चरणों में बारम्बार क्षमायाचना करती हुई वह कटपूतना स्वस्थान लौट गयी।

प्रभु वहां से विहार कर भद्रिकापुर आये और विविध अभिग्रहपूर्वक चौमासी तप का प्रत्याख्यान कर छठा चातुर्मास वहीं करने की प्रतिज्ञा की। गोशालक भी घूमता–घामता प्रभु से बिछुड़ने के छह माह पश्चात् वहीं आकर प्रभु से मिला और पुनः प्रभु की सेवा करने लगा। वर्षावास में अन्य कोई भीषण उपसर्ग नहीं आया। आत्मसमाधि में लीन रहते हुए छठा चातुर्मास व्यतीत हुआ। चातुर्मास व्यतीत होने पर विहार करके प्रभु नगर के बाहर पधारे। वहीं चातुर्मासिक तप का पारणा सम्पन्न हुआ[11]।

संदर्भ: साधनाकाल का षष्टम वर्ष, अध्याय 16

1. (क) त्रिषष्टि श्लाका पु. चा.; वही; पृ. 63
2. (क) ताहे–गोसालो भणति–तुब्भे हम्ममाणं ण वारेह, अविय तुब्भेहिं समं बहुवसग्गं, अन्नं च अहं चेव पढमं हम्मामि, तो वरं एगल्लो विहरिस्सं। आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 282

   (ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 282

3. (क) आवश्यक चूर्णि; पृ. 292
   (ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 282
4. उत्तराध्ययन सूत्र; अध्ययन 17
5. (क) जे आवि चंडे मइइड्ढिगारवे,
   पिसुणे नरे साहस हीणपेसणे।
   अदिट्ठधम्मे विणए अकोविए
   असंविभागी न हु तस्स मुक्खो। दशवैकालिक सूत्र; 9/2
   (ख) दशवैकालिक सूत्र; 9/1
   (ग) व्यवहार भाष्य; मलयगिरि वृत्ति सहित; संशोधक मुनि माणेक; प्रका. वकील त्रिकमलाल उगरचन्द तलियानी पोल, अहमदाबाद; सन् 1928 चतुर्थोद्देशः।
   (घ) पंचवस्तुक डार 4
6. दशवैकालिक 9/7
   सिआ हु से पावय नो डहिज्जा, आसीविसो वा कुवियो न भक्खे।
   सिआ विसं हालहलं न मारे, न आवि मुक्खो गुरुहीलणाए।।
7. आयरिए ति आयरियं, कोइ पडिणीओ विणासेउमिच्छाति, सो जइ अण्णहाण ह्राति तो से ववसेवणं पि कुज्जा। नि. चू.; गाथा 289
   निशीथ सूत्रम्; प्रथमो विभागः; सम्पा. श्री उपाध्याय अमरचन्दजी म. सा.;प्रका. सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा; प्र. सं. 1958, पृ. 100
8. आचारांग; प्रथम श्रुतस्कन्ध; पंचम अध्ययन।
   गुरु से कामा। ततो से मारस्स अंतो। जतो से मारस्स अंतो ततो से दूरे।
9. (क) त्रिषष्टि श्लाका पु. चा., वही, पृ. 66
   (ख) तं दिव्वं वेयणं अहियासंतस्स भगवतो ओही विगरिओ सव्वं लोगं पासितुमारद्धो, सेसं कालं गब्भातो आढवेत्ता जाव सालिसीसं ताव सुरलोग पमाणो ओही एक्कारस य अंगा सुरलोगगप्पमाणमेत्ता, जावतिय देवलोगेसु पेच्छिताइता। आव. चूर्णि; जिनदास; पृ. 292–93
10. नन्दी सूत्र टीका।
11. (क) पुणरवि भद्दियणगरे तवं विचित्तं तु छट्ठवासंमि।
   मगहाए निरुवसग्गं मुणि उदुबद्धंमि विहरित्था। 4–486/1130
   आवश्यक चूर्णि, जिनदास, पृ. 293
   (ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि, पृ. 283

साधनाकाल का सप्तम वर्ष – सप्तदश अध्याय

भद्रिका से विहार करके प्रभु मगध देश में पधारे। वह मगध जनपद उस समय का विख्यात जनपद था। शक्तिशाली सम्राट श्रेणिक वहां का अधिपति था। वहां के लोग भक्तिभाव परिपूर्ण, सरल मना, दानशील प्रवृत्ति के धनी थे। उसी मगध भूमि में प्रभु गोशालक सहित निरन्तर विचरण कर रहे हैं लेकिन वहां कोई भीषण उपसर्ग या परीषह प्रभु को झेलना नहीं पड़ा। इस प्रकार सुख–शांतिपूर्वक आठ माह तक विचरण करने के पश्चात् वे प्रभु आलभिका नगरी पधारे। वहां चातुर्मासिक तप के प्रत्याख्यान कर प्रभु ने सप्तम चातुर्मास करने का निश्चय किया। चार माह प्रभु विशिष्ट उपसर्गरहित साधना में लीन रहे। चार मास पूर्ण होने पर नगरी के बाहर पारणा किया[1]।

संदर्भ: साधनाकाल का सप्तम वर्ष, अध्याय 17

1. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 293

   (ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 283

साधना काल का अष्टम वर्ष – अष्ठदश अध्याय

प्रभु चातुर्मासिक तप का नगरी के बाहर पारणा करके कुण्डक ग्राम में पधारे। वहां वासुदेव के मन्दिर में, एक कोने में जैसे कोई रत्नमय प्रतिमा हो, उस भांति तपोतेज से जाज्वल्यमान होकर स्थित रहे। गोशालक वासुदेव की प्रतिमा की तरफ अशिष्टता करके खड़ा रहा। उसी समय पुजारी आया। उसने सोचा कि यह पिशाचग्रस्त अथवा उल्टी बुद्धि वाला दिखाई दे रहा है। ऐसा चिन्तन करता हुआ वह भीतर गया। जाते ही उसने प्रभु को देखा। देखकर चिन्तन किया कि ये जैन साधु हैं। यह जो व्यक्ति है वह इन्हीं के साथ है। यदि मैं इसको मारता हूं तो लोग मुझे अपराधी बतायेंगे और कहेंगे कि इसने निर्दोष साधु को पीटा है। इसलिए मैं इसको कुछ नहीं कहता हुआ सारी बात गांव वालों को कह देता हूं जिससे वे चाहें जैसा करेंगे। मेरी बदनामी नहीं होगी। वह पुजारी यह विचार कर गांव वालों के पास जाता है और सब हकीकत कह डालता है। गांव के युवा, बालक आकर गोशालक को बहुत पीटते हैं। बाद में वृद्ध व्यक्ति कहते हैं, अरे यह नासमझ है। इसे पीटने से क्या लाभ? ऐसा कहकर उसे छुड़ा देते हैं[1]।

वहां से कायोत्सर्ग पालकर प्रभु विहार करके मर्दन नामक ग्राम में पधारे। वहां बलदेव का मन्दिर था जहां प्रभु प्रतिमा धारण करके स्थित हो गये। गोशालक मन्दिर में जाता है और बलदेव की प्रतिमा के सन्मुख जघन्य कृत्य करता है। जिससे गांव वाले लोग उसे पीटते हैं। तब अनुभवी उसे पिशाचादि कहकर छुड़ा देते हैं[2]।

वहां से विहार कर प्रभु बहुशाल ग्राम पधारे। उस गांव में शालवन नामक उद्यान था। वहां शालार्या नामक एक व्यन्तरी थी। प्रभु को देखते ही उसका पूर्वभव का प्रभु के साथ निबद्ध वैर जागृत हो गया। तब उसने भगवान को उपसर्ग देना प्रारम्भ किया। एक के बाद एक, निरन्तर उपसर्ग देते हुए जब आखिरकार व्यन्तरी थक गयी तो [illegible] हो प्रभु–अर्चा कर स्वस्थान लौट गयी।

वहां से विहार कर प्रभु लोहार्गल नामक ग्राम में पधार रहे थे। वहां जितशत्रु नामक राजा राज्य करता था। उसका दूसरे राजा के

साथ विरोध था इसलिए राज्य कर्मचारी बड़ी सतर्कता से आने–जाने वालों का खयाल रखते थे। जब उन कर्मचारियों ने भगवान सहित गोशालक को आते हुए देखा तो पूछा– आप कौन? भगवान् के मौन था। उन्होंने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। गोशालक भी मौन धारण किये रहा। तब उन्होंने शत्रु राजा के हितैषी समझकर प्रभु एवं गोशालक को बांध दिया और राजा को लाकर सौंप दिया। उसी समय उत्पल नैमित्तिक, जो पहले प्रभु पार्श्वनाथ का शिष्य था, वह वहां आया हुआ था। उसने भगवान को पहचान लिया। प्रभु को देखते ही उसने वन्दना की और सब बात जितशत्रु से कही। तब राजा ने प्रभु और गोशालक को बन्धनमुक्त करके क्षमायाचना करते हुए भक्ति से वन्दन किया।

वहां से भगवान् पुरिमताल पधारे। वहां वागुर नामक एक धनाढ्य सेठ रहता था। उसकी भद्रा नामक स्त्री थी। वह वंध्या थी। उसने देवों की बहुत समर्चा की लेकिन सन्तानरत्न की प्राप्ति नहीं हुई। एक बार वे दोनों शकटमुख उद्यान में गये। वहां उन्होंने पुष्प चूंटने आदि की देवों जैसी क्रीड़ाएं कीं। क्रीड़ाएं करते–करते वे एक जीर्ण मन्दिर के पास आये। आकर दोनों ने उस मन्दिर में प्रवेश किया। वहां जो प्रतिमा बनी हुई थी। उसके सामने दोनों ने प्रार्थना की कि यदि आपके प्रभाव से हमारे सन्तान हो जायेगी तो इस जीर्ण मन्दिर का उद्धार करवा देंगे और सदा आपके भक्त बने रहेंगे। ऐसा कहकर घर आये। वहां उस मन्दिर के समीप कोई व्यन्तर देव रहता था। उसने इन वाक्यों को सुना और ऐसा कार्य किया कि भद्रा के गर्भ रह गया जिससे वह सेठ हर्षित हुआ और मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाने लगा और समय–समय पर उस प्रतिमा की पूजा करने लगा। उस सेठ को जिनभक्त जानकर साधु–साध्वी भी उसके घर आने लगे। साधुओं की संगत से श्रेष्ठ बुद्धि वाले उस सेठ ने श्रावक के बारह व्रत अंगीकार कर लिये।

जब भगवान पुरिमताल पधारे तो वे शकटमुख उद्यान में ध्यानस्थ बनकर खड़े रहे। वहां ईशानेन्द्र जिनेश्वर देव को वन्दन करने आये और सेठ मंदिर की पूजा करने जा रहा था तब ईशानेन्द्र ने कहा– अरे सेठ! इन प्रत्यक्ष जिनेश्वर का उल्लंघन करके अन्य के बिम्ब को पूजने कहां जा रहा है? भगवान महावीर चरम तीर्थंकर हैं। वे छद्‌मस्थ

रूप में विहार करके प्रतिमा धारण किये शकटमुख उद्यान में हैं। इन सत्य वचनों को सुनकर सेठ ने अपने दुष्कृत्य के लिए मिच्छामि दुक्कड़ं किया[3] और तीन बार प्रदक्षिणा देकर प्रभु को वन्दन कर ईशानेन्द्र और वागुर सेठ अपने–अपने स्थान को लौट गये।

वहां से विहार कर प्रभु उष्णाक ग्राम की ओर पधार रहे थे। रास्ते में नवविवाहित, विकृत आकृतिवाला वर–वधू का जोड़ा मिला। उन्हें देखकर गोशालक बोला– देखो तो, इन दोनों का कैसा मोटा पेट है, कितने लम्बे दांत हैं। होंठ कैसे लटक रहे हैं, नाक एकदम पिचका हुआ है। कैसी विधाता की खूवी है कि दोनों को एक जैसा बनाया है। इस प्रकार उनकी हंसी उड़ाता हुआ गोशालक बार–बार उनके सामने जाकर कहने लगा। तब उन नवोढा युगल के साथ वाले व्यक्ति कोपायमान हो गये और गोशालक को बांध कर फेंक दिया। तब गोशालक ने प्रभु से कहा– हे स्वामी! मुझे इन लोगों ने बांध दिया है फिर भी आप मेरी उपेक्षा कर रहे हैं। दूसरे लोगों पर तो आप अत्यन्त दया करते हैं और मुझ पर आपकी कोई कृपा नहीं है। तब सिद्धार्थ ने कहा– तूं अपनी ही चपलता और दुश्चरित्र से दुःख पाता है। प्रभु आगे चल दिये लेकिन करुणा की निर्मल धार से संप्रेरित हो थोड़ी दूर जाकर रुक जाते हैं। तब वर–वधू के साथ वाले व्यक्तियों ने कहा– देखो, देवार्य इसकी (गोशालक की) राह देख रहे हैं। यह उनका छत्रधारी, पीढधारी या सेवक है इसलिए इसको छोड़ देना चाहिए[4]। तब उन व्यक्तियों ने भगवान के पुण्य प्रताप से प्रेरित होकर उसे बंधनमुक्त कर दिया। प्रभु गोशालक के साथ विहार करते हुए अनुक्रम से गोभूमि पधारे। वहां गोशालक ने एक ग्वाले से पूछा– अरे वीभत्स मूर्तिवाले ओ! अरे म्लेच्छ! अरे! अपने घर में शूरवीर ओ ग्वाले! यह मार्ग किधर जाता है? तब ग्वाले ने इस प्रकार के कर्णकटु शब्दों को सुनकर कहा, अरे मुसाफिर! तूं बिना कारण किसलिए हमको गाली दे रहा है। अरे सियार! तुम्हारा नाश हो जावे!

गोशालक– अरे दासीपुत्र! अरे पशुपुत्र! यदि तुम हमारा इतना आक्रोश सहन नहीं कर सकते तो मैं और अधिक गुस्सा करूंगा। और मैंने तुम्हें क्या गाली दी? मैंने तुम्हें बीभत्स और म्लेच्छ ही तो कहा है, तो तुम

वीभत्स और म्लेच्छ ही तो हो। मैं तुम्हें कोई गलत थोड़े ही कह रहा हूं।

गोशालक की यह बात सुनकर ग्वाले को बहुत गुस्सा आया और क्रोध से उसने गोशालक को बांध कर बांस के वन में फेंक दिया।

गोशालक बन्धन में बंधकर तड़फने लगा। संयोगवश दूसरे मुसाफिर आये। उन्होंने गोशालक को बन्धन में आबद्ध तड़फते हुए देखा, तब उसे छुड़ाया। भगवान् वहां से विहार करके राजगृह नगर पधारे।

राजगृह नगर दानदाताओं और दयालु प्रकृति के लोगों की नगरी थी। धन–सम्पन्न राजगृह नगर के लोग बड़े ही धर्मात्मा थे। वह मगध देश की राजधानी और राजा श्रेणिक की आवासस्थली थी। उस राजगृह में अष्टम चातुर्मास करने महाप्रभु महावीर पधारे और चौमासी तप का प्रत्याख्यान कर विविध प्रकार के अभिग्रह धारण करके अष्टम चातुर्मास आत्मसमाधि में लीन बनकर सम्पन्न करने लगे।

विशिष्ट उपसर्गरहित अष्टम चातुर्मास सानन्द सम्पन्न हुआ। चातुर्मास समाप्त होने पर नगर के बाहर चातुर्मासिक तप का पारणा किया। पारणा करने के पश्चात् प्रभु ने चिन्तन किया कि मेरे अभी बहुत कर्म अवशिष्ट हैं जिनकी निर्जरा आर्य देश में सम्भव नहीं। अनार्य देश में ही हो सकती है, अतः अनार्य देश जाना चाहिए। ऐसा विचार कर प्रभु ने अपने चरण अनार्य देश की ओर गतिमान किये[5]।

संदर्भः साधनाकाल का अष्टम वर्ष, अध्याय 18

1. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 293
   (ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 283–84
2. त्रिषष्टिश्लाका पु. चा.; पृ. 67
3. (क) ततो आगतो मिच्छामिदुक्कडं काउं खामेइ महिमं च करेइ। आवश्यक चूर्णि, मलयगिरी, पृ. 284
   (ख) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 295
4. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 295
   (ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरी; पृ. 285
6. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 296
   (ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 2
   (ग) त्रिषष्टिश्लाका पु. चा.; वही; पृ. 70

साधनाकाल का नवम वर्ष – एकोनविंशति अध्याय

कर्म निर्जरा के प्रसंग से प्रभु गोशालक सहित वज्रभूमि, शुद्धभूमि और लाट देश में विहरण करने लगे। उस अनार्य देश के क्रूरकर्मा अनार्य लोग बड़े ही स्वच्छन्दी थे। जैसे परमाधामी देव नारकों को भीषण वेदना उपजाते हैं वैसे ही वे लोग भगवान को विविध यातनाएं देने लगे। कोई डंडे से जोरदार मारता है तो कोई मुट्ठी से प्रहार करता है, कोई लाठी से मारता है, कोई पशु को देखकर वीभत्स अट्टहास करता है, कोई निंदा करता है, कोई शिकारी कुत्तों से प्रभु का शरीर कटवाता है। प्रभु उनको कर्मक्षय का साधन मानकर उन प्राणियों पर अत्यधिक अनुकम्पा भाव बरसाते थे। पीड़ा देने वालों पर भी प्राण–वत्सलता का भाव, कितना पावन चिन्तन, जिन्हीं से कर्मजयी महावीर अवस्मरणीय बन गये।

अपने अंगूठे के स्पर्श से लक्ष योजन ऊँचा मेरु पर्वत कम्पायमान करने वाले, लोक को अपनी कनिष्ठा अंगुली पर उठाने की शक्ति–सामर्थ्य रखने वाले प्रभु महावीर अनार्य लोगों द्वारा दिये गये उपसर्गों को भी समभावपूर्वक सहन कर रहे हैं, शक्ति होने पर भी प्रतिकार नहीं करने की भावना से अशुभ कर्मवृन्दों का क्षय कर रहे हैं। शक्रेन्द्र ने प्रभु की सेवा के लिए सिद्धार्थ देव की नियुक्ति की थी लेकिन वह गोशालक को उत्तर देने को तैयार था। प्रति समय प्रभु के साथ नहीं रहता था क्योंकि भगवान उसकी सहायता की अपेक्षारहित थे। प्रभु चरणों में बड़े–बड़े इन्द्र आकर के प्रणाम करते हैं लेकिन कर्मक्षय करने के इस भीषण युद्ध में वे स्वयं ही पुरुषार्थ करते हैं। वे इन्द्र तनिक भी सहायता नहीं कर सकते हैं। जिनके स्मरण मात्र से सारे उपद्रव नष्ट हो जाते हैं उन वीर प्रभु को सामान्य व्यक्ति भी भीषण उपसर्ग पहुंचा रहे हैं। कर्म गति का कैसा विचित्र खेल है कि परमेश्वर को भी ऐसी भीषण आपत्तियों का सामना करना पड़ रहा है। कहीं–कहीं तो भगवान को रहने तक का स्थान नहीं मिलता तो भीषण सर्दी–गर्मी का परीषह सहन करना पड़ता है। भगवान ने छः महीने तक ऐसे भीषण उपसर्गों को सहन किया। ऐसे विकट स्थान पर, कभी शून्यागार [illegible] वृक्ष के

तले रहकर नवम चातुर्मास पूर्ण किया[1]।

संदर्भः साधनाकाल का नवम वर्ष, अध्याय 19

1. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 296

(ख) ते अणारिया जणा निरणुकंपा निद्दया सामिं हीलेंति, निंदंति, कुक्कुरे छुच्छुक्कारेंति, ततो ते कुक्कुरा डसंति, 'सयं च ते भयवं आहंसु' एवमाइ बहूवसग्गा, तत्थ नवमो वासारत्तो कतो, तत्थ न भत्तपाणं, नेव वसही लद्धा, एवं तत्थ छम्मासे अणिच्च जागरियं विहरितो। आव. मलयगिरी; पृ. 285

(ग) त्रिषष्टिशलाका पु. चा.; वही; पृ. 70

साधनाकाल का दशम वर्ष – विंशति अध्याय

अनार्य देश से प्रभु का आर्य देश में पदार्पण हो चुका है। वे अनार्य देश से विहार करके गोशालक के साथ सिद्धार्थपुर पधार गये हैं। वहां से कूर्मग्राम की तरफ विहार किया। मार्ग में एक तिल का पौधा गोशालक ने देखा, देखकर गोशालक के मन में जिज्ञासा हुई कि इस पौधे के बारे में भगवान से पूछना चाहिए। तब उसने प्रभु से पूछा–भगवन्! यह तिल का पौधा फलित होगा या नहीं?

भगवान्– ये तिल का पौधा विकसित होगा। इस पुष्प में सात जीव हैं जो यहां से च्यवकर एक फली में पैदा होंगे और सातों तिल के रूप में होंगे।

प्रभु के इन वचनों को सुनकर उनके वचनों को मिथ्या करने के लिए गोशालक ने उस तिल के पौधे को उखाड दिया। वीतराग–वाणी असत्य नहीं होती, इसी कारण एक व्यन्तर देव ने वहां मेघ वृष्टि की और किसी गाय के खुर से वह पौधा भूमि में दबा। उसमें समय आने पर नये अंकुर आये और पुष्प के सात जीव एक ही फली में सात तिल के रूप में पैदा हुए[1]।

इधर पौधा उखाडने के पश्चात् गोशालक प्रभु के साथ विहार करके कूर्मग्राम आया। उस कूर्मग्राम में वैश्यायन बालतपस्वी आया हुआ था। वह बालतपस्वी कौन था, कैसे तपस्वी बना, इसका भी रोचक वृत्तान्त है।

पूर्ण नहीं हुई।

गोबर गांव के समीप ही खेटक नामक एक ग्राम भी था। उस ग्राम को चोरों ने नष्ट–भ्रष्ट कर दिया और बहुत–से ग्रामवासियों को बन्दी बना लिया। उसी ग्राम में वेशका नामक एक स्त्री थी जिसने अभी–अभी एक पुत्ररत्न को जन्म दिया। उसके पति को चोरों ने मार दिया था। अत्यन्त रूपवान उस स्त्री को देखकर चोरों ने उसे अपने साथ ले लिया। वह स्त्री हाथ में नवजात शिशु को लेकर चोरों के साथ चलने लगी। बालक हाथ में होने से धीरे–धीरे चलने के कारण चोरों से पीछे रह गयी। तब चोरों ने कहा–अरे! यदि तूं जीवित रहना चाहती है तो इस बालक को छोड़ दे अन्यथा तुम्हें भी अभी मार डालेंगे। मृत्यु का भय जबरदस्त होता है। मृत्युभय से अपने प्राण–प्यारे बालक को एक वृक्ष नीचे उस स्त्री ने छोड़ दिया और चोरों के साथ चलने लगी।

वह स्त्री चोरों के साथ चली गयी। वृक्ष के नीचे वह बाल–शिशु सोया है। धरती माता की गोद में सोया किलकारियां कर रहा है। उसका रक्षण प्रकृति कर रही है। प्रातःकाल हुआ और गोशंखी गायें चराने हेतु उधर ही निकला। वृक्ष के नीचे बालक को सोया हुआ देखा। इधर–उधर दृष्टि फैलायी लेकिन कोई दिखाई नहीं दिया तब गोशंखी ने चिन्तन किया कि यह बालक मुझे स्वतः ही मिल गया है। इसका रूप–लावण्य बड़ा आकर्षक है। इसे मैं घर ले जाता हूं और पुत्र–रूप में इसका पालन करूंगा। यह सोचकर गोशंखी उस बाल–शिशु को अपनी उत्संग में ग्रहण कर हर्षविभोर हो ले जाता है। घर पहुंच कर गोशंखी ने अपनी पत्नी से कहा– देखो आज प्रकृति ने तुम्हारी सूनी गोद भर दी है। पत्नी ने मातृत्वभाव की वात्सल्यभरी निगाहों से बालक को देखा और बोली कि लोक में इसे अपने बालक के रूप में ख्यापित करें तभी मेरा वंध्यापन नष्ट होगा। तब गोशंखी ने कहा– इसमें क्या है? अभी वैसा ही करते हैं, ऐसा कहकर मोहान्ध बनकर एक भेड़ का वध किया, उसका रुधिर बालक के शरीर पर लगाया, पत्नी को सूतिका का वेश पहनाकर कमरे में सुलाया, बालक को उसके पास रखा और गांव में चर्चा करी कि मेरी पत्नी के गुप्त गर्भ था[2]। आज एक शिशु का जन्म हुआ। इस प्रकार चहुं ओर वार्ता फैली। 'बधाई हो बधाई

[illegible] से घर आंगन गुंजायमान हुआ। गोशंखी ने महोत्सव किया और वह बालक धीरे–धीरे वडा होने लगा।

इधर चोर उस वेशिका को चम्पापुरी में ले गये और चौराहे पर उसे वेचने की वोली लगायी। एक वेश्या ने उसे देखा और अपने काम मे आने योग्य जानकर खरीद लिया। वेश्या ने उसे अपना समस्त कार्य सिखलाकर वेश्या कर्म में प्रवीण वना दिया। धीरे–धीरे उसने अपने कौशल से ख्याति प्राप्त की और चम्पा की एक प्रख्यात गणिका वन गयी।

वेशिका का पुत्र गोशंखी के यहां धीरे–धीरे बड़ा हो गया और वह व्यापार करने में दक्ष वन गया। एक दिन वह घी का गाड़ा भरकर वेचने के लिए चम्पा नगरी आया। वहां उसने सुन्दर रमणियों के साथ पुरुषों को विलास करते देखा तो काम–वासना जागृत हो गयी। उसी का पोषण करने हेतु गणिका वस्ती में गया। अपनी मां वेश्या को देखा और उसके साथ भोग–भोगादि की वासना उदीयमान हो गई। उसने उस वेशिका को एक आभूषण दिया और रात्रि में स्नान विलेपनादि करके वेशिका से मिलने को जाने लगा।

मार्ग में गमन करते हुए उसका एक पैर विष्टा में गिरा लेकिन मोह के उस प्रवल नशे में उसे कुछ भी पता नहीं चला। तव कुलदेवता ने उसे प्रतिवोधित करने का निश्चय किया और एक गाय तथा वछड़े का रूप वनाया। उस वछडे को देखकर वह लड़का वछडे के साथ–साथ पैर रखने लगा। तव वछडा मानव वाणी में अपनी मां से वोला– मातुश्री देखिए यह लड़का अपने विष्ठायुक्त पैर को मेरे पैर के साथ रख रहा है। तव उसकी मां मानव वाणी में वोली– बेटा, यह इसका अपकृत्य [illegible] विशेष नहीं। यह तो मोहान्ध वनकर अपनी मां के साथ काम–भोग [illegible] जा रहा है। उस अपकृत्य का क्या कहना? उस लड़के ने [illegible]– और गोवत्स और गाय मनुष्य वाणी में वोल रहे हैं। क्या इनका [illegible] सत्य है? इसकी परीक्षा करनी चाहिए। इसी भाव से वह वेश्या [illegible] पहुंचा। वेश्या अपने हाव–भाव से उसका मन मुग्ध करने [illegible] करने लगी पर उस लड़के ने कहा– पहले मैं जो प्रश्न पूछूं [illegible] सत्य–सत्य उत्तर देगी तो मैं तुम्हें वहुत–सा धन दूंगा। उसने

ने कहा– पूछिये। तब लड़का बोला– बताओ, तुम्हारे एक लड़का था? वेश्या ने कहा– हां।

लड़का – तब उसे कहां छोड़ा?

वेश्या – वृक्ष के नीचे।

लड़का – क्यों?

वेश्या – चोरों द्वारा मृत्यु का भय दिखाने पर।

उस लड़के ने वेश्या की आद्योपान्त हकीकत पूछी। वेश्या ने सब सत्य–सत्य बतलाई। वह लड़का वहां से उठा, स्वयं के घर गया। अपने माता–पिता से हकीकत पूछी। जब उन्होंने सत्य बात नहीं कही तब वह वहां से निकलने लगा। उसे जाता हुआ जानकर माता–पिता ने सत्य बात बतला दी। उसे जानकर वह पुनः चम्पा गया और वेशिका से सारी बात कही। जब वेशिका ने अपने पुत्र को जाना तब वह रुदन करने लगी कि बेटा! अब तूं मुझे इस कुकर्म से बचा ले। तब उस लड़के ने उस वेश्या को, जिसने वेशिका को खरीदा, उसे बहुत–सारा धन देकर छुड़ा लिया और अपने गांव ले गया। वहां मां के साथ रहने लगा। वेशिका–पुत्र होने से लोग उसे वेशिकायन कहने लगे। वह वेशिकायन अब विषयों से विरक्त बन गया[3]। अपनी मां से वृत्तान्त जानकर वह उदासीन रहने लगा। संयोग मिलने पर उसने तापस व्रत ग्रहण कर लिया। धीरे–धीरे वह अपने शास्त्राध्ययन में कुशल एवं आचरण में प्रवीण बन गया। एकदा वह तापस घूमता–घूमता कूर्मग्राम में प्रभु महावीर से पहले ही पहुंच गया था। कूर्मग्राम के बाहर वह तपस्वी वट वृक्ष की जड़ों जैसी दीर्घ जटावाला, मध्याह्न के समय ऊँचे हाथ करके सूर्याभिमुख होकर आतापना लेता था। वह स्वभाव से विनयवान, दयालु, धर्म–ध्यान में तत्पर था। उसके सिर में बहुत जुएं पड़ी हुई थीं। वे जुएं सूर्य तप से जैसे ही जमीन पर गिरतीं वह तपस्वी उन पर अनुकम्पा करके पुनः सिर में डाल लेता। जब गोशालक ने उसे इस प्रकार जुएं डालते हुए देखा तब बोला– अरे तपस्वी! तूं तत्त्वज्ञाता है अथवा जुओं का शय्यातर? तूं स्त्री है या पुरुष? तूं अल्पज्ञ दीख रहा है। इस प्रकार कहने पर भी वह तपस्वी मौन रहा लेकिन गोशालक तो अपने क्रूर स्वभाव के कारण उसे बार–बार कहता ही रहा। तब उस

तपस्वी को क्रोध आया और उसने गोशालक पर तेजोलेश्या छोड़ी। भगवान् ने शीतल लेश्या से उसकी रक्षा की[4]। प्रभु तो पापियों की भी रक्षा करने वाले थे। उनकी इस अनुकम्पा से प्रभावित होकर वह तपस्वी प्रभु के पास आया और निवेदन किया कि भगवन्! मुझे आपके अतिशय प्रभाव का ज्ञान नहीं था। अब मैं आपके अतिशय को जान रहा हूं तो आप मेरे इस कार्य के लिए क्षमा करना। इस प्रकार बारम्बार क्षमायाचना करता हुआ तापस लौट गया। तदनन्तर गोशालक ने प्रभु से पूछा– भगवन्! तेजोलेश्या की लब्धि कैसे प्राप्त होती है? भगवान ने फरमाया– जो मनुष्य छह महीने तक निरन्तर बेले–बेले पारणा करता है, पारणे में एक मुट्ठी उड़द और एक अंजलि पानी पीता है उसको छह मास के अन्त में विपुल तेजोलेश्या लब्धि प्राप्त होती है[5]। स्थानांग सूत्र में भी तेजोलेश्या लब्धि–प्राप्ति के तीन कारण कहे हैं। यथा– 1. आतापना (शीत–तापादि रूप आतापना लेने) से, 2. शांति–क्षमा (क्रोध–निग्रह) से, 3. अपानकेन तपकर्म (छट्ठे–छट्ठे भक्त तपस्या करने) से।

इस प्रकार करुणानिधि प्रभु ने पीड़ा पहुंचाने वाले उस गोशालक को भी अनुकम्पा करके मृत्यु से बचा दिया और तेजोलेश्या प्राप्त करने की विधि बतलाई।

तत्पश्चात् कूर्मग्राम से विहार कर भगवान गोशालक सहित सिद्धार्थपुर नगर पधारे। मार्ग में पहले जहां तिल का पौधा था, वह स्थान आया तब गोशालक ने कहा कि भगवन्! आपने जिस तिल के पौधे का उगने को कहा था वह तिल का पौधा तो उगा ही नहीं है। प्रभु ने कहा– उग गया है। तब गोशालक नहीं माना। उसने तिल के पौधे को इधर–उधर देखा, तब पौधा दिखा, दिखने पर उसकी फली को चीरा तो उसमें सात तिल दिखाई दिये। तब गोशालक ने सिद्धान्त बनाया कि शरीर का परिवर्तन करके जीव पुनः वहां उत्पन्न हो जाता है।

गोशालक ने चिन्तन किया– प्रभु के साथ रहने से अभी तक [illegible] अभी मुझे तेजोलेश्या की लब्धि प्राप्त कर लेनी चाहिए, ऐसा सोचकर गोशालक प्रभु को छोड़कर श्रावस्ती नगरी गया। वहां एक कुम्भकार शाला में [illegible] छह [illegible] बेले–बेले

पारणा करके, बेले के पारणे में एक मुट्ठी उड़द और एक अंजलि जल ग्रहण करने लगा और भुजाओं को सूर्य की तरफ ऊँची करके आतापना लेने लगा। इस प्रकार छह मासपर्यन्त करने पर उसे तेजोलेश्या की लब्धि प्राप्त हो गयी।

अब गोशालक के मन में चंचलता हो गयी कि जो तेजोलेश्या प्राप्त की है उसका प्रयोग करना चाहिए। उसका प्रयोग करने के लिए वह एक कुएं के पास गया। वहां एक दासी घड़े में पानी भरकर ले जा रही थी। उसने उस दासी के घड़े पर एक कंकर मारा। दासी का घड़ा फूटा तब वह गोशालक को गालियां देने लगी। गोशालक को क्रोध आया और उस पर तेजोलेश्या छोड़ी। वह दासी वहीं जलकर भस्म हो गयी। अब उसे कौतुक उत्पन्न हो गया। लोगों ने भी उसकी तेजोलेश्या का प्रभाव देखा तो लोग भी उसके साथ–साथ विहार करने लगे।

विहार करते हुए एक बार भगवान पार्श्वनाथ के छह शिष्यों की, जो चारित्र का परित्याग कर अष्टांग निमित्त के पंडित हो गये, गोशालाक से मुलाकात हुई। उन सबकी गोशालक के साथ मैत्री हो गयी तब गोशालक को अहंकार हुआ कि मैं तेजोलेश्या का जानकार और ये छह मेरे शिष्य अष्टांग निमित्त के जानकार हैं। अहो! हम सबको कितना ज्ञान है। वास्तव में मैं जिनेश्वर हूं। इस प्रकार मति वाला गोशालक अजिन भी स्वयं को जिनेश्वर कहता हुआ भूमण्डल पर विचरण करने लगा[8]।

इधर भगवान महावीर सिद्धार्थपुर से विहार करके वैशाली नगर पधारे। नगर के बाहर भगवान ध्यानस्थ मुद्रा में लीन हो गये। अनेक बालक बाल–क्रीड़ा करते हुए वहां पर आये और प्रभु को पिशाच समझ कर यातना देने लगे। अचानक वहां पर प्रभु के पिता का मित्र शंख गणराज अपने विशाल राजकीय परिवार के साथ आया। उसने देखा कि बालक प्रभु को यातना दे रहे हैं। उन बालकों को उसने हटाया और भगवान को वन्दन, नमस्कार कर लौट गया। वहां से विहार कर प्रभु वाणिज्यग्राम पधारे। उस मार्ग में मंडिकीका (गंडकी) नामक एक नदी पड़ती थी। उस नदी को पार करने के लिए प्रभु नौका में विराजे। नाविक ने नदी पार कराई और भयंकर तप्त बालुका वाले

(ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 286

4. त्रिषष्टि श्लाका पु. चारित्र एवं जैन धर्म का मौलिक इतिहास एवं तीर्थकर चारित्र भाग 2 (बालचन्दजी श्रीश्रीमाल) में वर्णन मिलता है कि जब वैश्यायन बालतपस्वी ने गोशालक पर लेश्या छोड़ी तो वह तेजोलेश्या के भय से भयभीत बनकर भगवान् के पास आया लेकिन यह बात भगवती से मेल नहीं खाती। भगवती सूत्र में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि गोशालक पर जब वैश्यायन बालतपस्वी ने तेजोलेश्या छोड़ी तब वह भयभीत हुआ एवं तदुपरान्त प्रभु ने उसकी रक्षा की। भगवती सूत्र का मूल पाठ इस प्रकार है :–
तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे आसुरत्ते जाव मिस–मिस माणे आयावण भूमिओ पच्चोसक्कइ पच्चोसक्कइत्ता तेयासमुग्धाएणं संमोहणइ संमोहणइत्ता सत्तट्ठ पयाइं पच्चोसक्कइ पच्चोसक्कइत्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स वहाए सरीरगं तेयलेस्सं निस्सरई। तए णं अहं गोयमा! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अणुकम्पणट्ठाए वेसियायणस्स बालतवस्सिसस्स उसिणतेयलेस्सा पडिसाहरणट्ठाए एत्थणं अंतरा सीयलीयं तेयलेस्सं निस्सरामि।

भगवती 15–1

आवश्यक चूर्णि में भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि जब वैश्यायन बालतपस्वी ने गोशालक पर तेजोलेश्या छोड़ी तब वह भयभीत नहीं हुआ, अपितु ऐसा उल्लेख मिलता है कि जब भगवान ने शीतल से तेजोलेश्या का प्रतिकार किया और वैश्यायन बालतपस्वी ने प्रभु से क्षमायाचना की तब गोशालक ने प्रभु से सारी जानकारी करी और फिर भयभीत हुआ। वहां का मूल पाठ इस प्रकार है :–
ताहे सामिणा तस्स अणुकंपट्ठाए वेसियायणस्स उसिणतेय–पडिसाहरणट्ठाए एत्थंतरा सीतलिता लेस्सा णिसिरिया सा जंबुदीवं बाहिरओ वेढेति उसिण तेयलेस्सा, भगवतो सीतलिता तेयल्लेस्सा अब्भंतरओ वेढेति, इतरा तं परिचयंति सा तत्थेव सीतलाए विज्झविता, ताहे सो भगवतो लद्धिं पासित्ता भणति से गतमेतं भगवं! गतमेतं भगवं! ण जाणामि जहा तुब्भं सीसो, खमह, ताहे गोसालो पुच्छति–सामी! किं एस जूयासेज्जातरे पलवति? सामिणो कहितं जधा [illegible], ताहे गोसालो पुच्छति, भगवं! किह संखित्तविउलतेयलेस्सो भवति?

आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 298–99

तेजोलेश्या को शीतललेश्या से शमित करना रक्षा रूप धर्मकार्य था। इसी कारण करुणानिधि भगवान ने अनुकम्पा करके तेजोलेश्या का प्रतिकार करने के लिए शीतललेश्या छोड़ी लेकिन उस सम्बन्ध में भ्रमविध्वंसन ग्रन्थ में ऐसा उल्लेख है कि भगवान महावीर ने छद्मस्थावस्था में शीतललेश्या को प्रकट करके गोशालक की प्राण–रक्षा की थी। इसमें भगवान को जघन्य तीन और उत्कृष्ट पांच क्रियाएं लगी थीं क्योंकि पन्नवणा पद 36 में तेज समुद्घात करने से जघन्य तीन एवं उत्कृष्ट पांच क्रियाओं का लगना लिखा है। शीतललेश्या भी तेजोलेश्या ही है अतः उसमें भी समुद्घात होता है। इसलिए भगवान ने शीतललेश्या प्रकट करके जो गोशालक की रक्षा की उसमें उन्हें जघन्य तीन और उत्कृष्ट पांच क्रियाएं लगीं।

लेकिन यह कथन आगमविरुद्ध है क्योंकि आगम में तेजसमुद्घात करने से जघन्य तीन और उत्कृष्ट पांच क्रियाएं लगने का कहा है। परन्तु उष्ण तेजोलेश्या प्रकट करने में तेज–समुद्घात होता है, शीतललेश्या के प्रकट करने में नहीं। भगवती सूत्र, शतक पन्द्रह में उष्ण तेजोलेश्या प्रकट करने में समुद्घात बताया है, शीतललेश्या में नहीं। अतः भगवान को शीतललेश्या प्रकट करने में अन्यान्य क्रियाएं लगने की बात निरर्थक है।

उष्ण तेजोलेश्या का प्रयोग करने में उत्कृष्ट पांच क्रियाएं लगती हैं। कायिकी[1], अधिकरणिकी[2], प्राद्वेषिकी[3], परितापनिकी[4] और प्राणातिपातिकी[5]। उक्त पांचों क्रियाएं हिंसा के साथ सम्बन्ध होने से लगती है, रक्षा करने वाले को नहीं। स्थानांग सूत्र, द्वितीय स्थान में इन क्रियाओं का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है कि जो क्रिया शरीर से की जाती है, वह कायिकी क्रिया है। वह दो तरह की है– 1. अनुपरत कायक्रिया और 2. दुष्प्रयुक्त कायक्रिया। जो क्रिया सावद्य कार्य से अनिवृत्त मिथ्यादृष्टि एवं अविरत सम्यक्दृष्टि पुरुष के शरीर से उत्पन्न होकर कर्मबन्ध का कारण बनती है, वह अनुपरत कायक्रिया कहलाती है। और प्रमत्त संयम पुरुष अपने शरीर से इन्द्रियों को इष्ट या अनिष्ट लगने वाली वस्तु की प्राप्ति और परिहार के लिए आर्तध्यानवश जो क्रिया करता है वह दुष्प्रयुक्त कायक्रिया कहलाती है। अथवा मोक्ष–मार्ग के प्रति दुर्व्यवस्थित संयत पुरुष अशुभ मानसिक संकल्पपूर्वक शरीर से जो क्रिया करता है, वह भी दुष्प्रयुक्त कायक्रिया कहलाती है।

अधिकरणिकी क्रिया दो तरह की है– संयोजना अधिकरणिकी और निवर्तन अधिकरणिकी। तलवार में उसकी मूठ को जोड़ने की क्रिया को

संयोजना अधिकरणिकी और तलवार एवं उसकी मूठ बनाने की क्रिया को निवर्तन अधिकरणिकी क्रिया कहते हैं।

जो क्रिया किसी पर द्वेष करने पर की जाती है वह प्राद्वेषिकी क्रिया है। वह भी दो प्रकार की है। 1. जीव प्राद्वेषिकी और 2. अजीव प्राद्वेषिकी। किसी जीव पर द्वेष करके जो क्रिया की जाती है वह जीव प्राद्वेषिकी और अजीव पर द्वेष करके जो क्रिया की जाती है उसे अजीव प्राद्वेषिकी क्रिया कहते हैं।

किसी व्यक्ति को प्रताड़ना आदि के द्वारा परिताप देना परितापनिकी क्रिया है। वह भी दो प्रकार की है। स्वहस्त परितापनिकी और परहस्त परितापनिकी। अपने हाथ से किसी को परिताप देना स्वहस्त परितापनिकी है। दूसरों के हाथ से किसी को परिताप दिलाना परहस्त परितापनिकी है।

किसी जीव की घात करना प्राणातिपातिकी क्रिया है। वह दो प्रकार की है। स्वहस्त प्राणातिपातिकी और परहस्त प्राणातिपातिकी। अपने हाथ से जीवों का वध करना स्वहस्त प्राणातिपातिकी है तथा दूसरों के हाथों से जीवों का वध कराना परहस्त प्राणातिपातिकी है।

इन पांचों में से एक भी क्रिया शीतललेश्या के प्रयोग में नहीं लगती क्योंकि इसमें जीव विराधना का कोई प्रसंग नहीं अपितु जीवरक्षा का प्रसंग है। जीवरक्षा पाप नहीं अपितु धर्म है। जब गोशालक को पूर्व में भी बांध कर बांस के वन में फेंक दिया तब करुणानिधि महावीर अनुकम्पा करके पीछे मुड़कर देखते हैं और वहीं खड़े होते हैं। उनकी करुणा को देखकर ही लोग गोशालक को बन्धनमुक्त करते हैं। इस प्रकार रक्षा करने में धर्म है, पाप नहीं। भम्रविध्वंसनकार का यह मानना कि भगवान गोशालक को बचाकर चूक गये और उन्हें क्रिया लगी, यह शास्त्रविरुद्ध है। आचारांग में स्वयं भगवान महावीर ने यह फरमाया है कि मैंने छद्मस्थावस्था में किसी पाप का सेवन नहीं किया। साथ ही भगवान छद्मस्थ अवस्था में कषाय–कुशील–नियंठा थे। कषाय–कुशील–नियंठा दोष के अप्रतिसेवी होते हैं। अतः भगवान को चूका कहना, यह मतिकल्पित धारणा है।

भ्रमविध्वंसनकार यह कहते हैं कि रक्षा करने में धर्म होता तो भगवान ने अपने सामने जलकर भस्म होने वाले सुनक्षत्र और सर्वानुभूति को क्यों नहीं बचाया? तो इसका स्पष्टीकरण यह है कि भगवान केवलज्ञानी थे। उनकी मृत्यु वैसे ही होनी अवश्यंभावी थी। तब उन्हें भगवान कैसे वचा सकते थे? भ्रमविध्वंसनकार कहते हैं कि तेजोलेश्या को वुझाने में भी आरम्भ हुआ लेकिन उनका कहना ठीक नहीं है क्योंकि भगवती सूत्र, शतक सात,

उद्देशक दस में तेजोलेश्या के पुद्गलों को अचित्त कहा है। इस प्रकार भगवान का यह कार्य धर्मरूप था, न कि पापरूप।

विशेष विस्तार के लिए देखें–

(क) सद्धर्म मण्डनम्; आचार्य श्री जवाहर; प्रका. जवाहर साहित्य समिति; भीनासर (बीकानेर); द्वितीय संस्करण 1966; पृ. 273–84

(ख) लेश्या कोश; सम्पा. मोहनलाल बांठिया, श्रीचन्दचोरड़िया; प्रका. मोहनलाल बांठिया 16सी, डोवर लेन, कोलकाता 29; 1966; पृ. 41–42

(ग) आयुर्वेद महावीर; नेमिचन्द पुगलिया; मुद्रक एजूकेशनल प्रेस, फड़ बाजार, बीकानेर; संवत 2031; गाथा 69

5. कहन्नं भंते! संखिलविउल तेउलेस्से भवइ? तए णं अहं गोयमा! गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी जेणं गोसाला! एगाए सग हाए कुम्मासपिंडियाए एगेण य वियडासएणं छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय–पगिज्झिय जाव विहरइ। से णं अन्तो छण्हं मासाणं संखित्तविउल तेउलेस्से भवइ।

भगवती शतक; 15

यहां संक्षिप्तविपुल का तात्पर्य अभयदेव सूरि ने इस प्रकार बताया है:–

संक्षिप्त– अप्रयोग काल में संक्षिप्त।

विपुल– प्रयोग काल में विस्तीर्ण।

6. तिहिं ठाणेहिं सम्मणे निग्गंथे संखितविउलतेऊलेस्से भवइ, तंजहा आयावणयाए, खंतिखमाए, अपाणगेणं तवो–कम्मेणं।

स्था. 3/उद्दे. 3

7. (क) भगवता कहितं–जहा निप्फण्णो, तं एवं वणप्फईण पउट्टपरिहारो, पउट्टपरिहारो नाम परावर्त्य परावर्त्य तस्मिन्नेव सरीरके उववज्जंति तं, सो असद्दहंतो गंतूणं तिलसेंगलियं हत्थे पप्फोडेत्ता ते तिले गणेमाणे भणति एवं सव्वजीवावि पयाट्टपरिहारंति।

आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 299

8. आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 299
9. आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 299
10. (क) त्रिषष्टि शलाका पु. चा.; पृ. 75
    (ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 288
    (ग) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 300

साधनाकाल का एकादश वर्ष – एकविंशति अध्याय

पारणे के पश्चात् विहार करके भगवान् सानुयष्टिक ग्राम पधारे। वहां प्रभु ने भद्रा प्रतिमा अंगीकार की। चारों दिशाओं में प्रत्येक में चार–चार प्रहर तक कायोत्सर्ग करना भद्रा प्रतिमा है[1]। उस प्रतिमा में अशनादि का त्याग कर पूर्वाभिमुख रहकर एक पुद्‌गल पर दृष्टि स्थिर करके परिपूर्ण दिवस व्यतीत किया। रात्रि में दक्षिणाभिमुख रहकर सम्पूर्ण रात्रि व्यतीत की। दूसरे दिन आहारादि का परित्याग कर एक पुद्‌गल पर दृष्टि टिकाकर दिनभर विशिष्ट ध्यान–साधना की तथा रात्रि में उत्तराभिमुख होकर त्राटक ध्यानयुक्त सम्पूर्ण रात्रि व्यतीत की। इस प्रकार बेले के तप से त्राटक ध्यान साधना करते हुए भद्रा प्रतिमा पूर्ण हुई[2]। उस प्रतिमा को पाले बिना प्रभु ने महाभद्र प्रतिमा अंगीकार की। उसमें पूर्वादिक दिशाओं में उसी क्रम से साधना की लेकिन साधना काल दो दिन, दो रात्रि के स्थान पर चार दिन, चार रात्रि रहा[3]। इस प्रकार चार दिन–रात्रि में वह महाभद्र प्रतिमा पूर्ण हुई। तत्पश्चात् तुरन्त ही प्रभु ने सर्वतोभद्रा प्रतिमा अंगीकार की। उस प्रतिमा की आराधना करते हुए दशों दिशाओं में प्रत्येक दिशा में एक–एक अहोरात्र रहे[4]। उसमें ऊर्ध्व दिशा में एवं अधो दिशा में ऊर्ध्व एवं अधो भाग में रहे हुए पुद्‌गल पर दृष्टि टिकाकर रहे[5]। इस प्रकार बारह अहोरात्रपर्यन्त सर्वतोभद्र प्रतिमा की आराधना की। यहां आवश्यक निर्युक्तिकार के मतानुसार 16 दिन में प्रतिमाओं की आराधना की। तदन्तर पारणे के लिए प्रभु आनन्द नामक गृहस्थ के यहां पर पधारे। वहां बहुला दासी पात्र धो रही थी। उनमें से बहुत–सारा अन्न निकाल करके फेंक रही थी। उसने प्रभु को आते हुए देखा और कहा– क्या यह अन्न आपको लेना कल्पता है? प्रभु ने हाथ फैलाये। वह अन्न उस दासी ने प्रभु को दिया। उसी अन्न से प्रभु का पारणा सम्पन्न हुआ। *ऐसी उत्कृष्ट तपश्चर्या और पारणे में ऐसा भोजन, फिर भी परिपूर्ण समभाव।* महान आत्मसाधना से अपने मन को वश में करते हुए भगवान साधनाकाल में भीषण कर्मजंजीरें काट रहे थे। देवों ने प्रभु का पारणा होने पर पांच दिव्यों की वर्षा की। वहां के लोग पांच दिव्यों को देखकर,

श्रवणकर हर्षित हुए। नृपति को वृत्तान्त ज्ञात होने पर उसने बहुला दासी को दासीपन की जंजीरों से मुक्त किया[6]।

वहां से विहार कर भगवान अनार्यों से भरपूर अनार्य भूमि दृढ़ देश में आये। वहां पेढाल नामक ग्राम के समीप पेढाला नामक उद्यान में, पोलास नामक चैत्य में प्रभु ने तेला करके प्रवेश किया। वहां जंतुओं को कोई बाधा न हो इसलिए एक शिलातल पर घुटनोंपर्यन्त भुजाओं को लम्बी करके, शरीर को थोड़ा झुकाकर, चित्त को स्थिर कर, बिना पलक झपकाये, रूक्ष द्रव्य पर दृष्टि टिकाकर, एक रात्रिपर्यन्त महाप्रतिमा की आराधना करने लगे। कितना भीषण पराक्रम प्रभु का। जहां पांच मिनिट भी पलक झपकाए बिना रहना मुश्किल है वहां एक अहोरात्रि बिना पलक झपकाये साधना में संलग्न हैं[7]।

उस समय प्रथम देवलोक के इन्द्र शक्रेन्द्रजी अपनी सुधर्मा सभा में[8], चौरासी हजार सामानिक देवताओं, तेतीस त्रायस्त्रिंशक देवों, तीन प्रकार की सभाओं, चार लोकपालों, असंख्य प्रकीर्णक देवों, जो चारों दिशाओं में दृढ़ परकोटा बनाये हुए थे ऐसे चौरासी हजार अंगरक्षकों, सेना से परिवृत सात सेनापतियों[9], आभियोगिक देव–देवियों के समूह और किल्विषी देवों के परिवार सहित बैठे हुए थे। दक्षिण लोकार्द्ध की रक्षा करने वाला वह इन्द्र[10], शक्र नामक सिहांसन[11] पर सभारूढ़ होकर नृत्य, गीत और तीन प्रकार के वाद्यों से विनोद करता हुआ समययापन कर रहा था। उन विनोद के क्षणों में भी शक्रेन्द्र को प्रभु वीर का स्मरण हो आया। तत्काल अवधिज्ञान का उपयोग लगाकर देखा और तुरन्त सिंहासन से नीचे उतरे, चरण पादुकाएं उतारी, उत्तरासंग किया, नीचे बैठे, बांये पैर को खड़ा करके, दाहिने पैर को जमीन पर टिका कर पृथ्वी पर मस्तक झुकाते हुए शक्रस्तव (नमोत्थुणं) से प्रभु की वन्दना की। तत्पश्चात् सिंहासन पर बैठे[12]।

शक्रेन्द्र का मन आस्था से संभृत हो गया। मन रोमांचक बन गया। ओह! कर्मयुद्ध में वीर प्रभु जैसा योद्धा दुष्कर है। इस प्रकार चिन्तन करते हुए उन्होंने अपनी सुधर्मा सभा में उपस्थित सभी देवों को सम्बोधित करके कहा– अरे देवो! मैं तुम्हें प्रभु वीर की अद्भुत रोमांचक महिमा सुनाता हूं। वे पांच समिति, तीन गुप्ति, पंच महाव्रत के धारी

बनकर एक पुद्‌गल पर दृष्टि टिकाकर प्रबल ध्यान में संस्थित हैं। उनका इतना विशिष्ट पराक्रम है कि उनको इस ध्यान से कोई देव, असुर, यक्ष, राक्षस, तिर्यंच या मनुष्य जरा भी विचलित नहीं कर सकता है[13]। इस प्रकार प्रभु की महिमा श्रवण कर सम्यकदृष्टि देव तो "धन्य है, धन्य है, धन्य है" बोल पड़े। प्रभु का यशोगान श्रवणकर एक अभव्य और प्रगाढ़ मिथ्यात्व वाला उसी सभा में बैठा शक्रेन्द्र का सामानिक देव– संगम ईर्ष्या की अग्नि से जल उठा। उसने अपनी भृकुटियों को ललाट पर चढ़ाया और अपने नेत्रों को लाल करते हुए, अधर कम्पाते हुए, क्रोध से वह शक्रेन्द्र को बोला– हे देवेन्द्र! आप श्रमण बने हुए मनुष्य की इतनी प्रशंसा करते हैं। आप जब भी किसी की प्रशंसा करते हैं तब आपको सत्–असत् का विवेक नहीं रहता। क्या वह साधु ध्यान में से देवों द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता[14]? क्या उस साधु को देवों से भी ज्यादा शक्तिमान मान रहे हैं? देवता सुमेरु को एक भुजा से उठाकर फेंकने में समर्थ हैं। सम्पूर्ण पृथ्वी और पर्वतों को समुद्र में डुबाने में समर्थ हैं। सारे समुद्र का जल एक अंजलि में पान करने में सक्षम हैं। सम्पूर्ण पृथ्वी को एक अंगुली पर उठाने की शक्ति रखते हैं। ऐसे शक्तिसम्पन्न देवों के आगे उस मनुष्य की शक्ति ज्यादा है, जिससे देव उसे ध्यान से भी विचलित नहीं कर सकते? इस प्रकार कहकर संगम ने भूमि पर अपने हाथ–पैर पछाड़े, सभामंडप में से उठा[15]।

वह संगम क्रोधावेश से धमधमायामान करता हुआ प्रलयकाल की अग्नि जैसा और घने बादलों जैसे प्रतापवाला, रौद्र आकृति से अप्सराओं को भयभीत करता हुआ, विकट उरस्थल के आघात से ग्रहों को इकट्ठा करता हुआ पापिष्ठ, जहां प्रभु थे वहां आया[16]। यद्यपि शक्रेन्द्र ने संगम का प्रभु वीर के पास जाना और कष्ट पहुंचाना जान लिया था तथापि भगवान् सहायतारहित कर्मनिर्जरा में लीन हैं, यह सोचकर वह प्रभु को उपसर्गमुक्त करने नहीं गया[17]। संगम ध्यानस्थ प्रभु को देखकर अकारण ही अधिक द्वेष करने लगा। तत्काल उस दुष्ट देव ने भयंकर पीड़ा पैदा करने वाली रज की वर्षा की। उस धूलि से प्रभु के सब अंगों को व्याप्त कर दिया। शरीर धूल से इतना भरा कि श्वासोश्वास लेना भी मुश्किल हो गया। परन्तु प्रभु तनिक मात्र भी विचलित नहीं हुए। तब

रज को उसने दूर कर दिया।

2. उसके बाद उसने वज्रमुखी ऐसी चींटियां उत्पन्न कीं जिनके मुख बड़े तीक्ष्ण थे। उन चींटियों से प्रभु के शरीर को व्याप्त कर दिया। जैसे कपड़े में डाली गयी सूई वस्त्र के आरपार निकल जाती है, वैसे ही वे चींटियां आर–पार छेद करने वाले तीक्ष्ण डंकों से प्रभु को काटने लगीं लेकिन उसका यह उपसर्ग प्रभु को विचलित नहीं करने से निष्फल गया।

3. तब उसने डांस मच्छरों की विकुर्वणा की। वे मच्छर तीक्ष्ण डंकों से प्रभु को काटने लगे तब प्रभु के शरीर से श्वेत रुधिर ऐसे बहने लगा मानो किसी पर्वत से श्वेत जल संभृत निर्झर झर रहा हो। प्रभु ने इस उपसर्ग को भी समभाव से सहन कर निष्फल कर दिया।

4. तब उसने प्रचण्ड चोंच वाली कठिनाई से हटाने योग्य दीमकों की विकुर्वणा की। वे दीमकें प्रभु के शरीर पर मुख लगाकर ऐसी चिपक गयीं मानो शरीर से उठी हुई रोमपंक्ति हों लेकिन भगवान अडोल बने रहे।

5. तब प्रभु को ध्यान से विचलित करने के निश्चय वाली वह दुर्बुद्धि संगम देव बिच्छुओं की विकुर्वणा करता है। वे अग्नि में तपाये हुए भाले की तरह तीक्ष्ण पूंछ एवं कांटों से भगवान के शरीर का भेदन करने लगे लेकिन प्रभु अकम्प रहे।

6. तब बहुत दांत वाले नेवलों की विकुर्वणा की। वे नेवले खी! खी! ऐसे भयंकर शब्दों को बोलते हुए भगवान के शरीर के मांस को काट–काट कर टुकड़े–टुकड़े कर गिराने लगे पर ध्यानस्थ प्रभु डोलायमान नहीं हुए।

7. तब अत्यधिक क्रोधित होकर उसने यमराज के भुजदण्ड जैसे भयंकर और मोटे फन वाले सर्पों की विकुर्वणा की। उन नागों ने पैर से लेकर मस्तकपर्यन्त शरीर को अपने पाश में आबद्ध कर लिया और फण फट जाये इतने जोर से प्रभु पर फण का प्रहार किया तथा डाढ़ टूट जाये ऐसी जोर से दाढ़ों द्वारा प्रभु को डंक लगाने लगे, लेकिन प्रभु ध्यानस्थ रहे।

8. तब उसने वज्र जैसे दांत वाले चूहों की विकुर्वणा की। वे

चूहे नखों से, दांतों से, मुख से और हाथ से प्रभु के अंगों को काटने लगे और उन पर मूत्र करके गात्र को क्षार से व्याप्त करने लगे। उससे भी भगवान के ध्यान में किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं आया।

9. तब क्रोध से भूत बने हुए एक मूसल जैसे तीक्ष्ण दांत वाले हस्ति की विकुर्वणा की। वह मानो अपने पैर पटकने से पृथ्वी को झुका लेगा और ऊँची की हुई सूंड से ग्रह–नक्षत्रों को नीचे गिरा देगा। ऐसा हाथी भगवान के समीप दौड़ा आया। सूंड में प्रभु को उठाया और आकाश में उछाल दिया और तीक्ष्ण दांतों से प्रभु का शरीर क्षत–विक्षत हो जाये इस कारण पुनः अपने दांतों द्वारा भगवान के शरीर को झेला और प्रभु को काटने लगा। ऐसा काटा कि प्रभु के वक्षस्थल से अग्नि के समान कण निकलने लगे। भयंकर वेदना होने लगी, लेकिन प्रभु तनिक भी विचलित नहीं हुए।

10. तब उसने एक दुष्टा वैरिणी जैसी हथिनी की विकुर्वणा की। उसने विशाल मस्तक और दांतों से प्रभु के शरीर को भेदने का प्रयास किया और विषवत् अपने मूत्र को घावों पर नमक जैसा छिटका, लेकिन वीर प्रभु शांत–प्रशांत बने रहे।

11. अब उस अधम देव ने मगरमच्छ जैसी दाढ़ों वाले पिशाच के रूप की विकुर्वणा की। ज्वालाओं से परिपूर्ण उसका विस्फारित मुख प्रज्वलित अग्निकुण्ड के समान परिलक्षित होता था। उसकी भुजाएं यमराज के घर जैसे ऊँचे किये हुए तोरण स्तम्भ जैसी थी। उसकी जंघा और उरु ऊँचे ताड़ वृक्ष जैसे थे। चर्म वस्त्र धारण करता हुआ, अट्टहास करता हुआ और किल–किल शब्द करता हुआ, फुफकार करता हुआ वह पिशाच हाथ में बर्छी (तलवार) लेकर भगवान पर उपद्रव करने लगा, लेकिन वह भी क्षीण तैल वाले दीपक की तरह शीघ्र परास्त हो गया।

12. तब उस निर्दयी देव ने बाघ का रूप बनाया और पूंछ से भूमि को फटकारता हुआ और अपने शब्दों की चीत्कार से भूमि और आकाश में क्रन्दन पैदा करता हुआ वह व्याघ्र वज्र जैसी दाढ़ों से और त्रिशूल जैसे नखाग्रों से शरीर को काटने लगा लेकिन यह प्रयास भी सर्वथा निष्फल हुआ।

13. तब उसने अनुकूल परीषह पैदा करते हुए सिद्धार्थ और त्रिशला के रूप की विकुर्वणा की और वे करुण विलाप करते हुए कहने लगे– हे तात! तुम यह दुष्कर कार्य क्यों कर रहे हो? तुम संयम का परित्याग कर हमारी परिपालना करो। तुम्हारा भाई नन्दिवर्धन हमें वृद्धावस्था में छोड़कर चला गया है। इस प्रकार विलाप से प्रभु अपने मार्ग से विलुप्त नहीं हुए।

14. तब उस दुराचारी संगम ने मनुष्यों से व्याप्त एक छावनी (शिविर) की विकुर्वणा की। उनमें से एक रसोइये के मन में चावल पकाने का विचार हुआ। उसको चूल्हा बनाने के लिए पत्थर नहीं मिले तब उसने प्रभु के दो चरणों का चूल्हा बनाकर उस पर चावल का बर्तन रखा और पैरों के बीच अग्नि प्रज्वलित की। वह अग्नि इतनी विस्तृत हो गयी कि पर्वत के दावानल की तरह हो गयी। प्रभु के पैर अग्नि से जलने लगे लेकिन वे पैर अग्नि से शोभाहीन नहीं हुए अपितु अग्नि में तप्त सुवर्ण की तरह और अधिक शोभायमान हो गये।

15. उस अधम देव ने एक चाण्डाल के रूप की विकुर्वणा की। उसने प्रभु के कंठ, कान, भुजा और कंधों पर पक्षियों के पिंजरे लटकाये। उन पक्षियों ने चोंचों और नखों से प्रहार करके प्रभु के सम्पूर्ण शरीर को पिंजरों की तरह सैकड़ों छिद्र वाला कर दिया। इतने पर भी प्रभु ध्यान से विचलित नहीं हुए।

16. उस दुष्ट देव ने महाउत्पात करने वाली प्रचण्ड पवन की विकुर्वणा की। वह विशाल वृक्षों को तृणवत् आकाश में उछालती हुई और दिशाओं में पत्थर और कंकर फेंकती हुई चारों तरफ भयंकर काली–पीली आंधी के रूप में बहने वाली [illegible] को आकाश में उछाल–उछाल कर नीचे पटकने लगी, पर प्रभु निष्कम्प बने रहे।

17. तब उस पापिष्ठ ने [illegible] हवा की विकुर्वणा की और समुद्र के आवर्त की तरह प्रभु को खूब घुमाया लेकिन [illegible] किंचित भी विचलित नहीं हुए। तब संगम देव ने मन में चिन्तन किया कि अहो! ये मुनि [illegible] में संलग्न हैं, इनको [illegible] विचलित करने का बहुत प्रयत्न किया लेकिन [illegible] वाले ये मुनि [illegible] से विचलित नहीं हुए। [illegible]

विचलित किये बिना यदि इन्द्र की सभा में जाता हूं तो मेरी वाणी भग्न होगी। अब और कोई उपाय भी नहीं दिखता जिससे ये मुनि विचलित हो जायें। तब यही श्रेयस्कर है कि इनको मृत्युधाम में पहुंचाकर ही जाऊँ। ऐसा चिन्तन किया।

18. उसने एक कालचक्र उत्पन्न किया। हजार भार लोहमय उस कालचक्र को देव ने वैसे ऊपर उठाया जैसे रावण ने कैलाश पर्वत को ऊपर उठाया और पूरी पृथ्वी को मानो व्याप्त कर रहा हो ऐसे उस कालचक्र को प्रभु के ऊपर फेंका। उछलती ज्वालाओं से सभी दिशाओं को विकराल करता हुआ वह चक्र समुद्र में आये बड़वानल की तरह प्रभु के ऊपर गिरा। उससे प्रभु का शरीर घुटनों प्रमाण पृथ्वी में धंस गया लेकिन प्रभु तो उसी समभाव में लीन रहे। उनका बाल भी बांका नहीं हुआ और संगम की मन की मन में ही रह गयी।

19. तब उसने अनुकूल उपसर्ग से भगवान को विचलित करना चाहा। वह एक दिव्य विमान में देव का रूप बनाकर आया और प्रभु से बोला हे महर्षि! मैं तुम्हारे उग्र तप, सत्त्व, पराक्रम से तथा प्राणों की परवाह किये बिना तपश्चर्या में संलग्न रहने से बहुत प्रसन्न हूं। अब ऐसे शरीर को कष्ट पहुंचाने वाले तप से क्या प्रयोजन? तुम्हें जो चाहिए वह मुझ से मांग लो। तुम जो चाहोगे, वहीं दूंगा। तुम कहो तो अभी जहां इच्छा मात्र से सारे मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं ऐसे स्वर्ग में ले जाऊँ अथवा सर्वकर्मरहित करके परमानन्द वाले मोक्ष में ले जाऊँ अथवा सम्पूर्ण राजा जिसके चरणों में झुकते हैं ऐसा शासनपति बनाऊँ लेकिन ऐसा कहने पर भी प्रभु जरा भी विचलित नहीं हुए तब उस संगम देव ने सोचा कि इसने मेरी शारी शक्तियों को निष्फल कर दिया है लेकिन कामदेव का बाण मैंने नहीं चलाया है। अब उसका प्रयोग कर इस तपस्वी का ध्यान स्वखलित करता हूं।

20. तब उस संगम ने छहों ऋतुओं की विकुर्वणा की और तुरन्त कामदेव की सेना रूप देवांगनाओं की विकुर्वणा की। उन देवांगनाओं ने प्रभु के सम्मुख आकर गान्धारादि रागों से संगीत प्रारम्भ किया। तदनन्तर मधुर वीणा वादन किया, फिर त्रिविध मृदंग ध्वनि से वायुमण्डल को गुंजायमान किया। वे देवांगनाएं प्रभु के समक्ष नयनाभिराम

नृत्य भंगिमाएं प्रस्तुत करने लगीं। वे अपने वस्त्र–विन्यास, अंग–विन्यास, तीव्र कटाक्ष और कामुक चेष्टाओं द्वारा प्रभु को विचलित करने लगीं। वे प्रणय निवेदन करने लगीं– अरे! वीतराग स्वामिन! आपका शरीर पर राग नहीं तो यह शरीर हमें क्यों नहीं अर्पण कर देते हो, कामदेव से हमारी रक्षा क्यों नहीं करते? अब तो हमारी प्रार्थना स्वीकार कीजिए। ऐसा बारम्बार प्रेमालाप करने पर भी प्रभु ध्यान से क्षणिक भी विचलित नहीं हुए[18]।

इस प्रकार एक रात्रि में उस संगम देव ने कायोत्सर्ग में स्थित प्रभु को बीस महान उपसर्ग दिये। उपसर्ग से परिपूर्ण रात्रि व्यतीत हो गयी। प्रातःकाल होने पर उस संगम देव ने विचार किया कि मैंने सम्पूर्ण रात्रि में मुनि को निरन्तर उपसर्ग दिये लेकिन ये महात्मा जरा भी विचलित नहीं हुए अब यदि इनको विचलित किये बिना यों ही स्वर्ग में लौट गया तो मेरी प्रतिज्ञा भ्रष्ट होगी इसलिए कुछ समयपर्यन्त यहां रहकर इनको विचलित करके ही मैं यहां से लौटूंगा। इस प्रकार दृढ़ निश्चय संगम ने कर लिया।

प्रातःकाल होने पर सूर्य की किरणों से मार्ग व्याप्त होने पर युग मात्र भूमि का अवलोकन करते हुए प्रभु बालुका ग्राम की तरफ पधारने लगे तब मार्ग में उस संगम ने पांच सौ चोरों की एवं रेत के सागर की तरह रेत की विकुर्वणा की। वे पांच सौ चोर हे मामा! हे मामा! ऐसा जोर–जोर से बोलते हुए, ऐसा कसकर आलिंगन करते हैं कि पर्वत हो तो वह भी चूर–चूर हो जाये लेकिन प्रभु तो समता के सागर थे। वे समभाव से उस गरल को भी पी गये। तदनन्तर प्रभु रेत में चलने लगे। रेत इतनी गहरी थी कि उनके घुटने तक शरीर रेत में धंस जाता फिर भी अक्षुभित प्रभु उस रास्ते में चलने लगे और कष्टसहिष्णु भगवान बालुका ग्राम में पधार गये[19]।

वहां बालुका ग्राम में भगवान् पारणा करने हेतु भिक्षा के लिए पधारे तब उसने भगवान की दृष्टि ऐसी विकृत की कि वहां के लोग प्रभु को मारने लगे। वहां से प्रभु सुभौम ग्राम गये। वहां भी उसने ऐसा ही किया। तब वहां से भगवान क्रमशः सुक्षेत्र, मलय, हस्तिशीर्ष, जहां–जहां पधारे, वहां–वहां अपने जघन्य कृत्यों से संगम प्रभु को

पीड़ित करता रहा। तब शक्रेन्द्र प्रभु–सेवा में उपस्थित हुआ और भगवान् की सुख–शांति की पृच्छा की।

तदनन्तर भगवान् तोसलिग्राम पधारे और गांव के बाहर ही उद्यान में प्रतिमा धारण कर ध्यानस्थ बने। तब उस अभवी संगम देव ने चिन्तन किया कि यदि यह ग्राम में प्रवेश नहीं करता है तो मैं यहां स्थित ही इसको उपसर्ग देता हूं। ऐसा सोचकर छोटे साधु का रूप बनाकर गांव में गया और घरों में सेंध लगाने लगा। तब लोगों ने उसे सेंध लगाते हुए पकड़ लिया। इस पर वह बोला मुझे क्यों पकड़ते हो? मैं तो कुछ भी नहीं जानता। मुझे तो आचार्य भगवन् ने भेजा है। तब लोगों ने पूछा– कहां है आचार्य भगवन्? संगम ने कहा– बाहर उद्यान में प्रतिमा धारण कर खड़े हैं। संगम की बात श्रवण कर लोग बाहर उद्यान में जाते हैं। प्रभु को पीटते हैं। और मारेंगे ऐसा सोचकर रस्सियां बांधकर ग्राम में लाते हैं। वहां पर महाभूतिल नामक ऐन्द्रजालिक था। उसने प्रभु को पहले कुंड ग्राम में देखा था। वह प्रभु को बन्धनमुक्त करवाता है और लोगों को बतलाता है कि यह सिद्धार्थ राजा का पुत्र है। लोग प्रभु से क्षमायाचना करते हैं और उस क्षुद्र साधक को ढूंढने का प्रयास करते हैं जिसने प्रभु को यह उपसर्ग पहुंचाया लेकिन बहुत ढूंढने पर भी जब वह साधु नहीं मिलता, तब जान लेते हैं कि यह देवकृत उपसर्ग है।

वहां से विहार करके प्रभु मोसलिग्राम पधारे। तब संगम ने वहां पर भी भगवान् पर तस्करी का आरोप लगाया। तब राजकीय कर्मचारी प्रभु को पकड़कर राज्य–परिषद में ले गये। वहां राजा सिद्धार्थ का अनन्य मित्र सुमागध राष्ट्रीय (प्रान्त का अधिपति) बैठा था। उसने प्रभु को पहचान लिया और भगवान् को बन्धनमुक्त कराया।

वहां से पुनः प्रभु तोसलिग्राम पधारे व उद्यान में पधार कर ध्यानस्थ हो गये। संगम ने प्रभु के सामने शस्त्रास्त्रों का ढेर लगा दिया और खुद सेंध लगाने लगा। जब लोगों ने पकड़ा तब कहा– मेरा क्या दोष है, मैंने सारा कार्य गुरुदेव की आज्ञा से किया है। तब लोग भगवान् को पकड़ने आये और तोसलि क्षत्रिय ने प्रभु को छद्मवेशी श्रमण समझकर फांसी की सजा दी। प्रभु को फांसी के तख्ते पर

चढ़ाकर गले में फांसी का फंदा डाल दिया। जैसे ही तख्ते को नीचे से हटाया त्यों ही फन्दा टूट गया। पुनः फंदा डाला, टूट गया। इस प्रकार सात बार फांसी का फन्दा डाला और सातों बार वह टूट गया। तब सभी आश्चर्यचकित हो गये। प्रभु को महापुरुष समझकर अधिकारियों ने मुक्त कर दिया लेकिन वास्तविक अपराधी संगम नहीं मिला।

प्रभु वहां से विहार करके सिद्धार्थपुर पधारे। वहां भी उसने प्रभु को चोर बतलाकर लोगों द्वारा पकड़वाया। जैसे ही अधिकारी लोग प्रभु को पकड़कर ले जा रहे थे तो कौशिक नामक घोड़े के व्यापारी ने प्रभु को देखा। वह प्रभु को पहिचानता था। उसने अधिकारियों को प्रभु का परिचय देकर बन्धनमुक्त करवाया।[20]

अब भी वह क्रूर मति वाला संगम भगवान को निरन्तर उपसर्ग उपजाने लगा। प्रभु जिस ग्राम, नगर अथवा वनादि में जाते, वह कुमति प्रभु के साथ जाता और अनेक प्रकार के उपसर्ग करता। इस प्रकार प्रभु को कष्ट पहुंचाते हुए अभी तक उसका मन नहीं भरा। भगवान सिद्धार्थपुर से विहार करके गोकुल में पधारे। उस समय गोकुल में उत्सव चल रहा था। अतः सब घरों में खीर बनी हुई थी। भगवान ने छह महीने व्यतीत हो गये आहारादि ग्रहण नहीं किया। अतः प्रभु पारणा करने के लिए गोकुल में पधारे। परन्तु जहां–जहां भिक्षा हेतु पधारे संगम ने वहां–वहां आहार दोषयुक्त कर दिया। प्रभु ने उपयोग लगाया और ज्ञान से जाना कि वह संगम देव अभी यहां से गया नहीं है तब प्रभु भिक्षा के लिए भ्रमण करना परित्याग कर गांव से बाहर पधारे और बिना पारणा किये गोकुल के बाहर प्रतिमा धारण कर कायोत्सर्ग में स्थित हो गये।

कायोत्सर्ग में स्थित प्रभु को देखकर संगम देव ने विचार किया कि मुझे इतना दीर्घ काल हो गया है, मैं निरन्तर इन मुनि को कष्ट पहुंचा रहा हूं पर ये जरा भी अपने पथ से विचलित नहीं हुए। जैसे पर्वत का भेदन करने में हस्ती असमर्थ होता है वैसे ही इनको विचलित करने में मेरा सारा प्रयत्न असफल रहा। ओह! मैं अपनी दुर्बुद्धि से ठगा गया। स्वर्ग–सुख का त्याग कर यहां इतने समय तक रहा और जैसा कहा वैसा कर भी नहीं पाया। अब यहां और अधिक रहने से लाभ नहीं

है। इस प्रकार चिन्तन कर म्लान मुख वाला वह संगम हाथ जोड़कर प्रभु से निवेदन करने लगा– हे स्वामिन्! शक्रेन्द्र ने सुधर्मा सभा में आपकी प्रशंसा की, आप वैसे ही हैं। लेकिन मैंने उनके वचनों पर श्रद्धा नहीं की और उसी अश्रद्धा के वशीभूत हो यहां आया, आपको बहुत उपसर्ग उत्पन्न किये, आपको विचलित करने का भरपूर प्रयास किया लेकिन आप तो सत्यप्रतिज्ञ ठहरे। आप इतने भीषण उपसर्गों में किंचित् मात्र भी विचलित नहीं हुए। मैंने आपको इतना कष्ट पहुंचा कर बहुत अपकृत्य किया है। आप तो करुणा–रत्नाकर हैं। आप मेरा अपराध क्षमा कीजिए। अब मैं आपको कष्ट पहुंचाने का विराम लेकर, देवलोक में जा रहा हूं। अब आप सुख–शांतिपूर्वक ग्राम, नगर, पुर, पाटन में विचरण करें। आपका पारणा भी अभी सम्पन्न नहीं हुआ। अब गोकुल में पधार कर निर्दोष भिक्षा ग्रहण करें। इतने दिनों दूषित होने के कारण आहार आपने ग्रहण नहीं किया, वह मेरे द्वारा ही दूषित किया गया था। तब भगवान बोले– संगम मेरी चिन्ता मत कर। हम तो स्वेच्छा से तप और विहार करने वाले हैं। इस प्रकार कहकर और वीर वाणी श्रवण कर संगम भारीकर्मा बनकर स्वस्थान लौट गया[21]।

इधर सौधर्म देवलोक की स्थिति बड़ी विचित्र बन रही थी। सौधर्म देवलोक आनन्द और उत्साह से रहित था। सारे देव उद्वेगप्राप्त समययापन कर रहे थे। स्वयं देवराज शक्रेन्द्र की स्थिति भी बड़ी विचारणीय बन रही थी। जिस दिन से संगम प्रभु को उपसर्ग देने गया, शक्रेन्द्र के मन में भारी खेद होने लगा– ओह! यदि मैं भगवान की प्रशंसा नहीं करता तो संगम को न क्रोध आता और न वह प्रभु को इतने भीषण कष्ट पहुंचाने जाता।

मैं वहां कष्टों से बचाने भी नहीं जा सकता क्योंकि प्रभु दूसरों की सहायता ग्रहण नहीं करते। अहा! हा! मेरे कारण आज भगवान को कितने कष्ट सहन करने पड़ रहे हैं। मैं इन समस्त उपसर्गों का निमित्त हूं। मैंने कैसा अधम कार्य किया है। प्रभु को कितनी पीड़ा सहन करनी पड़ रही है। यही सोचकर शक्रेन्द्र उदास रहने लगे। उन्होंने सुन्दर परिधान पहनने का त्याग कर दिया। विलेपन आदि भी अब उन्हें अच्छे नहीं लगते। नृत्यादि भी उनके सामने अब नहीं होते थे। मानो सारा

सौधर्म कल्प शोकाकुल बन गया है। जहां देखो वहां मायूसी ही मायूसी नजर आ रही है। ऐसा शोक कभी देखने को नहीं मिला। इसी शोक में छह मास व्यतीत हो गये।

अब संगम देव जम्बूद्वीप से सौधर्म कल्प में आया। पाप पंक से मलिन, शारीरिक कांतिरहित, प्रतिज्ञा से भ्रष्ट, इन्द्रिय शोभा से उपरत, लज्जा से नेत्रों को भूमि में गड़ाये उसने सुधर्मा सभा में प्रवेश किया। संगम को आते हुए देखकर इन्द्र का कोप द्विगुणित हो गया और वह बहुत ऊँचे स्वर में बोला– अरे देवताओं! यह संगम महापापी और कर्म से चाण्डाल है। इससे बोलना तो दूर, इसका मुंह देखने में भी भयंकर पाप लगता है। इसने हमारे स्वामी को बहुत कष्ट पहुंचाकर भयंकर अपराध किया है। इसको संसार परिभ्रमण से भी भय नहीं, तब मेरे से भय तो कैसे हो सकता है? इसने भगवान को अत्यन्त कष्ट पहुंचाया तो भी मैं उन्हें इस कष्ट से नहीं बचा सका क्योंकि अरिहंत भगवान दूसरों की सहायता नहीं चाहते हैं। इसलिए मैंने इस पापी को वहां जाकर कुछ नहीं कहा लेकिन अब इसे बिलकुल नहीं छोड़ूंगा। यह नीच देव यदि यहां रहेगा तो अपने को भी पाप लगेगा इसलिए इसको देवलोक से बाहर निकालना ही योग्य है। ऐसा कहकर क्रोध से आगबबूला शक्रेन्द्र स्वयं उठे और वज्र जैसे अपने बांये पैर से उस संगम पर प्रहार किया तब शस्त्रसज्जित इन्द्र के सैनिक धक्का मार कर उसे निकालने लगे। देवियां उसके हाथों की कलाइयां मरोड़ने लगीं। सामानिक देव उसकी हंसी करने लगे। इस प्रकार तिरस्कृत होकर वह संगम देव अपना एक सागरोपम का शेष आयुष्य भोगने के लिए सुमेरु पर्वत की चूलिका पर चला गया। तदनन्तर संगम की पत्नियों ने शक्रेन्द्र से आज्ञा मांगी– हे स्वामिन! यदि आपकी आज्ञा हो तो हम हमारे स्वामी देव के साथ सुमेरु पर जाना चाहती हैं। शक्रेन्द्र ने मात्र संगम की पत्नियों को सुमेरु पर जाने की आज्ञा प्रदान की, बाकी सब परिवार वहीं पर रहा। उसे शक्रेन्द्र ने आज्ञा नहीं दी। शक्रेन्द्र की आज्ञा से संगम की पत्नियां संगम के पीछे–पीछे सुमेरु पर चली गयीं[22]।

इधर भगवान महावीर संगम का उपसर्ग दूर होने पर दूसरे

दिन पारणा करने के लिए गोकुल में पधारे। भिक्षा के लिए परिभ्रमण करते हुए एक वृद्ध गोपी वत्सपालिका के यहां निर्दोष खीर मिलने पर प्रभु ने खीर से वहां पारणा किया। समीपवर्ती देवों ने पांच दिव्य प्रकट किये। वहां से विहार कर प्रभु आलभिका नगरी में पधारे। वहां पर प्रतिमा धारण कर चित्ररथ की तरह प्रभु स्थित हो गये। वहां हरि नामक विद्युत्कुमारों के इन्द्र[23] भगवान के पास पहुंचे, तीन बार प्रभु को प्रदक्षिणा की और नमन करते हुए कहा– धन्य है प्रभु आपकी कष्ट–सहिष्णुता। आपने ऐसे घोरातिघोर उपसर्ग सहन कर लिये, पर जरा भी विचलित नहीं हुए। हम जैसों का तो श्रवण मात्र से हृदय कम्पायमान हो जाता है। आप तो वज्र से भी अधिक दृढ़ हैं। अब तो बहुत थोड़े उपसर्ग सहन करना अवशिष्ट है। उनको सहन करने के पश्चात् शीघ्र ही आप घातीकर्मों का नाश करके कैवल्य ज्योति को प्राप्त करेंगे। ऐसा कहकर भगवान को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके वह इन्द्र अपने स्थान पर लौट गया। वहां से विहार करके प्रभु श्वेताम्बिका पधारे। वहां हरिस्सह नामक देव[24] आते हैं, भगवान को वन्दना करके सुख–शांति पूछकर लौट जाते हैं।

प्रभु वहां से विहार करके श्रावस्ती नगरी पधारे, वहां प्रतिमा धारण करके कायोत्सर्ग में स्थित हो गये। उस दिन कार्तिक स्वामी की रथ यात्रा का महोत्सव था। सभी लोग कार्तिक देव की प्रतिमा की पूजा करने रथ यात्रा में जाने लगे। वहां पहुंच कर उन्होंने कार्तिक देव की प्रतिमा की पूजा–अर्चना की और उसे रथ में बिठाने के लिए तैयार हुए। उसी समय शक्रेन्द्र का अवधिज्ञान का उपयोग लगा और उन्होंने देखा कि श्रावस्ती के निवासी प्रभु को छोड़कर कार्तिक देव की पूजा कर रहे हैं। ये लोग कैसे अविवेकी हैं। इन्हें प्रभु की महिमा बतलानी चाहिए– ऐसा चिन्तन कर शक्रेन्द्र आये। उन्होंने कार्तिक की प्रतिमा में प्रवेश किया और प्रतिमा चलने लगी तब लोगों ने सोचा यह प्रतिमा स्वतः ही रथ में बैठने के लिए चल रही है, लेकिन प्रतिमा जहां प्रभु महावीर थे वहां आई। आकर प्रभु की तीन वार प्रदक्षिणा की और प्रभु की पर्युपासना करने के लिए वहां वैठ गयी तव लोगों ने चिन्तन किया कि ये देवार्य हमारे कार्तिक देव के पूज्य हैं। हमने इनका उल्लंघन

किया यह ठीक नहीं। इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुए प्रभु की महिमा का गुणगान करने लगे और अपने घरों की ओर लौट गये।

प्रभु ने वहां से विहार किया और कोशाम्बी पधारे। वहां प्रभु प्रतिमा धारण कर कायोत्सर्ग में स्थित हो गये। तब विमान सहित सूर्य–चन्द्र ने आकर भक्ति से सुख–साता पूछी और वन्दन कर पुनः लौट गये। वहां से पूर्वानुपूर्वी से विहार करते हुए प्रभु वाराणसी नगरी पधारे। वहां शक्रेन्द्र आये। अत्यन्त आनन्दसहित प्रभु को वन्दन कर लौट गये। वहां से प्रभु राजगृह नगर पधारे। वहां प्रतिमा धारण कर कायोत्सर्ग में स्थित रहे। वहां ईशानेन्द्र प्रभु के दर्शन करने आये। वन्दन–नमस्कार कर सुख–साता पूछकर पुनः लौट गये। वहां से विहार कर प्रभु मिथिलापुर नगर पधारे। वहां कनक राजा और धरणेन्द्र ने प्रभु की पर्युपासना की[25]। वहां से विहार कर प्रभु विशालापुर नगर पधारे। उस नगरी में समर नामक उद्यान था। उद्यान में बलदेव का मन्दिर था। प्रभु उस मन्दिर में ग्यारहवां चातुर्मास करने पधार गये[26]। चार महीने तक आहार–पानी का परित्याग कर प्रतिमा धारण कर स्थित हो गये। वहां भूतानन्द नामक नागकुमारों के इन्द्र आये। प्रभु को वन्दन–नमस्कार किया और निवेदन– किया, प्रभो! आप महान कष्टसहिष्णु हैं, अब आपश्रीजी को शीघ्र ही केवलज्ञान होने वाला है[27]।

विशालापुरी के बलदेव मन्दिर में प्रभु निरन्तर आत्मसाधना में संलग्न हैं। विशालापुरी यथा नाम तथा गुणसम्पन्न है। विशालापुरी में विशालहृदयी जिनदत्त नामक एक तत्त्वज्ञाता श्रावक रहता था। उससे लक्ष्मी रुष्ट हो गयी। धन–वैभव क्षीण हो गया तब वह जीर्णश्रेष्ठि के नाम से विख्यात हो गया[28]। एक बार वह जीर्णश्रेष्ठि समर उद्यान में आया तो उसने बलदेव के मन्दिर में प्रतिमाधारी प्रभु वीर को देखा। उसी समय मन में चिन्तन आया कि ये तो छद्मस्थ अवस्था में रहने वाले चौबीसवें तीर्थंकर हैं। ऐसा निश्चय करके प्रभु को वन्दन–नमस्कार किया और चिन्तन किया कि आज तो प्रभु के उपवास दिख रहा है इसी कारण भगवान् कायोत्सर्ग करके खड़े हैं। कल पधारेंगे तो मैं इन्हें मेरे घर ले जाऊँगा। वहां प्रासुक अन्न से पारणा करवाऊँगा। ऐसा विचार कर चला गया। दूसरे दिन सूर्योदय से ही भावना भाने लगा कि

आज प्रभु गोचरी पधारेंगे तो मैं अपने घर ले जाऊँगा लेकिन प्रभु ने ध्यान नहीं खोला। तब सोचा, प्रभु कल पारणा करेंगे, कल प्रभु को घर ले जाऊँगा। इस प्रकार प्रतिदिन आता और देखता भगवान गोचरी नहीं पधार रहे हैं तो वापिस लौट जाता। निरन्तर चार मासपर्यन्त भावना भाने पर भी प्रभु गोचरी नहीं पधारे[29]।

चातुर्मास का अन्तिम दिन आया। जीर्ण सेठ ने सोचा कि कल चातुर्मास समाप्त होने पर तो प्रभु अवश्यमेव पारणा करेंगे। कितना अच्छा होगा कि प्रभु मेरे यहां पारणा करें। मैं कितना पुण्यवान बनूंगा। मेरा जीवन धन्य बन जायेगा। इस प्रकार अनेक प्रकार की कल्पना करते हुए दिन व्यतीत हुआ। दूसरे दिन सूर्योदय के समय ही जीर्ण सेठ घर में आहार–पानी तैयार होने के पश्चात् भावना भाने लगा कि आज निर्दोष आहार–पानी तैयार है। अब प्रभु पधार जायें तो कितना अच्छा होगा। मैं आज अपने हाथों से प्रभु को आहार–पानी से प्रतिलाभित करूंगा। जब प्रभु पधारेंगे तो मैं उनके सन्मुख जाऊँगा, तीन बार वन्दन करूंगा और भक्तिपूर्वक उन्हें आहार–पानी बहरा कर चौमासी तप का पारणा कराऊँगा। इस प्रकार शुभ मनोरथ करता हुआ जीर्ण सेठ प्रभु के आगमन का पलकें बिछाकर, हृदय की धड़कन के साथ इन्तजार करने लगा।

इधर भगवान चार माह की तपश्चर्या पूर्ण होने पर नवीन सेठ के घर पधारे। वह मिथ्यात्वी था। उसे पता नहीं था कि ये चरम तीर्थकर महावीर हैं। वह धन के नशे में चूर था। जैसे ही उसने प्रभु को देखा वह अपनी दासी से बोला कि साधु को भिक्षा देकर जल्दी विदा करदो। तब उस दासी ने चाटु लेकर उड़द के बाकले प्रभु को बहराये। प्रभु ने उन बाकुलों को खाकर पारणा किया[30]। तत्काल देवों ने आकाश में देव–दुन्दुभि बजाई, वस्त्र बरसाये, स्वर्ण मोहरों की वर्षा की, सुगन्धित जल एवं पुष्प की वृष्टि की। श्रावस्ती नगरी में यह समाचार द्रुत गति से फैल गया कि अभिनव श्रेष्ठि ने एक साधु को पारणा कराया तो उसके यहां स्वर्ण मुहरों आदि की वर्षा हुई। लोग देखने के लिए आये। पूछा श्रेष्ठि से कि तुमने मुनि को क्या बहराया? तब उसने कहा मैंने खीर बहराई[31]। आकाश में अहोदान–अहोदान की ध्वनि हुई तो राजा

और प्रजा ने अभिनव श्रेष्ठि की स्तुति की।

जब जीर्ण सेठ ने अहोदान–अहोदान की ध्वनि सुनी तो वह स्तम्भित रह गया। अहो! प्रभु ने तो अन्यत्र कहीं पारणा कर लिया है, मैं निर्भागी चार माह तक भावना भाता रहा लेकिन मेरी प्रबल अन्तराय, प्रभु घर नहीं पधारे। पुण्यहीन के यहां पर पुण्यवान पुरुष कैसे पधार सकते हैं। इस प्रकार अत्यधिक पश्चात्ताप करने लगा। शुभ भाव, शुभ अध्यवसायों से उस जीर्ण सेठ ने उस समय आगामी जन्म के बारहवें देवलोक के देव के रूप में आयुष्य बन्ध किया।

इधर पारणा करके प्रभु तो वहां से विहार कर गये और उसी समय उद्यान में भगवान पार्श्वनाथ के शिष्य, जो केवलज्ञान के धारक थे, पधारे। तब राजा और प्रजा उनको वन्दन करने हेतु गये। वन्दन–नमस्कार करके पूछा हमारे नगर में प्रबल पुण्य का उपार्जन करने वाला कौन है? तब केवली भगवान ने कहा– जीर्ण सेठ। राजा आश्चर्य से बोले– जीर्ण सेठ............! उसने तो दान भी नहीं दिया तब कैसे प्रबल पुण्य का उपार्जन कर लिया। तब केवली भगवान बोले भाव से तो जीर्ण सेठ ने प्रभु को पारणा करवाया और उसने उन्हीं भावों से बारहवें देवलोक में जन्म लेने का पुण्य उपार्जन कर लिया यदि वह दो घड़ी देव–दुन्दुभि नहीं सुनता तो उसे केवलज्ञान उसी समय प्राप्त हो जाता[32]। नवीन श्रेष्ठि ने भावरहित प्रभु को दान दिया उसने केवल मुहरादि रूप लौकिक फल को ही प्राप्त किया। इस प्रकार उत्तर श्रवण कर विस्मयान्वित होकर राजा और प्रजा लौट गये।

संदर्भ: साधनाकाल का एकादश वर्ष, अध्याय 21

1. पूर्वादिदिक्चतुष्टये प्रत्येकं प्रहरचतुष्टय कायोत्सर्गकरणरूपा, अहोरात्रइयमानेति

   स्थानांग; टीका अभयेदव सूरि; प्रथम भाग; पत्र 65–2

2. (क) आवश्यक निर्युक्ति; मलयगिरि; पृ. 288

   (ख) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 300

3. महाभद्राऽपि तथैव, नवर महोरात्रकायोत्सर्गरूपा अहोरात्र[illegible]

   स्थानांग; टीका अभयेदव सूरि; प्रथम भाग, [illegible]

4. (क) सर्वतोभद्रा तु दशसु, दिक्षु प्रत्येकमहोरात्र कायोत्सर्ग रूपा अहोरात्र दशक प्रमाणेति।

स्थानांग; टीका अभयेदव सूरि; प्रथम भाग; पत्र 5–2

(ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि वृत्ति; पृ. 288

(ग) आवश्यक हरिभद्रीय; पृ. 215

(घ) महावीर चरियं (गुणचन्द्र); 7/225

5. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 300

(ख) त्रिषष्टि शलाका पु. चा.; वही; पृ. 76

6. आणंदस्स गाहावतिस्स घरे बहुलियाए दासीए महाणसिणीए भायणाणि खणीकरेंतीए दोसीणं छड्डेउकामाए सामि पविट्ठो, ताए भन्नति–किं भगवं! एतेण अट्ठो? सामिणापाणी पसारितो, वाए परमाए सद्धाए दिन्नं, पंच दिव्वाणि, मत्थओ धोओ, अदासीकत्ता।

(क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 300–01

(ख) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति; पृ. 288

7. दढ़भ्रमी वहुमेच्छा पेढालग्गाम मागतो भगवं। पोलासचेइयंमी ठितेगराइ महापडिमं; 497

(क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 301

(ख) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति; पृ. 288

8. सभाएं पांच हैं–

1. सुधर्मा सभा 2. उपपात सभा 3. अभिषेक सभा 4. आलंकारिक सभा 5. व्यवसाय सभा (ठाणांग 51) इनमें सुधर्मा सभा श्रेष्ठ है। वहीं राज दरबार लगता है। देखिये सूत्रकृतांग; अध्ययन 6

9. भगवती सूत्र; अभयदेव सूरि; प्रथम भाग; शतक 3, उद्देशक 7; पृ. 158, आगमोदय समिति; सन् 1918

10. भगवती सूत्र; अभयदेव सूरि; वही; पृ. 175 (शतक 3, उद्देशक 2)

11. त्रिषष्टि शलाका पु. चा., वही; पृ. 76

12. हट्ठतुट्ठचित्तं आणंदिए जाव सिरसावत्तं मत्थए अंजलि, कट्टु एवं वयासी–णमोत्थुणं अरहंताणं जाव सिद्धिगतिणामधेयं ठाणं संपत्ताणं, णमोत्थुणं समणस्स भगवतो महति महावीर वद्धमाण सामिस्स णायकुलवरवडेंसयस्स तित्थगरस्स सहसंबुद्धस्स, पुरिसोत्तमस्स पुरिससीहस्स पुरिसवरपुंडरीयस्स पुरिसवरगंधहत्थिस्स, अभयदयस्स जाव ठाणं संपाविउकामस्स, वंदामि णं भगवंतं तिलोगवीरं तत्थ गतं

(ग) आवश्यक हारिभद्रीय; पृ. 220

विशेष– त्रिषष्टि श्लाका पु. चारित्र; चउपन्न महापुरुष चरियं; महावीर चरिय, गुणचन्द्र तथा महावीर चरियं, नेमिचन्द्र में संगम के 20 उपसर्गों का ही वर्णन है लेकिन संगम ने छह महीने तक जो प्रभु को गांव–गांव, नगर–नगर में कष्ट दिये, उनका वर्णन नहीं है।

साथ ही, प्राचीन ग्रन्थों में संगम देव के लौटते समय प्रभु की आंखों में करुणा के अश्रु छलछला गये, ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। लेकिन कुछ आधुनिक लेखकों ने ऐसी कल्पना की है कि संगम जिस समय लौट रहा था, प्रभु की आंखें करुणा से नम हो गयीं। तब संगम ने आंखें नम होने का कारण पूछा तो प्रभु ने फरमाया कि मेरे कारण तूं ने अनन्त संसार बढ़ा लिया है, इस कारण तुम्हें अनन्त संसार परिभ्रमण करना पड़ेगा, बस यही कारण है मेरी आंखें नम हो गयीं। यह कल्पना समयोचित प्रतीत नहीं होती क्योंकि चूर्णि आदि में संगम को अभव्य कहा है। अभव्य जीव तो संसार में ही सदा रहेगा, फिर संसार घटाने–बढ़ाने की बात कम संगत होती है। अतः पाठक इस पर चिन्तन करें।

22 (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; 314

(ख) आवश्यक मलयगिरि; 293

(ग) महावीर चरियं, नेमिचन्द्र; 1119–22

(घ) त्रिषष्टि श्लाका पु. चा.; वही; पृ. 84–85

23. पाठान्तर हरिकांत

द्रष्टव्य– जीवाजीवाभिगम; तृतीय प्रतिपत्ति; पृ. 336; श्रीमधुकरजी म. सा.; आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर; सन्1989

24. जीवाजीवाभिगम; तृतीय प्रतिपत्ति; पृ. 336; प्रथम खण्डी श्रीमधुकरजी म. सा.; आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर; सन्1989

25. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 315

आलभिय हरि पियपुच्छ, जितउवसग्गत्ति थोवमवसेसं।

हरिसह सेयवि सावत्थि खंदपडिमा य सक्को उ।

आलभियाए हरि विज्जु जिणस्स भत्तीए वन्दओ एइ।

भगवं पिअपुच्छा जियउवसग्गत्ति थेवमवसेसं।515

हरिसह सेयवियाए सावत्थी खंधपडिम सक्को य।

आयरिउं पडिमाए लोगो आउट्टिओ वंदे।।516।। (इत्येवं गाथाइयं हारिभद्रीय वृत्तिगतं)

(ख) त्रिषष्टि शलाका पु. चा.; वही; पृ. 85–86

26. आवश्यक चूर्णिकार जिनदास ने ग्यारहवां चातुर्मास वैशाली के स्थान पर मिथिला में किया, ऐसा उल्लेख किया है। वहां लिखा है– महिलाए वासारत्तो एक्कारसमो, चाउम्मासखमणं करेति।

आवश्यक चूर्णि; पृ. 315

जबकि मलयगिरि, हरिभद्र, नेमिचन्द्र, गुणचन्द्र एवं हेमचन्द्राचार्य ने भगवान का ग्यारहवां चातुर्मास वैशाली में स्वीकार किया है। इसी को श्रमण भगवान् महावीर में कल्याणविजयजी एवं तीर्थंकर महावीर में इन्द्रविजयजी ने अपनाया है।

(ख) ततो वैशालीनगरीमगमत् तत्रैकदेशे वर्षारात्रः। आवश्यक मलयगिरि; पृ. 294

(ग) ततो सामी वेसालिं नगरिं गतो, तत्थेक्कार समो वासारत्तो। आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति; 221

(घ) भयवं वेसालिए संपत्तो विहरमाणो उ।

समरे उज्जाणम्मी, बलदेवगिहम्मि संठिओ भवयं।

चाउम्मासियखमणं, उवसंपज्जितु वासासु। महावीरचरियं; 1142–43

(ङ) महावीरचरियं; 233/1

(च) ततो विहरमाणोऽगाद्विशालीं नगरीं प्रभुः।

तत्र चैकादशो वर्षाकालो व्रत दिवादभूत्। त्रिषष्टि; 10/4/343

(छ) श्रमण भगवान महावीर; कल्याणविजयजी; पृ. 41

(ज) तीर्थंकर महावीर; इन्द्रविजयजी; पृ. 229 प्र. भा.

27. (क) आवश्यक चूर्णि; पृ. 316 पर यह उल्लेख है कि भगवान् ग्यारहवां चातुर्मास मिथिला में सम्पन्न करके तदनन्तर वैशाली पधारे। वहां पर भूतानन्द देव आये। जबकि आवश्यक मलयगिरि, पृ. 294 पर ऐसा उल्लेख है कि भगवान ने ग्यारहवां चातुर्मास वैशाली में किया और वहीं पर भूतानन्द देवा आये।

(ख) त्रिषष्टि शलाका पु. चा.; पृ. 86

28. जीर्ण सेठ का कथानक, भाव. निर्युक्ति चूर्णि एवं विशेषा. भाष्य तथा चउप्पन्न महापुरुषचरियं में नहीं है किन्तु त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र एवं महावीर चरियं में है।

(क) तत्थत्थि परमसड्ढो जिणदत्तो जो जाणम्मि विक्खाओ।
विहवक्खएण सेट्ठिपयचाइओ जिन्नसेट्ठि त्ति। महावीर चरियं (नेमिचन्द); 1144
(ख) महावीर चरियं; गुणचन्द्र; गाथा 7–11, पृ. 233
(ग) परमश्रावक स्तत्र जिनदत्ताभिधोऽवसत्।
दयावान् विश्रुतो जीर्णश्रेष्ठीति विभवक्षयात्। त्रिषष्टि; 10/4/346

29. महावीर चरियं, गुणचन्द्र, पृ. 233

30. (क) महावीर चरियं; गुणचन्द्र; पृ. 233
(ख) त्रिषष्टि., 10/4/356–358

31. लोकैश्च पृष्टोऽभिनवश्रेष्ठी माय्येवमब्रवीत्।
स्वयं मया पायसेन पारणं कारितः प्रभु। त्रिषष्टि; 10/4/360

32. (क) महावीर चरियं; गुणचन्द्र; पृ. 234
(ख) खणमेत्तं न सुणन्तो दुन्दुहिसद्दं तु जइ सुपरिणामो।
आरूहिय खवगसेढिं ता केवलमेव पावन्तो। महावीर चरियं; नेमिचन्द्र; पृ. 1162
(ग) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; पुस्तक 7; पृ. 87–88

साधनाकाल का द्वादश वर्ष – द्वाविंशति अध्याय

प्रभु महावीर विशालापुरी से विहार कर नगर, ग्राम, द्रोणमुख[1] आदि स्थानों में विहार करते हुए सुसुमापुर पधारे[2]। वहां अशोक वन नामक उद्यान में, अशोक वृक्ष के नीचे एक शिला पर तेले का प्रत्याख्यान करके एक रात्रि की प्रतिमा धारण कर कायोत्सर्ग में स्थित रहे। इसी रात्रि में चमरेन्द्र के प्रभु शरण में आने की विशिष्ट घटना घटी, जिसका वर्णनक्रम इस प्रकार है –

भरत क्षेत्र की विंध्यांचल तलेट में बिभेल नामक ग्राम था। उस बिभेल ग्राम में पूरण नामक एक गृहस्थ रहता था। एक बार अर्धरात्रि में शयन करते हुए वह निद्रा से जागृत हो गया। जागृत होने के पश्चात् शुभ अध्यवसायों से उसके मन में भाव उत्पन्न हुए कि मैंने पूर्वभव में बहुत तपश्चर्या की हुई है जिससे इस भव में मुझे सत्कार, सम्मान और परिपूर्ण लक्ष्मी प्राप्त हुई है। मुझे अपने आगामी भवों में भी श्रेष्ठ ऋद्धि प्राप्त हो, इसके लिए पुण्योपार्जन करना है। मेरे लिए यही श्रेष्ठ है कि अब गृहवास का परित्याग कर, तपश्चर्या कर अपने आगामी जन्म और जीवन को सुखी बनाऊँ। ऐसा चिन्तन करने पर प्रातःकाल होने पर अपने पारिवारिक जनों से प्रव्रज्या स्वीकार करने की आज्ञा मांगी। अनुमति प्राप्त होने पर मित्र, जाति और स्वजनों को भोजन के लिए आमंत्रित किया। भोजन करने के पश्चात् अपने पुत्र को घर का भार सम्हलाकर स्वयं ने दानामा[3] प्रव्रज्या अंगीकार कर ली और तापस बनकर तपश्चर्या करने लगा।

उसने भिक्षा के लिए चार खण्डवाला एक काष्ठमय पात्र ग्रहण कर लिया और प्रव्रज्या अंगीकार करने के पश्चात् निरन्तर बेले–बेले पारणा करने लगा। सूर्य की आतापना लेते हुए अपने शरीर को कृश करने लगा। पारणे का दिन आने पर चार पुट वाला भिक्षापात्र लेकर मध्याह्न काल में भिक्षा के लिए परिभ्रमण करता। पहले खण्ड में आई हुई भिक्षा को राहगीरों को दे देता। दूसरे खण्ड में आई हुई भिक्षा को कौवे आदि को दे देता। तीसरे खण्ड में आई हुई भिक्षा को मत्स्यादि जलचर प्राणियों को दे देता और चौथे खण्ड में आई हुई भिक्षा को

राग–द्वेषरहित होकर स्वयं ग्रहण कर लेता। इस प्रकार उसने बारह वर्ष तक अज्ञान तप करके तत्पश्चात् विभेल गांव की ईशान दिशा में अनशन तप ग्रहण कर लिया। एक मास का अनशन करके आयुष्य पूर्ण होने पर बालतप के प्रभाव से चमर–चंचा राजधानी में एक सागरोपम की आयुष्य वाला चमरेन्द्र हुआ[4]।

उत्पन्न होते ही अवधिज्ञान रूप नेत्र से दूसरे स्थानों को देखने लगा। देखते–देखते अनुक्रम से उसका उपयोग ऊर्ध्व भाग की ओर लगा। वहां उसने प्रथम देवलोक के इन्द्र सौधर्मेन्द्र को अवधिज्ञान से देखा। सौधर्मेन्द (शक्रेन्द्र) अपने सौधर्मावतंसक विमान में सुधर्मा सभा में बैठे हुए थे। महर्द्धिक, वज्रधारी शक्रेन्द्र को देखकर चमरेन्द्र के क्रोध का पार नहीं रहा। वे क्रोध से आगबबूला होकर अधीनस्थ देव–देवियों को कहने लगे– अरे! अप्रार्थित की प्रार्थना करने वाला यह कौन दुरात्मा अधम देव मेरे मस्तक पर बैठकर विलास कर रहा है? तब चमरेन्द्र के उत्तर दिशा में रहने वाले सामानिक देव हाथ जोड़कर निवेदन करने लगे कि हे स्वामिन! ये महापराक्रमी और प्रचंड शासन करने वाले सौधर्म कल्प के इन्द्र हैं। उसे श्रवणकर चमरेन्द्र को और अधिक क्रोध उत्पन्न हुआ और वह चमरेन्द्र भृकुटी चढ़ाकर, भयंकर मुखवाला होकर, नासिका के उच्छ्वास से (फुंकार से) चमर को उड़ाता हुआ बोला– अरे देवो! तुम मेरे पराक्रम को जानते नहीं इसीलिए तुम उसकी प्रशंसा करते हो। अब मैं इन्द्र को परास्त कर मेरा अतुल बल दिखाऊँगा, तब तुम्हें मेरे बल–वीर्य का ज्ञान होगा।

वह दैवयोग से ऊँचे स्थान पर पैदा होने से बड़ा थोड़े ही हो गया। हाथी की पीठ पर बैठने मात्र से क्या कौआ बड़ा होता है। जैसे सूर्य उदित होने पर अंधकार नष्ट हो जाता है वैसे ही मेरे रहते अब शक्रेन्द्र रह नहीं पायेगा। चमरेन्द्र की इस बात को श्रवण कर सामानिक देवों ने पुनः कहा– हे स्वामिन! पूर्व पुण्योपार्जन से शक्रेन्द्र देवों का अधिपति है, उसकी समृद्धि और पराक्रम आप से विशिष्ट है इसलिए आप उनसे युद्ध करने मत जाइये, अन्यथा यदि उन्होंने अपना पराक्रम दिखाया तो मेघ के सामने जैसे अष्टापद पशु नहीं ठहरता, वैसे स्वामिन् भयभीत होना पड़ेगा इसलिए आप यहीं रहकर सुखोपभोग करते हुए,

हम द्वारा सेवित किये जाते हुए आनन्द का उपभोग कीजिए। यह सुनकर चमरेन्द्र ने कहा– तुम सब उससे भयभीत हो रहे हो तो यहीं रहो। मैं अकेला ही उससे युद्ध करने निश्चय ही जाऊँगा क्योंकि सुरों और असुरों का एक ही इन्द्र होना चाहिए। एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। इस प्रकार उग्र गर्जना करते हुए आकाश में उड़ने का परिपूर्ण मानस बना लिया। उसी क्षण मन में कुछ विवेक जागृत हुआ कि ये मेरे सामानिक देव शक्रेन्द्र को महान् शक्तिमान मानते हैं, तब कदाचित् शक्रेन्द्र वैसा शक्तिमान हो भी सकता है क्योंकि ये मेरा जरा भी अहित नहीं चाहते। अतः कदाचित मेरी पराजय भी हो जाये तो इससे पहले मुझे एक उपाय करना चाहिए कि शक्रेन्द्र से अधिक बलशाली की शरण लेकर चले जाना चाहिए। ऐसा चिन्तन कर उसने उपयोग लगाया तो उसका उपयोग सुसुमापुर में प्रतिमा धारण करने वाले प्रभु महावीर की ओर गया। उसने सोचा, ये शक्र के भी पूज्य हैं अतः इन्हीं की शरण लेकर मुझे सौधर्म कल्प जाना चाहिए। ऐसा निश्चय कर चमरेन्द्र तुखालय नामक स्वयं की आयुधशाला में गया। वहां मृत्यु के हाथ के समान एक मुद्गर लिया और उसे तीन बार ऊँचा, नीचा, तिरछा घुमाया और चमरचंचा से निकल कर क्षणभर में सुसुमापुर प्रभु वीर की सन्निधि में पहुंच गया। वहां परिघ नामक आयुध को दूर रखकर, तीन बार प्रदक्षिणा करके, प्रभु को नमन करते हुए इस प्रकार बोला, निवेदन किया– भगवन्! आपके अतिशय प्रभाव से शक्रेन्द्र पर विजय प्राप्त करूंगा ही। वह इन्द्र मेरे मस्तक पर बैठकर अतिगर्व से शासन कर रहा है। उसका यह कार्य मुझे किंचित भी रुचिकर नहीं है इसलिए मैं आपकी शरण ग्रहण कर उस पर विजय प्राप्त करने जा रहा हूं। ऐसा कहकर परिघ आयुध को लेकर ईशान कोण में आया। उत्तर वैक्रिय से अपना एक लाख योजन का शरीर बनाया। सुविस्तृत श्याम वर्ण शरीर ऐसा दिखाई देने लगा मानो कोई मूर्तिमान आकाश हो अथवा नन्दीश्वर अंजन गिरि हो। वह भयंकर मुख वाला, श्यामल चपल केशराशि वाला, मुख की फुफकार से उछलती ज्वालाओं से व्योम को व्याप्त करने वाला, भुजदण्ड को हिलाने मात्र से ग्रह–नक्षत्र को नीचे गिराने वाला, पर्वतचूलिका के अग्रभाग को विधुर बनाने वाला, भयंकर

गर्जना से पूरे ब्रह्माण्ड को कम्पायमान करने वाला, यमराज (कृतान्त) की तरह व्यन्तरों को भयभीत करता हुआ, महान पराक्रम का प्रदर्शन करते हुए ज्योतिषी देवों को कम्पायमान करता हुआ, सूर्य–चन्द्र मण्डल का उल्लंघन करके शक्र मण्डल में प्रविष्ट हुआ।

उस भयंकर आकृतिवाले, वेग से आते हुए चमरेन्द्र को देखकर किल्विषी देव त्रस्त हुए, आभियोगिक देव त्रास पाने लगे। सेनापति देव अपनी सेना सहित शीघ्र पलायन कर गये। सोम और कुबेर नामक प्रमुख दिक्पाल वहां से भाग खड़े हुए। उस समय उस चमरेन्द्र को एकाएक आया देखकर सामानिक देवों ने चिन्तन किया कि यह असुर है या और कोई? इस प्रकार क्रोध और विस्मय से चमरेन्द्र को देखने लगे तब चमरेन्द्र ने एक पैर पद्मवेदिका पर और एक पैर सुधर्मा सभा में रखा[5]। पैर रखते ही इन्द्र कील[6] पर तीन बार परिघ से चोट मारी और भौहों को टेढ़ी करके इन्द्र से बोला– अरे बहुत देवता तेरी खुशामद करते हैं इसलिए तूं ऊपर बैठा शासन कर रहा है। अब मैं तुझे शीघ्र ही नीचे गिरा दूंगा। आज तक तूने जबरदस्ती शासन किया है। चमरचंचा नगरी के स्वामी और विश्वविख्यात पराक्रम वाले चमरासुर के बल को क्या तूं नहीं जानता? शक्रेन्द्र इन अपूर्वश्रुत वचनों को श्रवण कर हास्य और विस्मय को प्राप्त हुआ। तदनन्तर अवधिज्ञान से चमरेन्द्र को जानकर बोला– अरे! चमर, तूं भाग जा। ऐसा कहकर भृकुटि चढ़ाई और प्रलयकाल की अग्नि और दड़वानल के समान भयंकर धधकती ज्वालाओं वाला वज्र हाथ में लेकर चमर पर छोड़ा। वह वज्र तड़तड़ शब्द करता हुआ, देवों को भयभीत बनाता हुआ चमरेन्द्र की ओर वेग से चला। सूर्य के तेज को उलूक देखने में असमर्थ होता है वैसे ही वज्र को आते हुए देखा तो उसका सिर नीचा हो गया और पैर ऊँचे होने लगे तव वह भयभीत होकर भगवान् महावीर की शरण में जाने को तत्पर हुआ और लघुकाय वनकर दौड़ने लगा। तब देवता उसे दौड़ते हुए देखकर हंसने लगे और वोले अरे सुराधम! गरुड़ के साथ जैसे सर्प युद्ध करने की इच्छा करता है वैसे ही तूं हमारे इन्द्र के साथ युद्ध करने आया था अव कायर वनकर भाग रहा है। आया तो वहुत लम्बा–चौड़ा शरीर वनाकर और अव छोटी–सी काया वनाकर

दौड़ रहा है। देवता कहते ही रहे लेकिन चमर तो दौड़ ही रहा है। आगे–आगे चमर दौड़ रहा है और पीछे–पीछे वज्र दौड़ रहा है।

वज्र को छोड़ने के पश्चात् शक्रेन्द्र ने चिन्तन किया कि आज तक कोई असुर यहां तक नहीं आ पाया, किसी भी असुर की शक्ति नहीं इस देवलोक में आने की तब चमरेन्द्र यहां कैसे आया? क्या कोई अरिहंत या उनके साधु–साध्वी की शरण ली है? इस प्रकार अवधिज्ञान का उपयोग लगाकर शक्रेन्द्र ने देखा तब अवधिज्ञान से जाना कि प्रभु वीर की शरण लेकर चमरेन्द्र यहां आया और पुनः भगवान महावीर की शरण में ही लौटा है तब वे ससंभ्रम बोल उठे अरे अनर्थ हो गया। मैं मारा गया। अरे! अब क्या करूं? इस प्रकार बोलते हुए इन्द्र के हारादि टूट गये और वह व्याकुल होकर वज्र के पीछे बड़े वेग से दौड़ा। आगे–आगे चमर, बीच में वज्र और पीछे शक्रेन्द्र, तीनों अपनी–अपनी शक्ति से दौड़ रहे हैं। वज्र चमरेन्द्र के नजदीक आ रहा है, चमर इतना तेज दौड़ते हुए भी वज्र से अब ज्यादा दूर नहीं रहा। वज्र एकदम नजदीक आ गया इतने में चमरेन्द्र प्रभु के समीप पहुंच गया और शरण दीजिए, शरण दीजिए इस प्रकार बोलता हुआ कुंथुए जितना रूप बनाकर भगवान के चरणों के नीचे छुप गया। उस समय वज्र प्रभु से मात्र चार अंगुल दूर रहा। इतने में शक्रेन्द्र आ पहुंचा और उन्होंने वज्र को पकड़ लिया। राहत पाकर शक्रेन्द्र तीन बार प्रभु की प्रदक्षिणा कर वन्दन–नमस्कार करते हैं और अत्यन्त विनम्र भाव से निवेदन करते हैं– भगवन्! चमरेन्द्र आपश्रीजी की शरण लेकर मेरे देवलोक में आया और मुझे बहुत–कुछ बोला तब मैंने इसको परास्त करने के लिए वज्र फेंका। पहले मुझे ज्ञात नहीं हो सका कि यह आपश्रीजी की शरण लेकर आया है लेकिन जब ज्ञात हुआ तो मैं आपश्रीजी की सेवा में उपस्थित हो गया हूं। वज्र फेंकने से जो अविनय अशातना हुई है उसके लिए मैं बारम्बार क्षमाप्रार्थी हूं। आप मेरे अपराध को अवश्यमेव क्षमा करेंगे। इस प्रकार कहकर शक्रेन्द्र ईशानकोण में गये। अपना रोष शांत करने के लिए बायें पैर को तीन बार भूमि पर पटका और चमरेन्द्र से कहा– चमर! तूं अभयदाता प्रभु वीर की शरण लेकर देवलोक में आया है। भगवान तो त्रैलोक्य गुरु हैं। वे शरणदाता होने के कारण मैं

रोष का परित्याग कर तुझे छोड़ रहा हूं। तूं अब खुशी–खुशी चमरचंचा में जाकर अपनी समृद्धि का उपभोग कर सकता है। ऐसे चमरेन्द्र को आश्वस्त कर पुनः प्रभु को वन्दन–नमस्कार कर शक्रेन्द्र लौट गये।

शक्रेन्द्र लौट गये हैं यह जानकर चमरेन्द्र सूर्यास्त होने पर जैसे उल्लू निकलता है वैसे प्रभु के चरणों के नीचे से निकला। प्रभु को अंजलि जोड़कर इस प्रकार बोला कि– सब जीवों को अभयदान देने वाले भगवान, आप मुझे प्राण देने वाले हैं। आप तो भयंकर संसार अटवी में परिभ्रमण करने वाले प्राणियों को भी मुक्त करते हैं तो आप की शरण लेने से मैं वज्र से मुक्त हुआ इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। प्रभो! मैंने पूर्व भव में अज्ञान के कारण बालतप किया इसलिए मैं अज्ञान सहित असुरेन्द्र रूप में उत्पन्न हुआ। इसी अज्ञान के वशीभूत मैं शक्रेन्द्र से युद्ध करने गया लेकिन मैं आपकी शरण लेकर बहुत कृतार्थ हुआ हूं, बाल–बाल बच गया हूं। हे करुणानिधे! यदि पूर्वभव में मैं आपकी शरण लेता तो अच्युतेन्द्र या अहमिन्द्र बनता अथवा इन्द्रत्व की मुझे अब क्या आवश्यकता? अब तो मुझे आप जैसे नाथ मिल गये हैं तो मुझे सब–कुछ प्राप्त हो गया है। ऐसा कहकर श्रद्धापूर्वक प्रभु को नमस्कार करके चमरेन्द्र चमरचंचा नगरी में चला गया। प्रभु ध्यानस्थ हैं और चमर अपनी राजधानी पहुंच गया है। वह अपनी सभा में सिंहासन पर बैठा है। लज्जा से मुखकमल नीचा हो गया है तब सामानिक देव चमरेन्द्र से पूछते हैं– क्या इन्द्र को आपने परास्त कर दिया? चमरेन्द्र ने कहा 'नहीं', तुमने जैसा इन्द्र के लिए बताया था वह वैसा ही शक्ति–सम्पन्न है लेकिन उस समय अज्ञानवश मैंने उसकी शक्ति को नहीं पहचाना। मैं तो वैसे ही सौधर्म देवलोक में चला गया जैसे सिंह की गुफा में सियाल जाता है। वहां के आभियोगिक देव मेरा कौतुक देखने के लिए उत्सुक बने इसलिए उन्होंने मुझे नहीं रोका, जाने दिया तब शक्रेन्द्र को बहुत–कुछ अपशब्द बोले। शक्रेन्द्र ने मुझे प्रत्युतर देने के लिए मुझ पर वज्र छोड़ा। उससे भयभीत बना मैं प्रभु वीर की शरण में जैसे–तैसे पहुंचा तब शक्रेन्द्र ने मुझे जीवित छोड़ दिया, तभी मैं यहां आ पाया हूं। अब तुम सब तैयार हो जाओ, अपन सब मिलकर वीर प्रभु के पास चलते हैं। उन्हें वन्दन–नमस्कार करके, नृत्यादि दिखला कर

आते हैं। चमरेन्द्र द्वारा ऐसा कहे जाने पर सभी तैयार हुए और भगवान महावीर के पास आये। चमरेन्द्र ने सपरिवार प्रभु को विधिवत वन्दन–नमस्कार किया। नृत्य–संगीत आदि कार्यक्रम संपन्न कर चमरेन्द्र सपरिवार चमरचंचा लौट गये[7]।

चमरेन्द्र चला गया और प्रभु अपने कायोत्सर्ग में लीन हैं। प्रातःकाल होने पर प्रभु एक रात्रि की प्रतिमा को पालकर विहार करते हुए क्रमशः भोगपुर नगर पधारे। वहां माहेन्द्र नामक एक क्षत्रिय रहता था। उसने ज्योंही प्रभु को अपने नगर में आता हुआ देखा तो उस दुर्मति ने प्रभु को खजूर की लाठी से मारना प्रारम्भ किया। उसी समय बहुत समय पश्चात् प्रभु के दर्शन करने की इच्छा से तीसरे देवलोक के इन्द्र सनत्कुमारेन्द्र प्रभु को वन्दन करने के लिए आये। जब उन्होंने उस दुष्ट को प्रभु पर उपद्रव करते देखा तो उसका तिरस्कार किया, भक्तिपूर्वक प्रभु को वन्दन किया और विहार की सुख–साता पूछकर लौट गया।

प्रभु वहां से विहार कर नन्दीग्राम पधारे। वहां राजा सिद्धार्थ का मित्र 'नन्दी' रहता था। वह भगवान् को पहिचान गया और उसने भक्तिपूर्वक भगवान की पर्युपासना की। प्रभु वहां से विहार कर मेढ़क ग्राम पधारे। वहां एक ग्वाला बालों की डोरी लेकर प्रभु को मारने दौड़ा। शक्रेन्द्र अवधिज्ञान का उपयोग लगाकर प्रभु को देख रहे थे। जैसे ही देखा कि ग्वाला प्रभु को मार रहा है, तुरन्त वहां से आये और ग्वाले से कहा– अरे मूर्ख, ये त्रिलोकीनाथ, जगत्पूज्य महावीर भगवान् है। तूं कितना अनर्थ कर रहा है। यों कहकर ग्वाले का उपसर्ग मिटाया और भक्तिपूर्वक वन्दन–नमस्कार कर शक्रेन्द्र लौट गया[8]।

वहां से विहार करके प्रभु कोशाम्बी पधारे। कोशाम्बी में महापराक्रमी, प्रबल शत्रुदमन करने वाला, विशाल सैन्य समूह वाला शतानीक राजा राज्य करता था। राजा शतानीक की महारानी मृगावती तीर्थंकर भगवान के प्रति अनन्य श्रद्धावान श्रेष्ठ श्राविका थी। राजा शतानीक का मंत्री था सुगुप्त, जिसकी नन्दा नामक पत्नी थी। वह नंदा, श्राविका मृगावती महारानी की सहेली थी। उसी नगर में धनवाह नामक एक सेठ रहता था। गृहकार्य में प्रवीण उसकी मूला नामक पत्नी

थी। इसी कोशाम्बी में पौष कृष्णा प्रतिपदा के दिन प्रभु वीर का पदार्पण हुआ। पधारते ही प्रभु ने एक विशिष्ट अभिग्रह धारण किया कि द्रव्य से उड़द के बाकुले हों, शूर्प (छाजले) के एक कोने में हों, क्षेत्र से दाता का एक पैर देहली के अन्दर व एक पैर बाहर हो, काल से भिक्षाचरी की अतिक्रान्त बेला हो, भाव से राजकन्या हो, दासत्व प्राप्त हो, शृंखलाबद्ध हो, सिर मुंडित हो, रुदन कर रही हो, तीन दिन की भूखी हो, ऐसा संयोग मिले तो मुझे भिक्षा लेना कल्पता है, अन्यथा नहीं[9]।

जिनदास ने अपनी आवश्यक चूर्णि में प्रभु के अभिग्रह में 'रोयमाणी' लिखा है जिसका तात्पर्य है वह बाला रुदन कर रही हो जबकि आवश्यक मलयगिरी में जहां अभिग्रह का वर्णन है वहां रोयमाणी नहीं है[10]। आवश्यक चूर्णि और आवश्यक मलयगिरी में यह स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान ने ऐसी प्रतिज्ञा ग्रहण की कि यदि यह अभिग्रह फलित होगा तो ही मैं भिक्षा ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं जबकि श्री चौथमलजी म. सा., देवेन्द्र मुनि ने ऐसा उल्लेख किया है कि भगवान ने ऐसी प्रतिज्ञा ग्रहण की कि यदि यह अभिग्रह फलेगा तो मैं भिक्षा लूंगा अन्यथा छह मास तक भिक्षा नहीं लूंगा[11]।

ऐसा घोर अभिग्रह धारणकर, भगवान प्रतिदिन भिक्षा के समय ऊँच, नीच घरों में गोचरी के लिए पधारने लगे परन्तु अभिग्रह फलित नहीं होने से कोई भिक्षा देता तो प्रभु ग्रहण नहीं करते, खाली हाथ लौट जाते। नगरवासी प्रतिदिन पश्चात्ताप करते कि ओह! हमारा कैसा दुर्भाग्य है कि प्रभु पधारते हैं लेकिन उनके अनुकूल आहार नहीं मिलने से पुनः खाली लौट जाते हैं। इस प्रकार प्रतिदिन भिक्षा के लिए गमन करते हुए प्रभु को चार माह व्यतीत हो गये[12] लेकिन अभिग्रह नहीं फलने से प्रभु को भिक्षा नहीं मिल पाई।

तदनन्तर एक बार प्रभु सुगुप्त मंत्री के घर भिक्षा हेतु पधारे। वहां मंत्रीपत्नी नन्दा ने दूर से भगवान को आते हुए देखा। अत्यन्त हर्षित होती हुई वह सामने आई और कहने लगी आज मेरा प्रबल सौभाग्य है कि आज तीर्थंकर भगवान मेरे द्वार पर आये हैं। महान पुण्योदय से यह संयोग मिला है– ऐसा बोलती हुई प्रभु को जो–जो प्रासुक पदार्थ थे उनको ग्रहण करने का निवेदन करती है, परन्तु

अभिग्रह नहीं फलने से प्रभु बिना कुछ लिए खाली ही लौट जाते हैं। नन्दा स्वयं को धिक्कारने लगी– अहो! मैं कैसी अभागन हूं। मेरे घर से प्रभु बिना कुछ लिए लौट गये। आज मन की मन में रह गई। इस प्रकार बोलती हुई पश्चाताप करती है। तब नन्दा की एक दासी ने कहा– स्वामिनी! ये देवार्य तो प्रतिदिन ऐसे ही भिक्षा लिए बिना प्रत्येक घर से लौट रहे हैं। इनको खाली लौटते हुए बहुत समय व्यतीत हो गया है। तब नन्दा ने सोचा कि भगवान किसी भी घर से प्रासुक अन्न भी नहीं लेते, खाली लौटते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि प्रभु ने कोई अभिग्रह धारण कर रखा है लेकिन अभिग्रह क्या है? वह जान लेना चाहिए। इस प्रकार प्रभु की चिन्ता में नन्दा आनन्दरहित हो गयी। उसी समय सुगुप्त मंत्री आया और उसे चिन्ता करती हुई देखकर कहा– नन्दे! क्या बात है, क्या किसी ने तुम्हारी अवमानना की है? अथवा मैंने तुम्हारा कोई अपराध किया है जिस कारण तुम म्लान मुख वाली हो रही हो? तब नन्दा ने कहा– स्वामिन्! ऐसी कोई बात नहीं है लेकिन आज भगवान महावीर मेरे यहां से भिक्षा लिए बिना खाली लौट गये इसका मुझे बड़ा खेद है। प्रभु तो अपने नगर में प्रतिदिन कहीं–न–कहीं भिक्षा के लिए जाते हैं लेकिन सदैव ही खाली लौट जाते हैं, उनके कोई विशिष्ट अभिग्रह लिया हुआ है। आप उनके अभिग्रह का पता लगाओ तभी जानूंगी कि आप बुद्धिमान मंत्री हो। तब सुगुप्त ने कहा– प्रिये! मैं ऐसा प्रयास करूंगा कि शीघ्र ही भगवान का अभिग्रह जान पाऊँ। उसी समय मृगावती रानी की विजया नाम की छड़ीदार स्त्री वहां बाहर खड़ी–खड़ी सुगुप्त और नन्दा की वार्ता श्रवण कर रही थी। उसने सारी वार्ता अपनी स्वामिनी महारानी मृगावती से कह डाली। उसे श्रवण कर मृगावती महारानी को तत्काल खेद उत्पन्न हुआ। वह अत्यन्त उदास होकर बैठ गयी। इधर राजा शतानीक राज्यकार्य से निवृत्त होकर महलों में पधारे। रानी को म्लान मुख देखा। पूछा– क्या हुआ महारानी? तब भृकुटी टेढ़ी कर महारानी बोली– राजन्! नृपति तो देश–विदेश के लोगों का खयाल रखते हैं लेकिन आप तो अपने शहर में आने वालों का भी ध्यान नहीं रखते। आप तो राज्य–सुख में प्रमादी बन गये हैं। क्या आप जानते हैं कि त्रिलोकीनाथ प्रभु महावीर हमारे

नगर में पधारे हुए हैं? वे कठोर अभिग्रह लेकर घर–घर भिक्षा के लिए घूम रहे हैं लेकिन उनका अभिग्रह अभी तक फला नहीं है। महीनों हो गये, वे अभी तक भूखे हैं। राजा शतानीक यह सुनकर खेद और विस्मय से बोला– अरे, मुझे अभी तक मालूम तक नहीं चला। वस्तुतः मैं बहुत प्रमादी हूं। तुमने मुझे ठीक समय पर चेतावनी दी है। अब मैं प्रातःकाल ऐसा प्रयास करूंगा जिससे भगवान का अभिग्रह फलित हो जाये और उनका पारणा हो जावे।

ऐसा कहकर राजा ने तत्काल मंत्री सुगुप्त को बुलाया और कहा– मंत्रीवर! हमारी नगरी में भिक्षा के लिए भ्रमण करते हुए प्रभु महावीर को चार माह हो गये लेकिन अभी तक उनको भिक्षा नहीं मिली। उन्होंने कोई विशिष्ट अभिग्रह ग्रहण कर रखा है। हमें धिक्कार है कि हम अभी तक उनका अभिग्रह नहीं जान पाये। अब ऐसा प्रयास करो कि शीघ्र ही उनका अभिग्रह फलित हो जाये और मैं उन्हें पारणा करवा सकूं। मंत्री ने कहा– महाराज उनका अभिग्रह जानने में हम समर्थ नहीं हैं इसलिए मुझे बड़ा खेद है। अतः उसके लिए कोई उपाय करना चाहिए। तब नृपति ने सोचा कि धर्मशास्त्र का ज्ञाता ही अभिग्रह के बारे में बतला सकता है, इसलिए धर्मशास्त्र के ज्ञाता उपाध्याय तथ्यकंदी को बुलाना चाहिए। ऐसा चिन्तन कर महाराजा ने तथ्यकंदी उपाध्याय को बुलाया और कहा– हे महामति! जिनेश्वर देव ने कैसा अभिग्रह ग्रहण किया है, मुझे बतलाओ। तब उपाध्याय ने कहा कि राजन्! द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से अभिग्रह चार प्रकार के कहे गये हैं। इन भगवान ने जो अभिग्रह ग्रहण किये हैं उन्हें विशिष्ट ज्ञानी के बिना अन्य कोई नहीं जान सकता। तब राजा भी व्यथित हो गये। सोचा परमज्ञानी के अभिग्रह को जानना अशक्य है। बहुत चिन्तन करने के पश्चात भी जब कोई उपाय नजर नहीं आया, तब राजा ने नगरी में घोषणा करवाई कि विशिष्ट अभिग्रहधारी प्रभु वीर जिस–जिस घर में आयें और जो–जो प्रासुक वस्तु आपके घर में उपलब्ध हो वह आप देना ताकि कभी अभिग्रह फलित हो सकता है। लोग राजा की उद्घोषणा श्रवणकर श्रद्धापूर्वक जो भी घर पर प्रासुक वस्तु होती वह प्रभु को देने की भावना भाते, लेकिन भगवान महावीर अभिग्रह फलने

की स्थिति नहीं होने से पुनः लौट जाते[13]।

इस प्रकार निरन्तर भिक्षारहित होने पर भी प्रभु का मुखकमल तो अम्लान बना रहता था लेकिन लोगों के मन में अत्यन्त खेद और लज्जा होने लगी कि इतना लम्बा अर्सा हो गया लेकिन हमारी नगरी में भगवान का पारणा नहीं हुआ। अब क्या करें? क्या नहीं करें। इस प्रकार किंकर्तव्यविमूढ़ बने लोग आकुल–व्याकुल रहने लगे।

इधर कुछ समय पहले की बात है कि राजा शतानीक और चम्पापुर नरेश दधिवाहन परस्पर शत्रुता रखते थे। एक दिन राजा शतानीक ने अचानक अपने विशाल सैन्य समूह सहित चम्पापुर नरेश दधिवाहन पर आक्रमण कर दिया। अचानक आक्रमण होने से सुरक्षा करना कठिन होने से राजा दधिवाहन वहां से भागा तब शतानीक राजा ने घोषणा करवाई कि चम्पानगरी स्वामीरहित है इसलिए जिसको जो लूटना है लूटो। तब सैनिकों ने चम्पा लूटना प्रारम्भ किया। नगर में भयंकर विप्लव मच गया। कोई किधर भागने लगा, कोई किधर। चम्पापुर के लोग घर–बार छोड़कर ऐसे भाग रहे हैं मानो भूकम्प आ गया हो। एक राजा के चले जाने से नगर ऐसे असुरक्षित हो गया मानो नगर के प्राण ही चले गये हों। इसी भगदड़ में एक सुभट राजा के अन्तःपुर में चला गया। वहां उसने अत्यन्त सौम्य स्वरूपा, कमनीय अंगोपांग वाली, कमलनयनी महारानी धारणी और रूप और लावण्य की साक्षात् प्रतिमर्ति, श्याम केशराशि से सुसज्जित, रक्तिम अधरवाली, प्रलम्ब भुजावाली, नवयौवना राजकुमारी वसुमति को देखा। देखकर उसके रूप पर मुग्ध बन गया। वह धारणी से बोला– अहो! आज तुम बड़े ही सौभाग्य से मुझको मिली हो। अब मैं तुम्हें अपनी प्राणप्रिया बनाकर रहूंगा।

उत्तम वंशजा शीलमूर्ति धारणी महारानी के लिये ये वचन बड़े असह्य हो गये। अरे! रे! ऐसे शब्दों को सुनकर भी मैं जीवित हूं। अरे प्राणों, निकल जाओ जीना,........................ जीना......................जीना करती हुई धड़ाम से गिर पड़ी और वहीं पर महारानी के प्राणपंखेरू उड़ गये[14]। उसे तत्क्षण मृत्यु प्राप्त देखकर सैनिक का मन पश्चात्ताप से भर गया। ओह! मैं कितना नराधम निकला कि ऐसी सती–साध्वी का

आगे–आगे सेठ चल रहा है, पीछे–पीछे वसुमति। चलते–चलते सेठ धनावह का घर आ गया। घर पर जाकर सेठ ने वसुमति से पूछा– बेटी! तुम्हारा नाम क्या है? तुम किसकी कन्या हो? तुम्हारे स्वजनादि कहां है। मैं तुम्हारा पितातुल्य हूं। तुम अपनी सारी हकीकत कह डालो। वसुमति सेठ के प्रश्नों का चुपचाप श्रवण कर रही थी। तब पुनः सेठ ने कहा– बोलो बेटी! यहां किसी बात का भय नहीं है लेकिन वसुमति अपनी उच्च कुल की मर्यादा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए कुछ भी नहीं बोली, मौन रही। तब सेठ ने सोचा कि यह कुलीन कन्या कुछ कहना नहीं चाहती। तब क्या करना है अधिक पूछकर। इसे ज्यादा कहना उचित नहीं। यों सोचकर अपनी धर्मपत्नी मूला सेठानी से कहा कि यह कन्या अपनी ही लड़की है। इस सुकुमार बाला का तूं बड़े यत्न से लालन–पालन करना। मूला ने पति–वचनों को स्वीकार किया। वह लड़की मूला सेठानी के यहां पर निरन्तर बढने लगी। वहां उसका विनय, व्यवहार और सहनशील, शीतल स्वभाव देखकर सेठ ने उसका नाम चंदना रख दिया[16]।

बालचन्द्र की तरह चन्दना मूला सेठानी के वहां वृद्धिंगत होने लगी। कामकाज में अत्यन्त चतुर वह सभी के मन को जीतने लगी। निरन्तर उसके यौवन में निखार आने लगा। बसन्त की तरह कमनीय गात्र अत्यन्त मनोरम दिखाई देने लगा। सेठ धनावह का अत्यन्त विनय करने से वह सेठ को भी अपनी पुत्री की तरह प्यारी लगने लगी लेकिन उसका यौवन, तिस पर सेठ का वह दुलार देखकर मूला का मन अशान्त बनने लगा। चिन्तन चला– इस नवयौवना के साथ कहीं सेठ का कोई लगाव हो गया और सेठ ने इसे अपना लिया तो मेरा क्या होगा............ इस लड़की के कारण मेरा खानदान बदनाम हो जायेगा. .... इसका रूप मेरे घर का रूप विकृत कर देगा। अब क्या होगा. .... यह कांटा कैसे निकलेगा? इसको ज्यादा सिर पर चढाना उचित नहीं, किसी–न–किसी बहाने अब इसे घर से निकालना ही ठीक है। कैसे इसको घर से निकालूं ताकि सेठ भी नाराज न हो और मेरा काम भी बन जाये। इसी उधेड़बुन में मूला सेठानी दिन–रात उदास रहने लगी।

कर रही है। तूं अब ऐसे ही नहीं मरेगी। तुझे तो मारने के लिए मुझे ही प्रयास करना होगा। ऐसा कहते हुए उसे घसीटती हुई ले गयी और दूर एक ओरड़ी में बन्द कर दिया और सभी नौकरों को आदेश दिया कि आपको सेठ यदि कुछ चन्दना के बारे में पूछे तो आप में से कोई भी कुछ मत बोलना अन्यथा फिर मौत की सजा ही मिलेगी। सभी दास–दासी हाथ जोड़कर खड़े रह गये। मौनपूर्वक सभी ने सेठानी के आदेश को स्वीकार कर लिया।

मूला मनोवांछित कार्य करके अपने निवास स्थान पर लौट गयी। मन प्रसन्न था, चेहरे पर चमक थी। अधम प्राणी दूसरों को खेदित करने में ही आनन्द पाते हैं। अपने मन के संशय को भ्रम की नजरों से पुष्ट होता देखकर वे दूसरों को प्रताड़ित करने का प्रयास करते हैं। अपने जीवन को जोखिम में पड़ा जानकर दूसरों के जीवन के आनन्द को नष्ट कर देते हैं। ऐसा ही किया था सेठानी मूला ने। अनुकम्पा पर ताला लगाकर खुशियां मना रही है। ओह! कितने निकाचित कर्मों का बन्धन कर लिया। तब भी प्रसन्नता से युक्त सज–धज कर बैठी मूला सेठानी, सेठ धनावह का इन्तजार कर रही है।

सूर्य अस्ताचल की ओर जाने को उद्यत है। रक्तिम आभा से मरीचिमाली आकाश में सिन्दूर भर कर स्वल्प समय के लिए संवार रहा है। खगों का कलरव पूरे वायुमण्डल में एक अनुगूंज पैदा कर रहा है। व्यापारियों के झुण्ड के झुण्ड अपने–अपने गन्तव्य स्थानों को लौट रहे हैं। अजादि पशु घासादि चर कर स्वस्थान लौट रहे हैं। सेठ धनावह भी ऐसे समय में अपने घर की ओर निरन्तर कदम बढ़ा रहे हैं। तन सड़क पर है तो मन चन्दना में। चन्दना क्या कर रही होगी? अब सयानी हो गयी है। लड़की पराया धन है उसे तो अब............ इन्हीं विचारों में खोये, ओहः क्या घर आ गया? यह सोचकर घर में प्रवेश किया। थकान दूर करने हेतु विश्राम किया। इधर–उधर दृष्टि फैलाते हुए देखा। चन्दना नजर नहीं आई। नौकरों से पूछा– अरे चन्दना कहां गयी? मूला अन्दर बैठी कान दिये सुन रही थी। नौकर सभी एक–दूसरे का मुंह देखते हुए चुप्पी साध लेते हैं। सेठ ने सोचा इधर–उधर चली

गयी होगी। थोड़ी देर सेठ मूला के पास चला गया। मूला हंस–ह
कर सेठ से वार्तालाप करने लगी। बातों–बातों में काफी समय निक
गया। रात्रि हो गयी। नींद का समय आ गया। सेठ ने मूला से पूछा
अरे क्या बात है, आज चन्दना कहां गयी? मूला ने चिढकर जबा
दिया– मुझे क्या मालूम? कहीं चली गयी होगी इधर–उधर? त
नौकरों से पुनः पूछा– क्यों चन्दना कहां गई? नौकर कुछ भी न
बोले। तब सेठ ने सोचा हो सकता है, कहीं नींद आ गई होगी। दूस
दिन सेठ उठा। नित्य कर्म से निवृत्त होकर कार्य करने चला गया
लौटकर आया। सेठ की नजरें चन्दना को ढूंढ रहीं थी लेकिन चन्द
उन्हें कहीं भी दिखाई नहीं दी। नौकरों से पूछा, कोई प्रत्युत्तर न
मिला। तीसरे दिन भी ऐसा ही हुआ। अब सेठ का पारा सीमा पार क
चुका था। क्रोध से आकुल–व्याकुल होकर सेठ ने अपने सब नौक
से पूछा– अरे, चन्दना कहां है? लेकिन कोई जवाब नहीं मिला। त
सेठ ने कहा– अरे बोलते नहीं हो, यदि आज तुमने नहीं बताया त
सबकी छुट्टी कर दूंगा। तुम इतने गद्दार और नमकहराम बन रहे हो
मैं तीन दिन से लगातार पूछ रहा हूं लेकिन कोई बोलते नहीं। तब से
की बात श्रवणकर वृद्धा दासी ने चिन्तन किया कि अब मुझे ज्यादा दि
जीना नहीं है। यदि चन्दना का वृत्तान्त बताने पर मूला मार भी देगी
तो कोई बात नहीं, लेकिन जिनका नमक खाया है उनका दुःख मिटान
मेरा कर्तव्य है। ऐसा सोचकर उस वृद्धा ने सेठ से कहा– सुनिये से
सा! सेठानीजी ने चन्दना के बाल काटकर, पैरों में बेड़ियां डालक
और दूर रहे हुए उस भंवरे में बन्द कर रखा है। सब नौकरों को विशे
आदेश दे रखा है कि कोई इस बात की जानकारी सेठ सा. को न दे
अन्यथा उसे मृत्युदण्ड दिया जाएगा। मैंने आपका नमक खाया है अत
मुझे मरना मंजूर है, परन्तु मैं इस सत्य को आपसे छिपा नहीं पाई अत
श्रीचरणों में निवेदन कर दिया है[18]।

यह श्रवण करते ही सेठ का खून खौल गया। वह तुरन्त जिस
कमरे में चन्दना को बन्द कर रखा था, वहां गया और दरवाजा खोला।
देखकर दंग रह गया। मस्तक मुंडा हुआ, बेड़ियों से जकड़ी हुई, भूखी,
प्यासी, नेत्रों से झर–झर पानी बरसाती हुई चन्दना क्लान्त, खिन्न,

उदासीन दिखाई दे रही है। उसे देखकर सेठ ने कहा– बेटी, तूं आश्वस्त बन, अब चिन्ता छोड़ दे। मैं तेरे लिए रसवती लाता हूं। ऐसा कहकर सेठ रसोईघर में पहुंचा। इधर–उधर बहुत ढूंढा, लेकिन कुछ नहीं मिला। एक छाजले के कोने में सूखे उड़द के बाकुले थे। सेठ ने उसे उठाया और जहां चन्दनबाला थी वहां आया[19]। चन्दना को छाजला पकड़ाते हुए कहा– बेटी तूं यह खाना, इतने में तेरी बेड़ी तुड़वाने के लिए लुहार को लाता हूं। ऐसा कहकर सेठ बन्धन तुड़वाने के लिए चल पड़ा पर जिसके बन्धन स्वयंमेव टूटने वाले थे, उसके बन्धन कौन तोड़ सकता है। चन्दना बन्धन में फंसी अपने दुर्भाग्य पर रुदन कर रही है। ओह! दैव ने यह क्या किया? मैं राजघराने में जन्म लेने वाली और कैसी विपत्ति! पिता भाग गये, माता ने प्राण गंवाये, धनावह सेठ के यहां बिक गयी और आज यह दशा! पैरों में बन्धन हैं, तेले के पारणे में बाकुले मिले हैं। हा दैव! कर्मों की लीला भयंकर है। खैर, अब भी कोई अतिथि आ जाये तो उन्हें भोजन देकर तदनन्तर मैं कुछ खाऊँ। आंखों से अश्रु झर–झर झर रहे हैं और अतिथि का इन्तजार है। दृष्टि पड़ी द्वार पर। देखा वीर प्रभु पधार रहे हैं। देखते ही उठी लेकिन बेड़ी से जकड़ा एक पैर अन्दर और एक पैर बाहर, आंखों में आंसू, छाजले में बासी उड़द के बाकुले लेकर प्रभु से बोली– भगवन्, आज बासी उड़द के बाकुले ही मेरे पास हैं। ऐसा तुच्छ भोजन देने में मन संकुचित बन रहा है लेकिन द्वार पर आप आये, आप खाली कैसे लौट सकते हैं? आप महान हैं, मेरे पर अनुग्रह करके आप ये बाकुले ही भगवन् ग्रहण कर लीजिये। मेरा जीवन सफल हो जायेगा। भगवन् दुःखियारी का दुःख आप ही दूर कर सकते हैं। आंखों से धड़ाधड़ आंसू गिर रहे हैं और चन्दना प्रभु से प्रार्थना कर रही है। उसी समय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अभिग्रह पूर्ण होता जानकर, प्रभु ने अपना हाथ आगे बढ़ाया और चन्दना ने वे बासी कुल्माष बहरा दिये। पांच महीने और पच्चीस दिन के बाद प्रभु ने अन्न ग्रहण किया। आकाश में देवों ने अहोदान अहोदान की घोषणा की। वसुधारा की वृष्टि की। पांच दिव्य प्रकट हुए। चन्दना की बेडियां टूट गयीं और उनके स्थान पर सोने के घुंघरू बन गये। केशराशि मस्तक पर पूर्ववत् सुशोभित हो उठी। चन्दना का गात्र

देवों द्वारा वस्त्रालंकारों से सुशोभित हुआ। देव पूरे भूमण्डल में प्रसरित होने वाले उत्कृष्ट वाद्यों की ध्वनि सहित नृत्यादिक करने लगे।

उस दिव्य ध्वनि को श्रवण कर महारानी मृगावती ने चिन्तन किया कि यह दिव्य ध्वनि देवों द्वारा प्रसारित है, प्रभु ने पारणा कर लिया है। वहीं जाना चाहिए। मृगावती, शतानीक, मंत्री सुगुप्त, मंत्रीपत्नी नन्दा अपने विशाल परिवार सहित वहां आये[20]।

इधर सौधर्मपति इन्द्र भी स्वयमेव प्रभु के पारणे पर उपस्थित हुआ। चहुं ओर हर्ष का वातावरण छा गया। जन–जन में सूचना प्रसारित हो गयी कि प्रभु का अभिग्रह पूर्ण हो गया है। यह जानकारी दधिवाहन राजा के संपुल नामक कंचुकी को मिली जिसको चम्पानगरी लूटने पर शतानीक राजा पकड़ कर ले आया था। संपुल भी वहां तुरन्त उपस्थित हुआ और वसुमति (चन्दना) की दयनीय दशा देखकर जोर–जोर से रुदन करने लगा। उसे देखकर वसुमति की आंखों से भी अश्रु छलछला गये। यह कारुणिक दृश्य देखकर राजा शतानीक ने कंचुकी से पूछा–कहो क्या बात है? इस कन्या को देखकर तुम क्यों रुदन कर रहे हो?

कंचुकी– महाराज! यह कन्या सामान्य कन्या नहीं है। यह राजा दधिवाहन की पुत्री वसुमति है। इसकी यह दशा! अन्तःपुर में पलने वाली यह कन्या यहां म्लानवदना हो रही है। इसे देखकर मेरा तो दिल ही कांप गया है।

यह सुनकर महारानी मृगावती बोली– अरे यह तो मेरी बहिन् धारणी की सुता है। यह तो मेरी ही लड़की है। ऐसा कहते हुए चन्दना को गले से लगा लिया।

इधर प्रभु महावीर, पारणा करके धनावह सेठ के घर के बाहर पधार गये तब राजा शतानीक धन के लोभ से तुच्छ बना उन स्वर्ण मुद्राओं को लेने के लिए लालायित हुआ। उसी समय शक्रेन्द्र ने राजा से कहा– राजन् यह धन तो वसुमति के अधिकार का है, वह जिसको दे, वही उसका अधिकारी है। तब वैभवासक्त बना चन्दना से पूछता है– चन्दन यह धन किसको दिया जाये। निर्भीक भाव से चन्दना ने कहा– पृथ्वीनाथ! यह धन तो मेरे पालक पिता धनावह को दिया जाना चाहिए, वो ही इसके अधिकारी हैं। यह बात श्रवणकर राजा शतानीक

ने धनावह से धन ग्रहण करने की बात कही। धनावह ने सारा द्रव्य ग्रहण किया तब सौधर्मपति इन्द्र ने शतानीक राजा से कहा कि राजन्! यह राजकन्या चरम शरीरी है। यह भागवती दीक्षा लेकर प्रभु महावीर की प्रथम शिष्या बनेगी इसलिए अब इसका रक्षण जब तक प्रभु को केवलज्ञान नहीं हो तब तक आपको करना चाहिए। ऐसा कहकर शक्रेन्द्र स्वस्थान को लौट गया।

राजा शतानीक चन्दना को लेकर अन्तःपुर में गया और वहां उसको राजकन्याओ के साथ रख दिया।

धनावह सेठ को घर बिलकुल खाली–खाली लग रहा है। चन्दना के चले जाने से मानो घर की सारी खुशियां ही चली गयी हैं। सेठ मूला सेठानी के अनर्थो पर मन ही मन कुढा जा रहा है। उसी समय मूला को देखकर सेठ उसे फटकारता है– अरे अधमा नारी! तूं ने कितने अत्याचार किये। एक सती–सावित्री बालिका के साथ यह घोर अनर्थ करके कितने पापों का उपार्जन कर लिया। तुम जैसी पापिनी का मुंह देखना भी पाप है। चल, निकल जा मेरे घर से। ऐसा कहते–कहते सेठ ने मूला की एक भी बात नहीं सुनते हुए उसे घर से बाहर निकाल दिया[21]। वह आर्तध्यान करती हुई मृत्यु को प्राप्त हो गयी और मरकर नरक में पैदा हुई[22]। धनावह सेठ एकान्त उदासीन होकर अपना समययापन करने लगा।

प्रभु वहां से विहार करके प्रातःकाल सुमंगल गांव में पधारे। वहां सनत्कुमारेन्द्र ने आकर प्रभु को वन्दन–नमस्कार किया। वहां से विहार करके भगवान सत्क्षेत्र नामक ग्राम में पधारे। वहां महेन्द्र कल्प के इन्द्र ने आकर प्रभु को भक्ति से वन्दन–नमस्कार किया और पुनः लौट गये। वहां से विहार करके प्रभु पालक नामक ग्राम में पधारने लगे। वहां भायल नामक एक वणिक् यात्रा करने हेतु प्रस्थान कर रहा था। उसने प्रभु को सम्मुख आता हुआ देखा और चिन्तन किया कि अरे! इस भिक्षुक के सामने आने से अपशकुन हो गया है अतः इसको मार डालना चाहिए। ऐसा सोचकर प्रभु को मारने के लिए उसने तलवार निकाली। तब सिद्धार्थ व्यन्तर ने उसकी उद्दण्डता देखकर उसी तलवार से उसका मस्तक काट डाला। प्रभु को मारने वाला खुद प्राण त्याग कर

प्रयाण कर गया।

प्रभु वहां से विहार करके चम्पानगरी में स्वातिदत्त नामक ब्राह्मण की अग्निहोत्री शाला में बारहवां चातुर्मास करने के लिए पधारे और चौमासी तप के प्रत्याख्यान कर लिये। वहां प्रत्येक दिन पूर्णभद्र और मणिभद्र नामक दो यक्ष प्रभु की सेवा–भक्ति करने के लिए आते थे। स्वातिदत्त इस दृश्य को देखकर चिन्तन करने लगा कि ये देवार्य बहुत बड़े ज्ञाता दिखते हैं इसलिए दोनों यक्ष प्रतिदिन इनकी सेवा–भक्ति करने के लिए आते हैं तो मुझे भी आत्मा के विषय में कुछ जिज्ञासा है अतः मैं भी इनसे अपनी जिज्ञासा का समाधान कर सकता हूं। ऐसा चिन्तन कर वह एक दिन प्रभु के पास गया और विनयपूर्वक पूछने लगा– भगवन्! इस शरीर में जीव कौन है? प्रभु बोले कि हमें जो यह प्रतीत होता है कि मैं हूं, बस वही जीव है। वह जीव कैसा है? भगवन्! स्वातिदत्त ने पूछा। भगवन् बोले– हे द्विज! शारीरिक अवयवों से भिन्न और अत्यन्त सूक्ष्म है।

भगवन! सूक्ष्म का क्या तात्पर्य है। स्वातिदत्त ने पूछा।

स्वातिदत्त! जो इन्द्रियों से अग्राह्य और अरूपी है वह जीव है।

स्वातिदत्त– भगवन्! प्रदेश क्या है?

महावीर– स्वातिदत्त प्रदेश उपदेश है। वह दो प्रकार का है। यथा– धार्मिक और अधार्मिक।

स्वातिदत्त– भगवन्, प्रत्याख्यान कितने प्रकार का है?

महावीर– स्वातिदत्त, प्रत्याख्यान दो प्रकार का है– मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान।

इस प्रकार स्वातिदत्त ने प्रभु से जीव का स्वरूप समझा और भक्ति करके लौट गया[23]। प्रभु ने भी उसे भव्य जानकर ही प्रतिबोध दिया[24]। चार माह कर्मों की निर्जरा करते हुए व्यतीत हुए। प्रभु चातुर्मास सानन्द सम्पन्न कर जृंभक गांव पधारे। वहां शक्रेन्द्र ने प्रभु की भक्ति करने के लिए नाट्यविधि बतलाई और वन्दन–नमस्कार करके निवेदन किया– जगत्पति, अब आपको शीघ्र ही केवलज्ञान उत्पन्न होने वाला है। ऐसा कहकर स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया।

भगवान वहां से विहार करके मेंढ़क ग्राम पधारे। वहां चमरेन्द्र

प्रभु की भक्ति करने आया और वन्दन–नमस्कार करके लौट गया। भगवान वहां से विहार करके छम्माति ग्राम पधारे। वहां गांव के बाहर कायोत्सर्ग करके ध्यानस्थ बनकर स्वयं की साधना में तल्लीन बन गये।

प्रभु आत्मसाधना में समालीन हैं। इधर एक ग्वाला बैलों को लेकर प्रभु के पास आता है। प्रभु को देखकर कहता है, तुम मेरे इन बैलों का खयाल रखना, मैं गायें दुहकर आता हूं। प्रभु तो ध्यान में निमग्न थे और ग्वाला अपने बैलों को प्रभु के समीप छोड़कर गायों को दुहने चला गया। वे बैल वहां पर घास चरने लगे और चरते–चरते दूर जंगल में चले गये। थोड़ी देर पश्चात् वह ग्वाला आया और देखा कि बैल वहां से गायब थे। उसने प्रभु से पूछा– अरे अधम! मेरे बैल कहां हैं? प्रभु मौन थे। तब उसने पुनः पूछा– अरे! तूं बोलता क्यों नहीं? क्या तुझे मेरी बात सुनाई नहीं देती? तेरे ये कानों के छिद्र क्या व्यर्थ हैं? ऐसा कहने पर भी भगवान कुछ नहीं बोले तब उसे अत्यन्त क्रोध आया और पूर्वभव का वैर जागृत हो गया। यह वही ग्वाला था जिसको शय्यापालक के भव में प्रभु महावीर की आत्मा ने उबलता हुआ शीशा कानों में डलाया था[25]। उसी पूर्व वैर से वह दो काश की शलाकाएं लाया और प्रभु के दोनों कानों में बींध दी। बाहर जो शलाका का भाग दिख रहा था उसे देखकर शलाका को कोई निकाल देगा, ऐसा सोचकर उस ग्वाले ने उस बाहर दिखने वाले शलाका के हिस्से को छेद दिया। अब कोई यह जान नहीं सकता था कि प्रभु के कान में शलाका डाली हुई है। इस प्रकार माया–मिथ्यात्व से उसने प्रभु को भयंकर संताप पहुंचाया लेकिन प्रभु तनिक भी कम्पित नहीं हुए।

वहां से विहार करके प्रभु मध्यम पावा पधारे। पारणा करने हेतु प्रभु सिद्धार्थ वणिक् के यहां पधारे। उसने भक्तिभावपूर्वक प्रभु को आहारादि दिया। उस सिद्धार्थ के घर पर उसका मित्र खरक वैद्य आया हुआ था। उसने प्रभु के देह का अवलोकन किया और मित्र से कहा– सिद्धार्थ ऐसा लगता है, देवार्य के शरीर में कोई शल्य है जिसकी भयंकर वेदना से इनका दिव्य मुख–मण्डल म्लान हो रहा है। तब सिद्धार्थ ने कहा– आप देखो, कहां पर शल्य है? खरक वैद्य ने बहुत ही सूक्ष्मता से प्रभु के देह का नख–शिख अवलोकन किया और सिद्धार्थ

से कहा– सिद्धार्थ प्रभु के कानों में खीलें हैं। किसी पापी ने नरक से भी भय नहीं खाते हुए इस महापुरुष के कानों में शल्य ठोके हैं। इनके शरीर में भयंकर वेदना हो रही है अतः इन शल्यों को जल्दी निकालना चाहिए। तब खरक वैद्य ने कहा– प्रभु तो अपकारी पर दया करने वाले, अपने शरीर की अपेक्षारहित हैं। तब मैं उनकी चिकित्सा कैसे करूं? यह समझ नहीं आ रहा है।

तब सिद्धार्थ बोला– अरे मित्र, तूं बात मत कर, बस जल्दी से प्रभु की चिकित्सा कर। मुझे बहुत पीड़ा हो रही है।

इतने में ही प्रभु तो वहां से निकलकर बाहर उद्यान में पधार गये और कायोत्सर्ग करके ध्यान में स्थित हो गये। इधर सिद्धार्थ और खरक वैद्य औषधादि लेकर उद्यान में पहुंचे। वहां पहुंचकर खरक वैद्य ने प्रभु के पूरे शरीर पर तेल लगाया। पुनः चम्पी करने वाले पुरुषों से मर्दन करवाया और तब बलिष्ठ पुरुषों ने प्रभु की समस्त संधियां शिथिल कर दी तब उस खरक वैद्य ने संडासी से दोनों कानों की दोनों शलाकाएं एक साथ खींची। रुधिर सहित दोनों शलाकाएं निकल गयीं। उन कीलों को खींचते समय प्रभु को अपार वेदना हुई और उसी वेदना के कारण पृथ्वी को कम्पायमान करने वाली भयंकर चीस प्रभु के मुंह से निकली। उस समय खरक वैद्य ने संरोहिणी औषधि कान पर लगायी और वन्दन–नमस्कार करके सिद्धार्थ वणिक और खरक वैद्य स्वस्थान को लौट गये[26]। वह ग्वाला मरकर सप्तम नरक का नैरयिक बना[27]। प्रभु के उस भयंकर (भैरव) नाद से उस उद्यान का नाम महाभैरव नाम से प्रख्यात हुआ। प्रभु महावीर को जो–जो उपसर्ग हुए उनमें कटपूतना के द्वारा शीत का उपसर्ग जघन्य महान् उपसर्ग था। मध्यम उपसर्गों में संगम के कालचक्र का उपसर्ग विशिष्ट उपसर्ग था। और उत्कृष्ट उपसर्गों में कानों की शलाकाएं निकालना अत्यन्त उत्कृष्ट था। प्रभु का उपसर्ग ग्वाले से प्रारम्भ हुआ और अन्तिम उपसर्ग भी ग्वाले का था[28]।

प्रभु ने तपश्चर्या में 9 चातुर्मासिक तप, छह द्विमासिक तप, बारह मासिक तप, बहत्तर अर्द्धमासिक तप, एक छह मासिक तप, दो त्रैमासिक तप, दो डेढ़ मासिक तप, दो अर्धमासिक तप, तीन भद्रादिक

प्रतिमा, कौशाम्बी में पांच महिने और पच्चीस दिन का अभिग्रह धारण; वारह तेले और दो सौ उनतीस बेले किये। इस प्रकार भगवान् ने 12) वर्षो की घनघोर साधना में कभी भी एक उपवास या नित्य भक्त नहीं किया। इस प्रकार समस्त तपश्चर्या जलरहित की। 12) वर्षो में कुल 349 दिन आहार ग्रहण किया[29]। शेष 4515 दिन तपश्चर्या की[30]। आचारांग के अनुसार भगवान् ने दशमभक्त आदि तपश्चर्याएं भी की थीं[31]। महान् उपसर्गो को जीतते हुए और छद्मस्थ रूप में विचरण करते हुए प्रभु वीर ऋजुबालिका नामक नदी के पास जृंभक गांव में पधारे।

प्रभु का कैवल्यज्ञान और संघोत्पत्ति

जृंभक ग्राम के बाहर ऋजुबालिका नदी के तट पर श्यामाक नामक गाथापति का खेत था। उसमें सुविस्तृत शालवृक्ष था। उस तरुतल के नीचे बेले का तप करके उत्कटिक आसन से प्रभु आतापना लेने लगे। वहां विजय मुहूर्त में शुक्लध्यान में रहते हुए, क्षपक क्षेणि चढ़ते हुए वैशाख शुक्ला दशमी के दिन, चन्द्र जब हस्तोतर (चित्रा) नक्षत्र में आया तब चतुर्थ प्रहर में प्रभु को कैवल्यज्ञान उत्पन्न हुआ। उसी समय इन्द्रों के आसन कम्पायमान हुए। उन्होंने अवधिज्ञान का उपयोग लगाकर देखा– अहो! प्रभु वीर को कैवल्य ज्योति प्राप्त हुई है। इन्द्रों ने देवों को सूचित किया कि जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र के चरम तीर्थंकर प्रभु वीर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ है। तब बहुत–सारे देव भूमण्डल पर आये और सब देवता हर्ष विभोर हो गये[32]। उस हर्षातिरेक से कोई नृत्य करने लगा, कोई हंसने लगा, कोई गाने लगा, कोई कूदने लगा, कोई सिंहवत् गर्जना करने लगा, कोई हस्तीवत् चिंघाड़ने लगा, कोई रथ की तरह आवाज करने लगा, कोई सर्प की तरह फुफकारने लगा। इस तरह अनेक प्रकार की चेष्टाएं देवगण करने लगे। तदनन्तर देवों ने तीन किल्ले वाले और प्रत्येक किल्ले के चार–चार द्वार वाले समवशरण की रचना की। प्रभु ने केवलज्ञान से जाना कि यहां कोई जीव सर्वविरति चारित्र अंगीकार करने वाला नहीं है तथापि अपना कल्प जानकर समवशरण में विराजे और वहां धर्मदेशना दी[33]। प्रभु की प्रथम देशना में मात्र देव होने से किसी ने कोई त्याग–प्रत्याख्यान नहीं,

किया। इस कारण प्रथम देशना खाली गई। इसे आगमों में आश्चर्य रूप बतलाया है[34]। उस तीर्थ में हाथी के वाहन वाले, कृष्णवर्ण वाले, बांये हाथ में चमर और दाहिने हाथ में नकुल धारण करने वाले मातंग नामक यक्ष और सिंह के आसनवाली नीलवर्णवाली, दो वाम भुजाओं में चंवर तथा वीणा एवं दो दाहिनी भुजाओं में पुस्तक और अभय को धारण करने वाली सिद्धायिका देवी– ये दोनों नित्य प्रभु के पास रहने वाले शासन रक्षक देव और देवी हुए[35]। तीर्थंकर केवलज्ञान होने के एक मुहूर्तपर्यन्त वहीं रुकते हैं इसी कारण प्रभु भी एक मुहूर्तपर्यन्त वहां रुके और तदनन्तर लोकोपकार करने और भव्य जीवों को दिशाबोध प्रदान करने के लिए वहां से विहार कर दिया। असंख्य देवों से परिवृत भगवान मध्यम पावा की ओर पधारने लगे[36]।

संदर्भः साधनाकाल का द्वादश वर्ष, अध्याय – 22

गम्मो गमणिज्जो वा कराण गसए व बुद्धादी।। 1088।।
जल पट्टणं च थल पट्टणं च इति पट्टणं भवे दुविहं।
अइमाइ आगरा खलु, दोणमुहं जल थल पहेणं।।1090।।
बृहत्कल्प, लघु भाष्य; संघदासगण क्षमाश्रमण; भाग 2; श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर; सन् 1936; पृ. 342–43
त्रिषष्टि श्लाका पुरुष चारित्र पुस्तक; वही; पृ. 88
दानामा (दानमय्या, दानमयी अथवा दानिमा) प्रव्रज्या उसे कहते हैं जिसमें दान देने की वृत्ति मुख्य हो। पूरण तापस की प्रवृत्ति में दान वृत्ति ही मुख्य थी।
द्रष्टव्य– (क) भगवती सूत्र; अभयदेवसूरि; शतक 3, उद्देशक 2; पत्रांक 174
(ख) श्रीमद्भगवती सूत्र; पं वेचरदासजी; खण्ड 2/61
(ग) त्रिषष्टि श्लाका पु. चारित्र, पृष्ठ 88 में दानाम के स्थान पर प्रणामा प्रव्रज्या का उल्लेख है।
भगवती सूत्र; अभयदेवसूरि; शतक 3 उद्देशक 2
(क) त्रिषष्टि श्लाका पु. चा.; पुस्तक 7; वही; पृ. 89–91
(ख) भगवती सूत्र; अभयदेवसूरि; शतक 3/उद्देशक 2
शक्रध्वज या मुख्य द्वार के दोनों कपाटों के अर्गला स्थान। अर्धमागधी

कोष; श्री रत्नचन्द्रजी महाराज; भाग 2; प्रका. सरदारमल भंडारी, राजावाड़ा चौक, इन्दौर; सन् 1927; 129

7. (क) त्रिषष्टि शलाका पु. चा., पुस्तक 7; वही; पृ. 89–92
(ख) भगवती सूत्र; अभयदेवसूरि; वही; शतक 3/उद्देशक 2; पृ. 169–80

8. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 316
(ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 294

9. आवश्यक चूर्णि, जिनदास; पृ. 317

10. (क) सामी य इमं एवारूवं अभिग्गहं अभिगेण्हति, चउव्विहं दव्वतो दव्वतो–कुंमासे सुप्प कोणेणं, खित्तओ एलुगं विक्खंभइत्ता, कालओ–नियत्तेसु भिक्खायरेसु भावतो जदि रायधूया, दासत्तणं पत्ता, णियलवद्धा, मुंडियसिरा रोयमाणी अब्मत्तट्ठिया
आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 317
(ख) इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगेण्हइ, चउव्विहं, तंजहा–दव्वतो, खेत्ततो कालतो भावतो, दव्वतो कुम्मासे सुप्पकोणेणं, खेत्ततो एलुगं विक्खंभइत्ता, कालतो नियत्तेसु भिक्खायरेसु भावतो जइ रायधूया दासत्तणं पत्ता नियलवद्धा मुंडियसिरा अट्ठमभत्तिया
आवश्यक मलयगिरि; पृ. 294
(ग) एलुगं नाम गृहदेहली तां विष्कम्भ्य–एकं पादं तस्या अवगिभागे एकं च परभागे/श्री हरिभद्रीयावश्यक टीप्पणकम्; देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार; सन् 1920; पृ. 27 (हेमचन्द्र सूरि)

11. (क) भगवान महावीर का आदर्श जीवन; श्री चौथमलजी म. सा.; प्रका. जैनोदय पुस्तक प्रकाशन समिति, रतलाम; वि. सं. 1989, प्र. सं. पृ. 313
(ख) भगवान महावीर एक अनुशीलन, देवेन्द्र मुनि; वही; पृ. 361
(ग) एवं कप्पति, सेसं ण कप्पति– आवश्यक चूर्णि, जिनदास, पृ. 317
(घ) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरी; पृ. 294
(ङ) तो चिरकाले पण हुं पारणुं करीश, ते सिवाय कदिपण करीश नहीं।
त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र; वही, पृ. 94

12. (क) एवं चत्तारि मासे कोसंबीए हिंडति– आवश्यक चूर्णि, जिनदास, पृ. 317
(ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि, पृ. 294

यहां यह भी प्रश्न उठता है कि जब प्रभु को भिक्षा मिल ही नहीं रही थी तो प्रतिदिन भिक्षा के लिए प्रभु क्यों जाते? दो–चार दिन छोड़कर भी जा सकते थे। इसका समाधान करते हुए चूर्णिकार ने कहा है "दिवसे–दिवसे य भिक्खायरियं फासेति, किं निमित्तं? बावीसं परिसहा भिक्खायरियाए उदिज्जंति। आवश्यक चूर्णि; पृ. 317

13. (क) आवश्यक चूर्णि; पृ. 317–18
(ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 294–95

14. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 318
(ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 295
(ग) त्रिषष्टि श्लाका पु. चा.; पृ. 96–97; जवाहर किरणावली

15. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 318, आवश्यक मलयगिरी; पृ. 294–95
(ख) चूर्णिकार जिनदास; मलयगिरि; त्रिषष्टि श्लाका पु. चारित्रकार ने ऐसा ही उल्लेख किया है कि सैनिक ने धनावह सेठ को ही वसुमति को बेचा जबकि दिवाकर चौथमलजी म. सा. भगवान महावीर का आदर्श जीवन, पृ. 316–18 पर ऐसा उल्लेख करते हैं कि वसुमति को वह सैनिक बाजार में बेचने के लिए लाया और उसने सैकड़ों मनुष्यों के बीच बाजार में वसुमति को 500 स्वर्णमुद्राओं में एक वेश्या के हाथ बेच दिया। वसुमति को अपनी शील–रक्षा का विशेष संकट आया दीखा। वह बेचैन हुई और वेश्या के घर जाने से पहले ही वहीं पर धड़ाम से गिर पड़ी। उसी समय शीलरक्षक देवों ने बन्दर का रूप धारण किया और वेश्या के शरीर को नोच डाला। तब वेश्या ने चिन्तन किया कि इसको खरीदने मात्र से यह संकट आया है तब घर पहुंचने पर मेरी क्या दशा होगी। अतः वेश्या ने सुभट से 500 स्वर्णमुद्राएं वापिस ले ली और घर चली गयी। सुभट अब वसुमति को बेचने दूसरे बाजार में ले गया। वहां धनावह सेठ ने पूरे दाम देकर उसे खरीद लिया।

16. "अहो इमा सीलचंदणत्ति, ताहे से बितियं पिय णामं कयं चंदणत्ति।" आवश्यक चूर्णि, जिनदास; पृ. 318

17. (क) ताए धोरंतीए ते वाला वङ्खेल्लगा फिट्टा, मा चिक्खल्ले
पडिहिंतित्ति तस्स य हत्थे लीलाकट्ठतं तेण ते धरिता बद्धाय
आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 319

(ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 295

(ग) त्रिषष्टि श्लाका पु. चा.; वही; पृ. 98

(घ) यद्यपि आवश्यक चूर्णिकार जिनदास, वृत्तिकार मलयगिरि एवं त्रिषष्टि पु. चारित्रकार ने ऐसा उल्लेख किया है कि चन्दना के वाल कीचड़ के पानी से खराव न हो जाए एंतदर्थ लकड़ी से ऊपर कर सेठ ने सहज भाव से वांध दिये लेकिन दिवाकर चौथमलजी म. सा. ने इससे कुछ भिन्न वर्णन किया है। वह इस प्रकार है "वह पैर धोने लगी। उसके केश खुले थे, वार–वार आंखों पर आते थे। इससे वह पैरों को साफ नहीं देख सकती थी। केशों को दूर हटाने के लिए सिर हिलाया। सेठजी उसके प्रयोजन को ताड गये, उन्होंने सरल भाव से उसके केशों को अपने हाथों से थाम लिया। भगवान महावीर का आदर्श जीवन; श्री चौथमलजी म. सा.; पृ. 319

18. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 319

(ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 295

(ग) त्रिषष्टि श्लाका पु. चा.; वही; पृ. 99

(घ) श्री चौथमलजी म. सा. ने भगवान महावीर का आदर्श जीवन में लिखा है कि चंदना के दिखाई न देने पर अनशन व्रत ग्रहण कर लिया तव पड़ौसिन ने आकर सेठ से सव वृत्तान्त कहा। भगवान महावीर का आदर्श जीवन; श्री चौथमलजी म. सा.; पृ. 320–21

19. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 319

(ख) आवश्यक मलयगिरि; पृ. 295

(ग) त्रिषष्टि श्लाका पु. चा.; वही; पृ. 99

(घ) श्री चौथमलजी म. सा. के अनुसार स्वयं सेठ ने नहीं जवकि दासी ने उडद के वाकुले सेठ के कहने से लाकर दिये। देखिए भगवान महावीर का आदर्श जीवन, श्री चौथमलजी म. सा.; पृ 321

20. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास, पृ. 319

(ख) त्रिषष्टि श्लाका पु. चा.; वही, पृ. 99–100

(ग) चेटक महावीर के मामा थे। मृगावती श्रमण महावीर की वहिन थी। देखिये – तीर्थंकर महावीर; श्री मधुकरमुनि, प्रका. सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, सन् 1974, प्र. सं., पृ. 113

21. आवश्यक चूर्णि, जिनदास, पृ. 319–20

22. त्रिषष्टि श्लाका पु. चा.; वही, पृ. 101

23. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 321
(ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 297
24. प्रभु ए पंण तेने भव्य जाणी ने प्रतिबोध कर्यो। – त्रिषष्टि शलाका पु. चा.; वही; पृ. 102
25. त्रिषष्टि शलाका पु. चा.; वही; पृ. 102
26. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 322
(ख) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 297–98
(ग) चउप्पन महापुरिस चरियं; पृ. 298–99
27. (क) त्रिषष्टि शलाका पु. चा.; वही; पृ. 103
(ख) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 322
28. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 322
(ख) त्रिषष्टि शलाका, पु. चा.; वही; पृ. 104
29. (क) विशेषावश्यक भाष्य; 1961–68
(ख) आवश्यक हारिभद्रीय; पृ. 227–28
(ग) आवश्यक चूर्णि, मलयगिरि; पृ. 298–99
(घ) महावीर चरियं; गुणचन्द्र; 7/250
(ङ) त्रिषष्टि शलाका पु. चा.; वही; पृ. 103–4
30. भगवान महावीर एक अनुशीलन; देवेन्द्र मुनि; वही; पृ. 370
31. छट्ठेण एगया भुज्जे अदुवा अट्ठमेण दसमेण।
दुवालसमेण एगया भुंजे पेहमाणे समाहिअपडिन्ने।
आचारांग/1/9/4/7
32. (क) आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 324
(ख) होमियो महावीर; नेमीचन्दपुगलिया; एजूकेशनल प्रेस, फड़ बाजार, बीकानेर; सं. 2031; पृ. 8
33. त्रिषष्टि शलाका पु. चा.; वही; पृ. 105
34. (क) स्थानांग; 10
(ख) प्रवचन सारोद्धार सटीक; उत्तर भाग
(ग) महावीर चरियं में आचार्य गुणचन्द्र ने प्रथम परिषद् को अभावित परिपद् मानते हुए भी उस परिषद् में मानव की उपस्थिति मानी है। देखिए– महावीर चरियं 7; गात्र 4, 4; पृ. 251
35. त्रिपष्टि शलाका पु. चा.; वही; पृ. 105
36. आवश्यक चूर्णि; जिनदास; पृ. 324